भारतीय ज्ञान परम्परा में प्रमाण-पत्र

(Certificate Course in Indian Knowledge System)

कला एवं संस्कृति CCIKS-104

Indian Art and Culture

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी-263139

Toll Free : 1800 180 4025
Operator : 05946-286000
Admissions : 05946-286002
Book Distribution Unit : 05946-286001
Exam Section : 05946-286022
Fax : 05946-264232
Website : http://uou.ac.in

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति **CCIKS- 104**

कुलपति (अध्यक्ष)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
प्रोफेसर ब्रजेश कुमार पाण्डेय,
संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन केंद्र,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
प्रोफेसर जे. के. गोदियाल,
पूर्व विभागाध्यक्ष, संस्कृतविभाग,
हे.न.ग.विश्वविद्यालय श्रीनगर।
डॉ0 देवेश कुमार मिश्र,
एसो0 प्रोफे0, इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय मुक्त
विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

प्रोफेसर रेनू प्रकाश (संयोजक)
निदेशक, मानविकी विद्याशाखा
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
डॉ0 नीरज कुमार जोशी,
असि0 प्रोफे0-ए.सी.संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
श्री राहुल पन्त,
असि0 प्रोफे0-ए.सी.संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
डॉ0 सुधीर प्रसाद नौटीयाल,
असि0 प्रोफे0-ए.सी.संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम समन्वयक एवं सम्पादन

डॉ0 नीरज कुमार जोशी
असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन	खण्ड	इकाई संख्या
श्री राहुल पन्त,	**खण्ड 1**	(इकाई 1 एवं 3)
असि. प्रोफे-ए.सी., संस्कृत विभाग,	**खण्ड 2**	(इकाई 1)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	**खण्ड 3**	(इकाई 2)
डॉ0 नीरज कुमार जोशी,	**खण्ड 1**	(इकाई 2)
असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग	**खण्ड 2**	(इकाई 2)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	**खण्ड 3**	(इकाई 1)
	खण्ड 4	(इकाई 1)
डॉ0 कान्ता प्रसाद,	**खण्ड 2**	(इकाई 3)
असि. प्रोफे-ए.सी. संस्कृत विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी		
डॉ. जगमोहन परगाई,	**खण्ड 3**	(इकाई 3)
असिस्टेंट प्रोफेसर, ए.सी., संगीत विभाग , उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी		
डॉ. द्विजेश उपाध्याय,	**खण्ड 3**	(इकाई 4)
असिस्टेंट प्रोफेसर, ए.सी., संगीत विभाग , उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी		
डॉ. त्रिपुरेश कुमार त्रिपाठी,	**खण्ड 5**	(इकाई 2,3, 4)
सहायक आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग,		

नेशनल पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज बड़हलगंज, गोरखपुर

आवरण पृष्ठ

डॉ0 नीरज कुमार जोशी, असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

प्रकाशक: (उ0 मु0 वि0, हल्द्वानी) -263139

कॉपीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

पुस्तक का शीर्षक- कला एवं संस्कृति CCIKS- 104

प्रकाशन वर्ष : 2025

ISBN No.

मुद्रक:

नोट:- इस पुस्तक में लिखित इकाइयों से सम्बन्धित किसी भी प्रकार की आपत्ति के निस्तारण का उत्तरदायित्व इकाई लेखक का होगा । इस सामाग्री का उपयोग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित प्रशासनिक अनुमति के बिना अन्यत्र कहीं नहीं किया जा सकता।

अनुक्रम

खण्ड- एक (Section-A) प्रमाण सिद्धान्त	**पृष्ठ संख्या 01-04**
इकाई-1 कला का अर्थ एवं स्वरूप	05-22
इकाई-2 चौसठ कलाएँ (स्वतंत्र एवं उपयोगनी कला)	23-43
इकाई-3 कला का वैशिष्टय	44-56
खण्ड- दो (Section-B) शिल्प एवं वास्तुकला	**पृष्ठ संख्या 57**
इकाई-1 चित्र एवं मूर्तिकला	58-73
इकाई-2 मूर्ति में प्राणप्रतिष्ठा का विज्ञान, ईश्वरत्व एवं उपासना	
इकाई-3 वास्तु कला	74-105
खण्ड- तीन (Section-C) नृत्य एवं संगीत	**पृष्ठ संख्या 106**
इकाई-1 अभिनय का स्वरूप एवं भेद	107-123
इकाई-2 शास्त्रीय एवं लोकनृत्य का स्वरूप	124-140
इकाई-3 भारतीय संगीत की प्रमुख लिपि एवं शैलियाँ	141-157
इकाई-4 संगीत के धारक तत्व 158-170	
खण्ड-चार (Section-D) संस्कृति के तत्व	**पृष्ठ संख्या 171**
इकाई-1 भारतीय संस्कृति	172-196
इकाई-2 कर्म की अवधारणा	197-214
इकाई-3 धर्म और रिलीजन में अन्तर	215-231
इकाई-4 धर्मशास्त्र में कर्तव्य की अवधारणा	232-248

खण्ड- एक (Section-A)
कला की अवधारण

इकाई 1 कला का अर्थ एवं स्वरूप

इकाई की संरचना

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 कला का अर्थ एवं महत्व
1.3.1 कला का अर्थ
1.3.2 कला का महत्व
1.4 कला का स्वरूप
1.4.1 चित्रकला का परिचय
1.4.2 चित्रकला के छः अंग
1.4.3 मूर्तिकला का परिचय
1.4.4 वास्तुकला का परिचय
1.4.5 संगीत एवं नृत्य कला का परिचय
1.5 सारांश
1.6 पारिभाषिक शब्दावली
1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.8 संदर्भ ग्रंथ सूची
1.9 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों !

भारत की कला एवं संस्कृति अत्याधिक प्राचीन हैं। यह देश अनेक कलाओं का देश है। कला शब्द का प्रयोग प्रथम-प्रथम ऋग्वेद में हुआ है- "यथा कलां यथा शफम् यथा ऋणं संनयामसि।" यजुर्वेद के 30 वें अध्याय में 64 कलाओं का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है, जिसे वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में वर्णित किया है। कला शब्द का प्रयोग आचार्य भरतमुनि ने अपने ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में प्रथम शताब्दी में किया है- "न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न साविद्या न सा कला।" अर्थात्- ऐसा कोई ज्ञान नहीं, जिसमें कोई शिल्प नहीं, कोई विद्या नहीं, जो कला न हो। आचार्यों ने तो यहाँ तक लिखा है कि "साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः।" इस पद्यांश से आप समझ सकते हैं कि कला का कितना महत्व है। कला को पश्चिम में (Fine Arts) के नाम से जाना जाता है। और हम लोग ललित कला कहते हैं। ललित कला के अंतर्गत चित्र-निर्माण, मूर्तिनिर्माण और गृह-निर्माण तथा साहित्य और संगीत का समावेश है। गृह-निर्माण के वस्तुतः दो भाग हैं। एक का संबंध सौन्दर्य से है और दूसरे का उपयोगिता से है। प्रस्तुत इकाई में आप कला का अर्थ, कला का महत्व एवं कला का स्वरूप आदि का भली-भाँति अध्ययन करेंगे।

1.2 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों ! इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- कला के अर्थ को जानेंगे।
- कला के महत्व के बारे में जानेंगे।
- कला के स्वरूप के बारे में जानेंगे।
- चित्रकला एवं मूर्ति कला के बारे जानेंगे।
- वास्तुकलाके बारे में जानेंगे।
- संगीत एवं नृत्य कला के बारे में जानेंगे।
- सृजनात्मक क्षमता का विकास होगा।
- कला के प्रति रुचि उत्पन्न होगी।

1.3 कला का अर्थ एवं महत्व

कला मानव जीवन का अभिन्न अंग है। भारत की कला एवं संस्कृति अत्याधिक प्राचीन हैं। यह देश अनेक कलाओं का देश है। यहाँ की ललित कलाओं ने अपना अस्तित्व उच्च स्थान पर प्राप्त किया है। कलाकार अमूर्त को अपनी कला के माध्यम से मूर्त रूप प्रदान करता है। निराकार को आकार प्रदान करता है। कला कोई भी हो मानव अभिव्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण साधन मानी जाती हैं। देखा जाए तो मानव अभिव्यक्ति के लिए नृत्य कला, काव्यकला, चित्रकला, वास्तुकलाएवं मूर्तिकला सार्थक सिद्ध हुई हैं। यहकलाएँ ज्ञानेन्द्रियों को आनंद का अनुभव कराती हैं।

1.3.1 कला का अर्थ

प्राचीन भारतीय साहित्य में कला के लिए 'शिल्प' और कलाकार के लिए 'शिल्पी' शब्द का ही अधिक प्रयोग होता था। 'कला' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, षडविंश ब्राह्मण, सांख्यान ब्राह्मण तथा अथर्वेद में हुआ तो अवश्य है परन्तु इसका प्रयोग कार्य-कौशल, हुनर या शिल्प आदि के अर्थ में नहीं है। प्राचीन साहित्य 'शिवस्वरूपविमर्शिनी' मे इसका प्रयोग ललित कला के अर्थ में हुआ है। क्षेमराज लिखते हैं –

'कलयति स्वरूपमावेशयति वस्तुनि वा
तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव कला।'

अर्थात्- नव स्वरूपसंवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को, आत्मा को परिमित करती है – इसी क्रम का नाम 'कला' है। "मनुष्य के द्वारा की गयी वह रचना जो उसके जीवन में आनन्द प्रदान करती है, **"कला"**कहलाती है।"कला शब्द का प्रयोग प्रथम-प्रथम ऋग्वेद में हुआ है- **"यथा कलां यथा शफम् यथा ऋणं संनयामसि।"** कला शब्द का प्रयोग आचार्य भरतमुनि ने अपने ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में प्रथम शताब्दी में किया है- **"न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न साविद्या न सा कला।"** अर्थात्- ऐसा कोई ज्ञान नहीं, जिसमें कोई शिल्प नहीं, कोई विद्या नहीं, जो कला न हो। आचार्य भरतमुनि के प्रयुक्त 'कला' शब्द यहाँ ललित कला के निकट है और 'शिल्प' शब्द शायद उपयोगी कला के लिए प्रयुक्त है। आम बोल चाल की भाषा में कला उन सारी जानकारियों या क्रियाओं को कहते हैं। जिसमें थोड़ी सी भी चतुराई की आवश्यकता होती है। कला संस्कृत भाषा से सम्बन्धित शब्द है। कतिपय विद्वान इसकी व्युत्पत्ति 'कं' धातु से मानते हैं। "**कं सुखम् लाति इति कलम्, कं आनन्दं लाति इति कला।"**इससे कला का यह सिद्धांत स्पष्ट होता है कि कलाकृति इंद्रिय सुख का साधन है। इस प्रकार से कला के विभिन्न अर्थ माने जा सकते हैं। सुन्दर, मधुर, कोमल, सुख देने वाला एवं शिल्प, हुनर अथवा कौशल। कला के सम्बन्ध में पाश्चात्य दृष्टिकोण भी कुछ इसी प्रकार का है। अंग्रेजी भाषा में कला को 'आर्ट' कहा गया है। फ्रेंच में 'आर्ट' और लैटिन में 'आर्टम' और 'आर्स' से कला को व्यक्त किया गया है। इनके अर्थ वे ही हैं, जो संस्कृत भाषा में मूल धातु 'अर्' के हैं। 'अर्' का अर्थ है – बनाना, पैदा करना या रचना करना। यह शरीर या मानसिक कौशल 'आर्ट' माना गया है। इन अर्थों के अंतर्गत कुछ सुखद, सुंदर एवं मधुर सृजन हैं। कला शिल्प कौशल की प्रक्रिया है। अतः कला का अर्थ है "शिल्प कौशल की परिक्रिया से युक्त सुंदर व सुखद सृजन रूप"। मोनियर विलियम ने अपने प्रसिद्ध संस्कृत कोश में 'कला' की व्युत्पत्ति को संदिग्ध मानते हुए 'कल्' का अर्थ- करना या रचना, सम्पन्न करना (टु डू मेक एकम्प्लिश) दिया है। यह अर्थ अधिक सरल और स्पष्ट है। कला शब्द का अन्य अर्थ- कलाति अर्थात् आनन्द देने वाला भी होता है। कतिपय प्रसंगों में 'कला' शब्द का अर्थ 'कलाकृति' भी होता है। इस अर्थ में इस शब्द का निर्माण 'कल्' धातु से भाव-प्रक्रिया के अनुसार **'कल्यते अस्याम्'** होता है। इस प्रकार 'कला' शब्द का अर्थ एक ऐसी कृति होती है, जो उस मानवीय क्रिया से उत्पन्न होती है। जिसके विशेष गुण ध्यान पूर्ण दृष्टि, संकलन एवं स्पष्ट प्रकटन हैं। कला का अर्थ है वह मानवीय क्रिया है जिसका विशेष लक्षण 'ध्यान दृष्टि से देखना' गणना अथवा संकलन करना, मनन और चिंतन करना एवं स्पष्ट रूप से प्रकट करना है।

1.3.2 कला का महत्व

"साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः।" इस पद्यांश से समझा जा सकता है कि जीवन में कला का कितना महत्व है। कला मानव जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। इसके अभाव में जीवन नितान्त रस रहित प्रतीत होगा। वाचस्पति गैरोला जी लिखते हैं कि "कलाकल्याण की जननीहै।" विश्व में मनुष्य की उदयवेला का इतिहास कला के ही हाथों से लिखा गया है। विश्वात्मा की सर्जना शक्ति होने के कारण सृष्टि के समस्त पदार्थों में उसी का आधान है। वह अनन्त रुपा है और उसके इन रूपों की निष्पत्ति ही कलाकार (परमेश्वर) हैं। जीतने भी तत्वविद्, साहित्यस्रष्टा और कला सेवी हुए, उन सब ने भिन्न-भिन्न मार्गों से उसी एकमेव लक्ष्य का अनुसंधान किया है।कला में **'सत्यं शिवं और सुंदरम्'** की महती भावना ओतः प्रोत है। उसके आधार सत्यमय, परिणाम शिवमय और स्वरूप सौन्दर्यमय है। क्योंकि उसका निर्माण दीर्घकालीन साधना और गंभीर अध्ययन के बाद हुआ है। अतः उसमें एक-एक संकेत की जानकारी प्राप्त करने के लिये चित्रकला की तकनीकों से परिचित होना आवश्यक है। भारत की सभ्यता अत्यधिक प्राचीन है। यहाँ की कला एवं संस्कृति ने अनेक शताब्दियों में प्राच्य सभ्यता की एकता को स्थापित किया है। यहाँ अध्यात्म, धर्म, कल्पना और कला को सामाजिक समन्वय के घटकों के रूप में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। यही करण है कि इस उप-महाद्वीप पर होने वाले धर्मिक सुधार एवं पुनर्जागरण भारत की सीमाओं से बाहर प्रसरित हुए जिसका प्रमुख वाहक चित्रकला रहा है। बैट्रियानना से कंबोडिया और जापान से जावा तक समस्त एशिया महाद्वीप पर भारतीय कला और दर्शन की क्रमिक धाराओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित किया जा सकता है। भारतीय कला की जीवन्तता और मानव मूल्यों को उत्प्रेरित करने वाले स्वरूप ने इसे सार्वभौमिक एवं सर्वजनीन बनाया है। बृहद भारत के आचार-विचारों, अनुसंधान-अन्वेषणों और आध्यात्मिक, आधिभौतिक आदि सभी प्रकार के कार्य क्षेत्रों में कला का एक जैसा सम्मान्य स्थान है। विद्वानों का कथन है कि- "कला की कृतियों में कलाकार की अनुभूति की सहानुभूतिमय अभिव्यक्ति रहती है।"कलाकारों ने अपनी कृतियों का निर्माण अपने मन की प्रेरणा से किया है। उनकी कलाकृतियों में तन्मयता के भाव, आत्मविस्मृति और आत्मसमर्पण की उच्च भावना समाविष्ट रहती हैं।अपनी साधना के बल पर उन्होंने निराकार को साकार, अपार्थिव को पार्थिव और अज्ञेय को ज्ञेय रूप में बाँध देने की निपुणता प्राप्त की है।मूर्तिकला, वास्तुकला अथवा चित्रकला इन तीनों के लिए स्थूल आधारों की अनिवार्यरूप से आवश्यकता होती है। नृत्य एवं अभिनय की भी यही बात है। केवल संगीत ही ऐसी विधा या कला है जिसके लिये मात्र स्वर की आवश्यकता होती है। इसलिए संगीत की उत्कृष्टता स्वतः सिद्ध हो जाती है। संगीत ही वह भाग्यशालिनी कला-विधा है जिसे किसी स्थूल, पार्थिव साधन अथवा माध्यम की आवश्यकता नहीं होती। इसीलिये शापेनहावर ने संगीत को सबसे अधिक महत्व दिया है। शापेनहावर के अनुसार संगीत ही वह कला है, जो बिना किसी पार्थिव स्थूल माध्यम के कलाकार की भावना को, उसकी अभिव्यक्ति को दूसरे व्यक्ति तक,जन समाज तक पहुँचा सकती है। यह सुविधा किसी भी अन्य कला को प्राप्त नहीं है। वास्तुकला विशारद स्वनिर्मित भवनों-प्रसादों के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करता है। मूर्तिकला विशारद उत्कृष्टतम मूर्तियों का निर्माण करता है। अपनी कला में नैपुण्य प्राप्त कर वह ऐसी रचना कर लेता है कि वह स्वयं स्रष्टा होने का दावा करने लगता है। परंतु अपने को अभिव्यक्त करने के लिए उस मूर्ति का आधार लेना पड़ता है। चित्रकार भी स्थूल वस्तुओं, वर्णों एवं वर्णतूलिका के सहारे ऐसे चित्र बनाता है जिन्हें हम देख सकते हैं, जिन्हें कुछ समय के लिये अपने पास रख भी सकते हैं।

चित्रकार अपने को अपने चित्र के माध्यम से ही अभिव्यक्त करता है। परंतु संगीत अपने स्वरों के माध्यम से ही अपने को अभिव्यक्त करता है। यही विशिष्टता उसे अन्य कालाओं से अलग और उत्कृष्ट सिद्ध कर देती है ।अन्य कलाओं के समर्थन और पक्ष में अनेक अकाट्य और पुष्ट तर्क उपस्थित किये जा सकते हैं। रूप, गुण आदि की दृष्टि से विभिन्न कलाओं में चाहे जितना भेद और अन्तर हो, प्रत्येक कला का उद्देश एक ही है आनन्द की सृष्टि। आनन्द की इसी सृष्टि के लिए कलाकार अपनी कला के सहारे भाव रूपों अथवा स्थल रूपों को निर्मित करता है।

अभ्यास प्रश्न 1

(1) निम्नलिखित प्रश्नों के उचित विकल्प का चयन कीजिये।

1.साहित्य, संगीत और कला से विहीन को क्या कहा गया है ?

(क) देव

(ख) मानव

(ग) पशु

(घ) इनमे से कोई नहीं

2."न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न साविद्या न सा कला।" यह कथन है।

(क) व्यास ऋषि का

(ख) आचार्य चाणक्य का

(ग) ऋग्वेद का

(घ) आचार्य भरत का

3."यथा कलां यथा शफम् यथा ऋणं संनयामसि।"यह उक्ति वर्णित है।

(क) नाट्यशास्त्र में

(ख) ऋग्वेद में

(ग) सामवेद में

(घ) स्कन्ध पुराण में

4.प्राचीन भारतीय साहित्य में कला के लिए प्रयुक्त शब्द था।

(क) शिल्प

(ख) शिल्पी

(ग) कला

(घ) शिव

5.कला का उद्देश है।

(क) रोजगार

(ख) भौतिक सुख

(ग) आनन्द की सृष्टि

(घ) केवल सजावट करना

(2) रिक्तस्थानों की पूर्ति कीजिये।

1.आनन्द की इसी सृष्टि के लिए कलाकार अपनी कला के सहारे भाव रूपों अथवा स्थल रूपों को---------- करता है।

2.कं आनन्दं लाति इति----------।

3. ----------के अनुसार संगीत ही वह कला है जो बिना किसी पार्थिव स्थूल माध्यम के कलाकार की भावना को, उसकी अभिव्यक्ति को दूसरे व्यक्ति तक,जन समाज तक पहुँचा सकती है।

4.आचार्य भरतमुनि के प्रयुक्त 'कला' शब्द----------के निकट है

5.कला के विषय में कहा गया है कि आधार सत्यमय, परिणाम शिवमय और स्वरूप-------- है।

(3) सही गलत का चयन कीजिये।

1.भारत की सभ्यता अत्यधिक प्राचीन है। यहाँ की कला एवं संस्कृति ने अनेक शताब्दियों में प्राच्य सभ्यता की एकताको स्थापित किया है। ( )

2."यथा कलां यथा शफम् यथा ऋणं संनयामसि" यह कथन आचार्य भरत का है। ( )

3.वास्तुकला विशारद स्वनिर्मित भवनों-प्रसादों के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करता है।( )

4.कला में 'सत्यं शिवं और सुंदरम्' की महती भावना ओतः प्रोत है। ( )

5.नव स्वरूपसंवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को, आत्मा को परिमित करती है – इसी क्रम का नाम कला है।( )

1.4 कला का स्वरूप

संस्कृत साहित्य में विविध कलाओं का उल्लेख आरम्भ से ही मिलता है। वेदों में काव्य के अतरिक्त संगीत (गीत-वाद्य-नृत्य) चित्र, शिल्प, वास्तु आदि प्रमुख कलाओं के अतिरिक्त अनेक उपयोगी कलाओं का भी उल्लेख है । कला शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग 'ऋग्वेद' में मिलता है- **"यथा कलां यथा शफम् यथा ऋणं संनयामसि।"**

आध्यात्मिक दृष्टि से कला का स्वरूप विराट रूप में प्रतिष्ठित है। कला एक कृति है। कलाकार की अभिव्यक्ति। यह सम्पूर्ण सृष्टि एक कृति है। एक अभिव्यक्ति है। जिसकी रचना, जिसका अभिव्यजन परम सत्तामय परमेश्वर द्वारा हुआ है। उस अनादि सत्तामय कलाकर ने शनै-शनै स्वयं की विराट कलाकृतियों का निर्माण किया। **"हिरण्यगर्भः समवर्त्ततात्रे"** (ऋग्वेद) यह सम्पूर्ण विश्व पहले उसी ब्रह्म में अन्तर्धान था। उसी की चेष्टा से इस सृष्टि का निर्माण हुआ। (ऐतरेय उपनिषद्) परमात्मा का निवास मूर्त एवं अमूर्त दोनों में है। अमूर्त ब्रह्म के मूर्त की अनुभूति ही यह सृष्टि है। (बृहदारण्यक) यही उसकी अनुपम कलाकृति है। उपनिषदों में भी 'कला' शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है, जैसे-प्राचीदिक कला, दक्षिणादिक कला आदि। वैदिक ग्रंथों में कला का प्रचूर प्रयोग दिखायी पड़ता है। वैदिक युग में कलाकार समाज का सम्मानित सदस्य बन चुका था। ऋभुओं को उनकी रचना- कौशल के कारण देवत्व की प्रतिष्ठा प्रदान की गयी थी। उस समय काम (सम्पूर्ण प्रणय लीला) को प्रबुद्ध करने के लिए कला का प्रयोग होता था। किन्तु प्रस्तुत संदर्भ में 'कला' शब्द का प्रयोग बहुत बाद में हुआ जिसमे कला का अर्थ 'संस्कृति' के रूप में लिया गया है। साधारण बोल-चाल में 'कला' शब्द का व्यवहार किया जाता है। पश्चिम में उसे (Fine Arts) के नाम से जाना जाता है। और हम लोग ललित कला कहते हैं ललित कला के अंतर्गत चित्र-निर्माण, मूर्तिनिर्माण और गृह-निर्माण तथा साहित्य और संगीत का समावेश है।गृह-निर्माण के वस्तुतः दो भाग हैं। एक का संबंध सौन्दर्य से है और दूसरे का उपयोगिता से है।दर्शन और धर्म की सतह पर कला के स्वरूप पर विचार करने वाले विद्वानों ने कला को महामाया का चिन्मय विलास कहा है। वह भगवान माहशिव की शक्ति हैं, जिससे समस्त चराचर की सृष्टि हुई है। शैव दर्शन ने कला के आध्यात्मिक महत्व को व्यापक पैमाने पर

स्वीकार किया है । वहाँ महामाया के पाँच कंचुक गिनाये गये हैं । काल, नियति, राग, विद्या, और कला । शिव के लिए यह रूपशक्ति प्रेरणा का कार्य करती है । जिससे शंकर लीलाभूमि आनन्दातिरेक की अवस्था में अवतरित होकर सृष्टि-रचना के लिए प्रयुक्त होते हैं । **"लीलातास्तवराजस्तोत्र"** में इसी उद्देश्य को लक्ष्य करके कहा गया है कि शिव को जब लीला के प्रयोजन की अनुभूति होती है तब महाशक्तिरुपा महामाया से प्रेरित होकर वह जगत की सृष्टि करते हैं। इसलिए शिव की लीलासहचरी होने के कारण महामाया को "ललिता" कहा गया है। इसी महामाया, शक्तिरूपा ललिता द्वारा समस्त ललित कलाओं की उत्पत्ति हुई ।यजुर्वेद के 30 वें अध्याय में 64 कलाओं का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है, जिसे वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में वर्णित किया है। वह 64 कलायें इस प्रकार से है –

1. गीतम् (संगीत) **2. वाद्यम्** (वाद्य-वादन) **3. नृत्यम्** (नाच) **4. आलेख्यम्** (चित्रकला) **5. विशेषकच्छेद्यम्**(पत्तियों को काट-छाँटकर विभिन्न आकृतियाँ बनाना या तिलक लगाने के लिए विशेष प्रकार से साँचे बनाना) **6. तण्डुलकुसुमावलिविकारा** (देवपूजन के समय विभिन्न प्रकार के जौ-चावल तथा पुष्पों को सजाना। **7. पुष्पास्तरणम्**(कक्षों तथा भवनों के उपस्थानों को पुष्पों से सजाना) **8. दशनवसनांगराग**:(दांत, वस्त्र और शरीर के दूसरे अंगों को रंगना) **9. मणिभूमिका कर्म**(घर के फर्श को मणि – मोतियों से जटित करना) **10. शयनरचनम्** (शैय्या को सजाना) **11.उदकवाद्यम्** (पानी में ढोलक की सी आवाज निकालना) **12. उदकघात**:(पानी की चोट मारना या पिचकारी छोड़ना) **13. चित्राश्वयोगा**: (शत्रु को विनष्ट करने के लिए तरह-तरह के योगों का प्रयोग करना) **14. माल्यग्रन्थनविकल्पा**: (पहनने तथा चढ़ाने के लिए फूलों की मालाएँ बनाना) **15. शेखरकापीडयोजनम्** (शेखरक तथा आपीड जेवरों को उचित स्थान पर धारण करना) **16. नेपथ्यप्रयोग**:(अपने शरीर को अलंकारों और पुष्पों से भूषित करना) **17. कर्णपत्रभंगा** (शंख, हाथी के दांत आदि के कर्ण आभूषण बनाना) **18. गन्धयुक्ति**:(मुगधित धूप बनाना) **19. भूषणयोजनम्**(भूषण तथा अलंकार पहनने की कला) **20. ऐन्द्रजालयोग**:(जादू का खेल दिखाकर दृष्टि को बाँधना) **21. कौचुमारयोग**: (बल-वीर्य बढ़ाने की औषधियाँ बनाना) **22. हस्तलाघवम्** (हाथ की सफाई दिखाना) **23. विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया** (अनेक प्रकार के भोजन, जैसे शाक, रस, मिष्ठान आदि बनाने की निपुणता) **24. पानकरसरागासवयोजनम्** (नाना प्रकार के पेय शर्बत बनाना) **25. सूचीवानकर्याणि**(सुई के कार्य में निपुणता) **26. सूत्रक्रीडा** (सूत में करतब दिखाना) **27. वीणाडमरुकवाद्यानि**(वीणा और डमरू आदि वाद्यों को बजाना) **28. प्रहेलिका**(पहेलियों में निपुणता) **29. प्रतिमाला**(दोहा-श्लोक पढ़ने की रोचक रीति) **30. दुर्वाचकयोग** (कठिन अर्थ और जटिल उच्चारण वाले वाक्यों को पढ़ना) **31. पुस्तकवाचनम्** (सुंदर स्वर में ग्रंथ पाठ करना) **32. नाटकाख्यायिकादर्शनम्** (नाटकों तथा उपन्यासों में निपुणता) **33. काव्यसमस्यापूरणम्**(समस्यापूर्ति करना) **34. पट्टिकावेत्रवामविकल्पानि** (छोटे उद्योगों में निपुणता)**35. तक्षकर्मणि**(लकड़ी, धातु आदि की चीजों को बनाना) **36. तक्षणम्**(बढ़ई के कार्य में निपुणता) **37. वास्तुविद्या** (गृहनिर्माण कला) **38. रुप्यरत्नपरीक्षा** (सिक्कों कथा रत्नों की परीक्षा) **39. धातवाव** (धातुओं को गिलाने तथा शुद्ध करने की कला) **40. मानिरागाकारज्ञानम्** (मणि तथा स्फटिक कांच आदि के रगने की क्रिया का ज्ञान) **41. वृक्षायुर्वेदयोग** (वृक्ष तथा कृषि विद्या) **42. मेष-कुक्कुट-लावक-युद्ध विधि** (मेंढे, मुर्गे, तीतरों की लड़ाई परखने की कला) **43. शुक-सारिका-प्रलापनम्** (शुक-सारिका को सिखाना

तथा उनके द्वारा संदेश भेजना) **44. उत्सादने संवादने केशमर्दने च कौशलम्** (हाथ-पैर से शरीर दबाना, केशों को मलना, उनका मैल दूर करना और उनमे तैलादि सुगंधित चीजें मलना) **45. अक्षर मुष्टिका-कथनम्** (अक्षरों को सम्बद्ध करना और उनसे कीसी संकेत-अर्थ को निकालना)**46. म्लेच्छितविकल्पा** (ऐसे संकेत से लिखना, जिसे उस संकेत को जानने वाला ही समझे) **47. देशभाषा विज्ञानम्** (विभिन्न देशों की भाषाओं का ज्ञान)**48. निमित्तज्ञानाम्** (शुभाशुभ शकुनों का ज्ञान) **49. पुष्पशटिका** (पुष्पों की गाड़ी बनाना) **50. यंत्रमातृका** (विविध यंत्र आदि बनने एवं चलाने की कला) **51. धारणमातृका** (स्मृति को तीव्र बनाने की कला) **52. संपाठ्यम्** (स्मृति तथा ध्यान सम्बन्धी कला) **53. मानसी** (मन से श्लोकों एवं पदों की पूर्ति करना) **54. काव्य क्रिया** (काव्य करना) **55. अभिधान-कोश-छंदोपज्ञानम्** (कांश और छंद का ज्ञान) **56. (क्रियाकल्प) काव्यालंकारज्ञानम्** (काव्य और अलंकार का ज्ञान) **57. छलितकयोग** (रूप और बोली छिपाने की कला) **58. वस्त्रगोपनानि** (शरीर के गुप्त अंगों को कपड़े से छिपाना) **59. द्यूतविशेष** (विशेष प्रकार का जुआ) **60. आकर्षक्रीडा**(पासा का खेल खेलना) **61. बालक्रीडनकानि** (बच्चों का खेल) **62. वैनयिकीनाम्** (अपने-पराये के साथ विनयपूर्वक शिष्टाचार दर्शित करना) **63. वैजयिकीनाम्** (शास्त्र विद्या अर्थात विजय प्राप्त करने की विद्या) **64. व्यायामिकीनां च विद्यानां ज्ञानम्** (व्यायाम, शिकार आदि की विद्याएँ)

पूर्वशास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपसृत्य च।
कामसूत्रमिदं यत्नात् संक्षेपेण निवेशितम्।।

अर्थात्- अपने पूर्ववर्ती शास्त्रों का संग्रह कर और शस्त्रों में वर्णित विद्याओं के प्रयोग का अनुसरण करके उन विद्याओं का किस प्रकार प्रयोग हो रहा है तथा बड़े यत्न से उनका संक्षेप करके मैंने इस काम सूत्र की रचना की। वातस्यायन के इस कथन से यह समझा जा सकता है कि चौंसठ कलाओं में वर्णित आलेख्यम् (चित्रकला) का प्रचलन बहुत पहले से था। और उसके कला नियम भी निर्धारित रहे होंगे। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अंतर्गत तृतीय खण्ड में एक सौ अठारह अध्यायों का एक प्रकरण है, जिसे 'चित्रसूत्र' यह सामान्य नाम दिया है। उसके अंतर्गत देव-प्रतिमाओं का भी विस्तार से वर्णन हैं। कलाओं में चित्रकला को उत्तम माना गया है और चित्रकला की साधना से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों की प्राप्ति हो सकती है।

कलानां प्रवरं चित्रं, धर्मकामार्थमोक्षम्।
मागल्यं प्रथमं ह्येतद्, गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्।। (चित्रसूत्र 43/38)

1.4.1 चित्रकला का परिचय

अमरकोश में लिखा गया है कि 'चीयते इति चित्रम्' (चित्रम्-चिनौति, चीयते वा। चि + का प्रत्यय) अर्थात् चित्रकार के चयन की स्वाभाविक परिणति करने वाली अकृत्रिम षडंग-माला ही चित्र है। स्मृति, भावना, आनन्द आदि को मूर्त रूप देना तथा समुचित रंगों के उपयोग एवं छाया-प्रकाश आदि के कौशल पूर्ण प्रयोग द्वारा उसमें सजीवता, भावाभिव्यक्ति और सादृश्य का बोध कराया जाना चित्र है। शिल्परत्न में लिखा है – 'चित्र रति यत् चित्रम्' अर्थात जो चित्र आनंदित करता है वही वस्तुतः चित्र है। और यह आनन्द रस से उत्पन्न होता है। उपनिषदों में कहा गया है **'रसो वै सः'** यह आत्मा का संस्कार करता है – '**आत्मानं संस्कुरुते**'यह आत्मा यदि पट, भित्ति अथवा फलक किसी पर भी चित्रित या अधिष्ठित रहता है तब एकमात्र वही चित्र है। आत्मा आत्मीयता के लिए व्याकुल रहती है। चारों ओर के वातावरण की आत्मीयता

में अपने को प्रकट करने के लिए उसमें (आत्मा में) एक व्याकुलता के उदय होने पर उस चित्रकार की अभिव्यक्ति या रचना ही 'चित्र' है। यही रूप प्रमाण, भाव लावण्य, सादृश्य, और वर्णिका भंग के द्वारा प्रकट होती है।

1.4.2 चित्रकला के छः अंग

भारतीय चित्रकला की परम्परा अति प्राचीन काल से विद्यमान है। जैसे कि अजंता के चित्रों को देखकर इस बात की पुष्टि अधिक हो जाती है कि भारतीय धर्म और समाज में चित्रकला को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। और यदि चित्रकला का शास्त्रीय रूप विद्यमान था तो चित्रकला के नियम एवं विधि-विधान भी रहे होंगे। यशोधर पंडित जी ने कामसूत्र की टीका 'जयमंगला' में चित्रकला की टीका करते हुए लिखा है –

रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्।
सादृश्य वर्णिकाभंग इति चित्रं षडगड्गकम्॥

उपर्युक्त श्लोक में चित्रकला के छः अंगों का वर्णन किया है। रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्ययोजना, सादृश्य और वर्णिकाभंग।

1. रूपभेद- रूप अनन्त हैं। उनके विस्तार की कोई सीमा नहीं है। रूप के अनन्त भेद को कलाकार कैसे पहचानता है, यह उसके ज्ञान पर निर्भर करता है। **'ननु ज्ञानानि भिद्यन्तामाकारस्तु न भिद्यते।'** रूप आकृति कहा जाता है। प्रत्येक मानव आकृति में व समाज एवं देश के अनुसार जो भिन्नता होती है, उनके रहन-सहन, पहनाव या बात-व्यवहार में जो अन्तर होता है सुख-दुख, उल्लास, प्रफुल्लता, दया, ममता, करुणा, आदि मानवीय भावों की सृष्टि से उनके अंग प्रत्यंग में जिन भाव-भंगिमाओं का अभ्युदय होता है इन्हीं सब का ज्ञान ही रूपभेद है। यह भेदाभेद ज्ञान कलाकार को चक्षु द्वारा प्राप्त होता है। दृष्टि के ही माध्यम से किसी छोटी, लम्बी, चौरस, गोल, मोटी, पतली, सफेद, या काली आदि विविध आकार-प्रकार अथवा विभिन्न रंगों की वस्तुओं को ग्रहण करते हैं। परंतु उस वस्तु या आकृति के भीतर जो व्यापक सौन्दर्य, अनन्त अलंकृत और अपरिमित माधुर्य निहित है उसको देखकर नहीं, अनुमान कर, चिंतन कर आत्मा के द्वारा पहचान सकते हैं।

2.प्रमाण- प्रमाण कहा जाता है- मान, कद, कैंड़ा, सीमा, अर्थात् वस्तु के ब्योरे को। प्रमाण चित्रविद्या का वह अंग है जिसके द्वारा चित्रित आकृति का मान (लंबाई-चौडाई) निर्धारित किया जाता है। जिससे उस आकृति या वस्तु में यथार्थता का बोध होने लगता है।

मातुर्मानाभिर्निष्पत्तिनिष्पन्नम् मेयमेति तत्।
मेयाभिसंगतम् तच्च मेयाभत्वम् प्रपद्यते॥

प्रमाण के द्वारा मनुष्य, पशु-पक्षी आदि की भिन्नता और उनके विभिन्न भेदों को ग्रहण कर सकते हैं। पुरुष और स्त्री की लंबाई में क्या अंतर होता है, उनके समस्त अवयवों का समावेश किस क्रम एवं अनुपात में होना चाहिये। अथवा देवताओं और मनुष्यों के चित्रों के कद का क्या मान है ये सभी बातें प्रमाण के द्वारा निर्धारित होती हैं।

3. भाव- मानव अपने मन के भावों के अनुकूल ही सांसारिक अनुभवों को अपनी कृति में अभिव्यक्ति देता है। भाव ही कुछ अन्य स्थितियों के संयोजन से 'रसत्व' को प्राप्त होता है। अतः किसी भी कलात्मक अभिव्यक्ति में भावों का बहुत बड़ा योगदान होता है। भाव कहा जाता है आकृति की भंगिमा को, उसके स्वभाव, मनोभाव एवं उसकी व्यंग्यात्मक प्रक्रिया को।

भारतीय चित्रकला में भावाभिव्यक्ति को बड़ा महत्व दिया गया है । भिन्न-भिन्न भावों की अभिव्यंजना से शरीर में भिन्न-भिन्न विकारों का जन्म होता है । मन में जिस रस का जो भाव पैदा होता उसी के अनुसार शरीर में भी परिवर्तन के लक्षण प्रकट होते हैं । शारीरिक अंगों के परिवर्तन के द्वारा हृदय के भावों को दर्शित करने की प्राचीन चित्रों में अधिकता देखने को मिलती है । चित्रसूत्रकार ने चित्र के लिए नौ रसों का निर्देश किया है-

शृंगारहासकरुणवीररौद्रभयानकाः ।

वीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव चित्ररसाः स्मृताः ।।

अर्थात् – नौ रसों के चित्रण के लिए किस प्रकार के भाव चित्र में दिखाये जायें इसका भी वर्णन किया गया है । अजन्ता के चित्रों में जो भावाभिव्यक्ति दिखायी पड़ती है उससे यह भली-भाँति सिद्ध होता है कि भारतीय चित्रकला भाव प्रधान है ।

4. लावण्य-योजना- लावण्य कहा जाता है कान्ति, दीप्ति अथवा लुनाई को । लावण्य बाह्य सौन्दर्य का व्यंजक है ।

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वभिवान्तरा ।

प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्य मिहोच्यते ।।(उज्ज्वल नीलमणि)

अर्थात् –मोती की रूपराशि निष्प्रभ होती है । यदि उसमे लावण्य की दीप्ति न हो । इसी प्रकार चित्र के रूप, प्रमाण और भाव सभी निष्प्रभ है यदि उनमे लावण्य की दीप्ति न हो ।

रूपभेद, प्रमाण, और भाव का जिस प्रकार चित्र पर एक बंधन होता है ठीक उसी प्रकार लावण्य-योजना का भी होता है ।परंतु वह सुकोमल, सुकुमार तथा सुनिश्चित सौन्दर्य बंधन है जिसके द्वारा चित्र नयनाभिराम एवं मनोहर बन जाता है । भाव द्वारा कभी-कभी चित्र में रुक्षता अअ जाती है जिसे लावण्य ही दूर कर सकता है । वह भाव का अवरोधक न होकर उसकी सुन्दरता एवं कान्ति को देदीप्यमान करता है । लेकिन लावण्य-योजना उचित रूप (मात्रा) में होनी चाहिये ।अत्याधिक लावण्यता भी भाव को नष्ट कर देती है । इसलिए चित्रकार को भली-भाँति सोच-समझकर लावण्य का प्रयोग करना चाहिये ।

5. सादृश्य- सादृश्य का अर्थ है प्रतिरूप, सरूपता अर्थात विचारों एवं आकृति में समानता । चित्र काल्पनिक हो अथवा सत्य उसे ऐसा होना चाहिये कि देखने वाला व्यक्ति तुरन्त पहचान ले । किसी रूप के भाव को किसी दूसरे रूप की सहायता से प्रकट कर देना ही सादृश्य है परन्तु सादृश्य दिखाते समय वस्तु की आकृति की अपेक्षा उसकी प्रकृति या उसके स्वधर्म के पक्ष का सादृश्य दिखाना अधिक उपयुक्त है ।

चित्र चाहे कल्पनाप्रसूत हो या वास्तविक यदि दर्शक उसको पहचानने में भूल नहीं करता या किसी प्रकार की दुविधा में नहीं पड़ता तो वही चित्र शुद्ध कहा जायेगा और यह सादृश्य के द्वारा ही सम्भव है । **"चित्रे सादृश्यकरण प्रधान परिकीर्तितम् ।"** चित्र में सादृश्य दिखाना ही चित्र की सबसे बड़ी विशेषता माना है । यह भी कहा गया है कि **"सश्वास इव यच्चित्रंतच्चित्र शुभ लक्षणम् ।"** अर्थात् चित्र का शुभ लक्षण यही है कि वह सजीव-सा साँस लेता हुआ-सा दिखे ।

6. वर्णिकाभंग- अनेक वर्णों की सम्मिलित भंगिमा को वर्णिकाभंग कहते हैं । किस स्थान पर किस रंग का प्रयोग करना चाहिये । तथा किस रंग के समीप किसका संयोजन होना चाहिये । ये सभी बातें वर्णिकाभंग के माध्यम से ही जानी जा सकती हैं । वैसे तो प्रमुख वर्ण पाँच प्रकार के माने गये हैं परन्तु उनके सम्मिश्रण से सैकड़ों उपवर्णों की सृष्टि होती है । प्रकृति, व्यक्ति, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदि अनन्त प्रकार के चित्रों में रंगों का किस भाँति उचित प्रयोग होना चाहिये,

चित्रकार के लिये यह जानना परमावश्यक है। रूप भेदाभेद को नेत्रों द्वारा समझा जा सकता है। भाव, लावण्य, सादृश्य को देख-समझकर जाना जा सकता है। लेकिन वर्णिकाभंग को तो तूलिका से ही पकड़ना होगा। यदि कलाकार तूलिका नहीं चला सकता तो सदा कागज कोरा ही रह जायेगा। तूलिका को नियंत्रित में लाना और वर्ण की उचित पहचान करना बड़ा जटिल कार्य है। नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि- **"वर्णानाम तु विधिं ज्ञात्वा तथा प्रकृतिमेव च कुर्यादंगस्य रचनाम्।"** अर्थात्- वर्ण की विधि और प्रकृति को समझ करके ही आकृति बनानी चाहिये।

1.4.3 मूर्तिकला का परिचय

मूर्तिकला का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। इसका विकास मानव सभ्यता के साथ ही आरम्भ माना जाता है। यह सर्वदा कलात्मक अभिव्यक्ति का प्रिय माध्यम रही है। देखा जाये तो प्राचीन भवन आदि प्रचुर रूप से मूर्तिकला से अलंकृत हैं। अन्य कलाओं के समान ही मूर्तिकला का भी वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता है। मूर्ति बनाने में आरंभ से ही मनुष्य के मुख्यतः दो उद्देश्य रहे हैं। एक तो किसी स्मृति को वा अतीत को जीवित बनाए रखना, दूसरा अमूर्त को मूर्त रूप देना, अव्यक्त को व्यक्त करना अर्थात् किसी भाव को आकार प्रदान करना ।भारतीय मूर्तिकला आरम्भ से ही यथार्थ रूप लिए हुए है, जिसमें मानव आकृतियों में प्राय: पतली कमर, लचीले अंगों और एक तरूण और संवेदनापूर्ण रूप को चित्रित किया जाता है। भारतीय मूर्तियों में पेड़-पौधों और जीव जन्तुओं से लेकर असंख्य देवी देवताओं को चित्रित किया गया है ।हड़प्पा के लोगों को मूर्तिकला एवं हस्तकला का ज्ञान एवं कौशल प्राप्त था। दुनिया की पहली तांबे की नृत्यांगना की मूर्ति मोहनजोदाड़ो में ही पाई गई हैं। योग की मुद्रा में एक पुरुष की मूर्ति खुदी हुई चित्रलिपि वाली मोहरें, पहनने वाले सुंदर आभूषण एवं कूबड़ युक्त बैलों की मूर्तियाँ, एक सींग वाले पशुपति आदि की तस्वीरें प्राप्त हुई। मूर्तिकला की कतिपय शैलियाँ कुछ इस प्रकार से हैं- सिन्धुघाटी सभ्यता की मूर्तिकला, मौर्य मूर्तिकला,मौर्योत्तर मूर्तिकला, गान्धार कला की मूर्तियाँ, मथुरा कला की मूर्तियाँ, अमरावती मूर्तिकला, गुप्तकाल की मूर्तिकला, बाकाटक मूर्तिकला,मध्यकाल कीमूर्ति कला, चोल मूर्तिकला, आधुनिक मूर्तिकला इत्यादि। हमारे देश के अधिकांश निवासी मूर्ति पूजक हैं। मूर्ति पूजा के निमित कलाकार ने मूर्ति निर्माण किया। वह ब्रह्म को रस स्वरूप मानता है तथा

"रसों वैः सः" वाक्य से अपने आंतरिक विचार अभिव्यक्ति करता है। रस द्वारा कलाविद उपासकों के मन परमानोवैज्ञानिक प्रभाव डालता है। अतएव सगुणोपासना के लिए मूर्ति की स्थिति परमावश्यक है। मूर्तियाँ सोना, चाँदी, तांबा, काँस, पीतल, अष्टधातु, आदि प्राकृतिक तथा कृत्रिम धातु, पारे के मिश्रम, रत्न, उपरत्न, काँच, कड़े, और मुलायम पत्थर, मसाले, कच्ची वा पक्की मिट्टी, मोम, लाख, गंधक, हाथीदाँत, शंख, सीप, अस्थि, सींग, लकड़ी एवं कागद के कुट आदि उपादानों को उनके स्वभाव के अनुसार गढ़कर, उभारकर खोदकर, पीटकर, हाथ से या औजार से डौलियाकर ठप्पा करके वा सांच छापके अर्थात जो प्रक्रिया जिस उपादान के अनुकूल हो और जिस प्रक्रिया में जो खिलता हो, उत्पन्न की हुई आकृति को मूर्ति कहते हैं।

1.4.4 वास्तुकला का परिचय

कलाएँ दो प्रकार की होती हैं। ललित कलाएँ और उपयोगी कलाएँ। ललित कला के अंतर्गत पाँच कलाओं का समावेश है। चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला, संगीत और काव्य जो

ज्ञानेन्द्रियों को आनन्द का अनुभव कराती हैं। इन सभी कलाओं में वास्तुकला का अपना प्रमुख स्थान है। जिसका उद्देश्य प्रौद्योगिकी का सहयोग लेते हुए उत्तम भवननिर्माण, देवालयों का निर्माण, दीवारों को चित्रित करना आदि है।वास्तुकला अत्यंत प्राचीन कला है। विभिन्न कालों में वास्तु या स्थापत्यकला ने स्थानीय और प्रादेशिक सांस्कृतिक परम्पराओं, उपलब्ध सामग्री, सामाजिक आवश्यकताओं, आर्थिक समृद्धि, विभिन्न समय के आनुष्ठानिक प्रतीकों को ध्यान में रखा है। अतः वास्तुशास्त्र का अध्ययन हमें सांस्कृतिक विभिन्नताओं का ज्ञान कराता है और हमें भारत की समृद्ध परंपराओं को समझने में सहायता करता है। भारतीय वास्तुशिल्प का विभिन्न कालों में, देश के विभिन्न भागों मे विकास हुआ। प्राक-इतिहास और ऐतिहासिक कालों में हुए स्वाभाविक और प्राकृतिक विकास के अतरिक्त इतिहास में घटित महान व महत्वपूर्ण घटनाओं से भी भारतीय वास्तुशिल्प प्रभावित हुआ। उपमहाद्वीप के महान साम्राज्यों और राजवंशों के उत्थान और पतन ने भारतीय वास्तु शिल्प के विकास पर गहरा प्रभाव डाला। बाहरी प्रभावों और साथ ही देश के विभिन्न भागों के प्रभावों से भी भरतीय वास्तुकला का स्वरूप प्रभावित हुआ।सिन्धु-घाटी के मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा नगरों के उत्खनन एवं उनके विस्तृत अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उनका निर्माण एक सुव्यवस्थित नगर योजना के अन्तर्गत किया गया था। उनकी चौड़ी सीधी सड़कें जो एक-दूसरे से समकोण पर आकार मिलती थी उस विस्तृत जनसंख्या और चहल-पहल को इंगित करती है। जो इस नगर में रही होगी। नगर को ऊँचे प्राचीन (चारदीवारी) से सुरक्षित किया गया था। जिसके बाहरी ओर पक्की ईंटे लगायी गयी थी। यहाँ पर निर्मित होने वाले भवन सड़क किनारे बने थे जिनका मुख्य द्वार सड़क से जुड़ी गली में होता था। शायद मुख्य मार्ग के गर्द-गुबार से बचने के लिए भवन की यह योजना बनायी गयी होगी। प्रत्येक भवन में चार-पाँच कमरों के साथ आँगन, स्नानघर, तथा कुआँ होता था। भवन में पानी के निकास के लिए पक्की नलियाँ थी। जो सड़क की बड़ी नाली से जुड़ी होती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ के नागरिक सफाई का विशेष ध्यान रखते थे। हड़प्पा के लोगों ने मुख्यतया तीन प्रकार के भवनों का निर्माण कियानिवास गृह, स्तम्भों वाले बड़े हॉल और सार्वजनिक स्नानागार। सिन्धु घाटी के विस्तृत क्षेत्र में अन्नागार, विशाल स्नानागार और बंदरगाह (लोथल का गोदीवाड़ा) आदि वास्तुकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

1.4.5 संगीत एवं नृत्य कला का परिचय

संगीत कला- गान, वाद्य और नृत्य तीनों का योग संगीत है- **गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते**। संगीत एक योग साधना है। इसके द्वारा योगी जन ईश्वर की उपासना करते हैं। ईश्वर के निमित्त सुन्दर-सुन्दर पद का गान कर उन्हे रिझाते हैं।मीराबाई, सूरदासआदि भक्त इसके उदाहरण हैं। प्रत्येकजीवमात्र अर्थात मनुष्य, पशु, पक्षी, पेड़, पौधे सभी के जीवन में संगीत और नृत्य जुड़े हैं।भारतीय संगीत की सबसे प्राचीन परंपरा को सामवेद में देखा जा सकता है, जिसके मंत्र संगीत बद्ध रूप में गाये जाते हैं। प्राचीन काल से ही संगीत सबके जीवन में आनन्द प्रदान करता आ रहा है। जब कभी किसी का मनोरथ पूर्ण होता है, लक्ष्य की प्राप्ति होती है, परिणाम अनुकूल होते हैं, वातावरण आनन्द दायक होता है, तो अंग-प्रत्यंग में एक सिहरन कम्पन या लहर उठती है जो अंगों को, प्रतीकों को, हावभाव को, मन के भावों को व्यक्त करती है और लगता है कि आनन्द विभोर है और अपनी प्रसन्नता को आँखों से शरीर से प्रकट किया जाता है। अनेक शुभ संस्कारों एवं त्योहारों के अवसरों पर और मनोहर मौसम आने पर भी नृत्य और

संगीत का आयोजन होता रहता है। भारत में शास्त्रीय संगीत के अतरिक्त लोक संगीत की एक समृद्ध विरासत है। यह संगीत जन भावनाओं को प्रस्तुत करता है। साधारण गीत, जीवन के प्रत्येक घटनाओं को चाहे वह कोई पर्व हो, नई ऋतु का आगमन हो, विवाह या किसी बच्चे के जन्म का अवसर हो, ऐसे उत्सव मनाने के लिए रचे जाते हैं। राजस्थानी लोग संगीत जैसे मांड, भाटियाली और बंगाल की भटियाली पूरे देश में लोकप्रिय है। हरियाणा का प्रसिद्ध लोकगीत रागिनी है। लोक गीतों का एक विशेष अर्थ एवं संदेश होता है। लोक गीत अधिकतर ऐतिहासिक घटनाओं और महत्वपूर्ण अनुष्ठानों का वर्णन करते हैं। कश्मीरी 'गुलराज' सामान्यतः एक लोक कथा है। मध्य प्रदेश का 'षड्याणी' भी एक कथा है, जिसे संगीतबद्ध कर प्रस्तुत किया जाता है।

नृत्य कला - नृत्य का प्राचीनतम ग्रंथ भरत मुनि का नाट्यशास्त्रहै। लेकिन इसके उल्लेख वेदों में भी मिलते हैं, जिससे पता चलता है कि प्रागैतिहासिक काल में नृत्य की खोज हो चुकी थी।नृत्य कला प्राचीन काल से चली आ रही है। यह कला उत्सवों पर या प्राकृति के सौन्दर्य को देखकर सम्पन्न होती थी ऋग्वेद में गीत-वाद्य के साथ नृत्य कला का प्रचुर उल्लेख है। नृत्योत्सव खुले आँगन में जनता के समक्ष उन्मुक्त वातावरण में होता था। जिनमें स्त्री-पुरुष दोनों नृत्य करते थे। इस युग में सामूहिक नृत्य भी होते थे। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में वंशनर्तिन अर्थात वंशी पर नृत्य करने वाले एक वर्ग का उल्लेख और नटों के लिए "शेलुष" संज्ञा दी जाती थी। इस युग में नृत्य के साथ-साथ हाथ से ताल देने की परंपरा भी थी एवं इस कार्य के लिए किसी तालज्ञ को नियुक्त किया जाता था।आचार्य भरतमुनि का नाट्यशास्त्र नृत्य कला का प्रथम स्रोत है। वैसे तो नाट्यशास्त्र नाट्य कला से सम्बन्धित है परंतु नाटक के अभिन्न अंश के रूप में आचार्य भरत ने नृत्य व उसके अनेक अंगों की विस्तृत चर्चा की है। मुखाकृति, शारीरिक भाव भंगिमाएं, हस्तमुद्रा तथा पद संचालन सभी को तीन भागों में विभाजित करते हुए उन्हें 'नृत्त' (पद संचालन), नृत्य (अंग संचालन) तथा नाट्यम (अभिनय) की संज्ञा दी गई है। प्रारंभ में पुरुषों और महिलाओं दोनों ने नृत्य मे विशेष रुचि ली थी। परंतु समाज महिला नर्तकी को हेय दृष्टि से लगा। लेकिन अब सारी चीजें बदल गई हैं। महान संगीतविदों के प्रयत्नों और सामाजिक सुधार आंदोलनों आदि के फलस्वरूप जनसमुदाय महिला कलाकारों को सम्मान की नजरों से देखने लगे हैं। मध्यकालीन काल में मुगल शासकों ने कत्थक नृत्य को प्रोत्साहन दिया। मुगल शासकों में 'औरंगजेब' को छोड़कर ये नृत्य प्रस्तुतियाँ दरबार में पेश की जाती थी। दक्षिण भारत में, मंदिर, दरबार तथा भवनों में नर्तकों के लिए विशेष मंच प्रदान किया जाता था। नव रस, राम, कृष्ण, गणेश, दुर्गा आदि की पौराणिक कथाओं को नृत्य के द्वारा अभिनीत किया जाता था। उत्तर भारत के कुछ शासक जैसे वाजिद अली शाह संगीत और नृत्य के बड़े संरक्षक थे। लखनऊ घराना या नृत्य की पाठशाला के बीज यहीं बोये गये। पंडित बिरजु महाराज लखनऊ घराना के ही नर्तक रहे हैं। आधुनिक काल में हमें दक्षिण भारतीय शास्त्रीय नृत्यों में अधिक नृत्यों के रूप प्राप्त होतें हैं। कुचीपुड़ी, भरतनाट्यम्, मोहनीयअट्टयम्, कथकली तथा पूर्व दिशा में ओडिशा नृत्य विकसित हो रहा था। नृत्य कला का प्रदर्शन प्रायः शुभ आवसरों पर ही किया जाता है। महाकवि वाल्मीकि जी ने भी अपने महाकाव्य रामायण में नृत्य का वर्णन किया है। जब महाराज दशरथ के घर श्रीराम जी का जन्म हुआ था। तब अत्यंत प्रफुल्लित होकर उन्होंने नृत्य-गान करवाया था। महाभारत में भी नृत्य-कला की चरम अभिव्यक्ति पुष्ट होती है।

जिस तरह भारत में कोस-कोस पर पानी और वाणी बदलती है, वैसे ही नृत्य शैलियाँ भी विविध हैं । प्रमुख भारतीय शास्त्रीय नृत्य कुछ इस प्रकार से हैं- कथक, ओडिसी, भारतनाट्यम, कुचिपुडि, मणिपुरीएवंकथकलि । शास्त्रीय नृत्यों के साथ-साथ लोकनृत्य भी विकसित हो रहा था । अनेक राज्यों में स्थानीय नृत्य भी लोकप्रिय हो गए । मणिपुर नृत्य, संथालनृत्य रवीन्द्रनाथ की नृत्य नाटिकाएँ, छाऊ, रास, गिद्दा, भांगड़ा, गरबा आदि कुछ लोकनृत्य भारत में प्रचलित हो रहे थे । हमारे देश के प्रायः सभी राज्यों ने अपने लोकनृत्यों की समृद्ध परम्परा विकसित कर ली है । जैसे आसाम का बिहु, लद्दाख का मुखौटा नृत्य, मेघालय का वांगला, सिक्किम का भूतिया या लेप्चा नृत्य । कुछ मर्सल डांस भी है जैसे- उत्तराखंड का छोलीया, केरल का कलारी पैटटु, मणिपुर का थाँग- ता आदि प्रसिद्ध नृत्य हैं ।

1.5 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों !

इस इकाई में आपने कला का अर्थ, कला का महत्व एवं स्वरूप इत्यादि का अध्ययन किया । आपने जाना कि 'कला' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, षडविंश ब्राह्मण, सांख्यान ब्राह्मण तथा अथर्वेद में हुआ है । "मनुष्य के द्वारा की गयी वह रचना जो उसके जीवन में आनन्द प्रदान करती है, वह कृति कला (Art) कहलाती है । भारतीय कला 'दर्शन' है । जैसा कि प्रायः सभी जानते हैं कि अनेक विद्याओं का मूल स्रोत वेद हैं, और 'कला' शब्द का प्रयोग भी प्रथम-प्रथम ऋग्वेद में हुआ है- "यथा कलां यथा शफम् यथा ऋणं संनयामसि ।" कला शब्द का प्रयोग आचार्य भरतमुनि ने अपने ग्रन्थ 'नाट्यशस्त्र' में प्रथम शताब्दी में किया है- "न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न साविद्या न सा कला ।" अर्थात्- ऐसा कोई ज्ञान नहीं, जिसमें कोई शिल्प नहीं, कोई विद्या नहीं, जो कला न हो । आचार्य भरतमुनि के प्रयुक्त 'कला' शब्द यहाँ ललित कला के निकट है (Fine Art) और 'शिल्प' शायद उपयोगी कला (Useful Art), पश्चिम में कला को (Fine Arts) के नाम से जाना जाता है । और हम लोग इसे ललित कला कहते हैं । ललित कला के अंतर्गत चित्र-निर्माण, मूर्तिनिर्माण और गृह-निर्माण तथा साहित्य और संगीत का समावेश है । गृह-निर्माण के वस्तुतः दो भाग हैं । एक का संबंध सौन्दर्य से है और दूसरे का उपयोगिता से है ।यजुर्वेद के 30 वें अध्याय में 64 कलाओं का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है, जिसे वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में वर्णित किया है । भारतीय धर्म और समाज में चित्रकला को विशिष्ट स्थान प्राप्त था । और यदि चित्रकला का शास्त्रीय रूप विद्यमान था तो चित्रकला के नियम एवं विधि-विधान भी रहे होंगे । यशोधर पंडित जी ने कामसूत्र की टीका 'जयमंगला' में चित्रकला की टीका करते हुए लिखा है –

रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम् ।
सादृश्य वर्णिकाभंग इति चित्रं षडगड्गकम् ।।

उपर्युक्त श्लोक में चित्रकला के छः अंगों का वर्णन किया है । रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्ययोजना, सादृश्य और वर्णिकाभंग । मूर्ति कला बारे में आपने जाना कि मूर्ति बनाने में आरंभ से ही मनुष्य के मुख्यतः दो उद्देश्य रहे हैं । एक तो किसी स्मृति को वा अतीत को जीवित बनाए रखना और दूसरा अमूर्त को मूर्त रूप देना, अव्यक्त को व्यक्त करना अर्थात् किसी भाव को आकार प्रदान करना । साथ ही आपनेस्थापत्यकला, संगीत एवं नृत्यकला का भीअध्ययन किया

। कला कोई भी हो मानव अभिव्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण साधन मानी जाती हैं । कलाएँ ज्ञानेन्द्रियों को आनंद का अनुभव कराती हैं।

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

- ललित- सुन्दर, मनोहर, कोमल
- अमूर्त - अस्पृश्य, न छूने योग्य, निराकार
- मूर्त - मूर्त रूप देना, साकार, स्पर्श योग्य
- लावण्य - सुंदरता, कान्ति, दीप्ति
- निष्प्रभ - विवर्ण, प्रभा-हीन
- अव्यक्त - अप्रकट, अदृश्य
- व्यक्त - प्रकट, दृश्य
- सादृश्य - समानता, तुल्यता
- प्रमाता - प्रमाण द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाला
- तूलिका - कूँची, तूलिका से चित्र निर्मित करना
- परिमित - जिसे मापा गया हो
- कल्पनाप्रसूत - कल्पना से उत्पन्न हुआ
- आत्मीयता - अपनापन
- शिल्प - हस्तकला
- पार्थिव - काया, देह, शरीर, पृथ्वी से उत्पन्न पदार्थ

अभ्यास प्रश्न 2

(1) निम्नलिखित प्रश्नों के उचित विकल्प का चयन कीजिये।

1. वैदिक युग में कौन समाज का सम्मानित सदस्य बन चुका था ?

(क) कलाकार

(ख) किशान

(ग) नाविक

(घ) इनमे से कोई नहीं

2.यशोधर पंडित जी ने कामसूत्र की टीका 'जयमंगला' में चित्रकला के कितने अंगों का वर्णन किया है ?

(क) चार

(ख) पाँच

(ग) छः

(घ) सात

3.अनेक वर्णों की सम्मिलित भंगिमा को वर्णिकाभंग कहते हैं।

(क) रूपभेद

(ख) वर्णिकाभंग

(ग) लावण्य योजना

(घ) भाव

4.यजुर्वेद के 30 वें अध्याय में कितनी कलाओं का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है।

(क) इकावन

(ख) साठ

(ग) बासठ

(घ) चौंसठ

5.वात्स्यायन ने अपने काम सूत्र में कितनी कलाओं को वर्णित किया है।

(क) चौंसठ

(ख) पैंसठ

(ग) पिच्चतर

(घ) अस्सी

(2) रिक्तस्थानों की पूर्ति कीजिये।

1.चित्रकला में मान, कद, कैंड़ा, सीमा, अर्थात् वस्तु के ब्योरे को ---------- कहते हैं।

2.गृह-निर्माण के वस्तुतः दो भाग हैं। एक का संबंध सौन्दर्य से है और दूसरे का----------से है।

3. विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अंतर्गत तृतीय खण्ड में एक सौ अठारह अध्यायों का एक प्रकरण है, जिसे---------- यह सामान्य नाम दिया है।

4.वात्स्यायन ने अपनेग्रंथ----------में64 लकाओं को वर्णित किया है।

5.मूर्तिकला का इतिहास अत्यंत----------है।

(3) सही गलत का चयन कीजिये।

1.अन्य कलाओं के समान ही मूर्तिकला का भी वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता है।

( )

2.मूर्तिकला का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। इसका विकास मानव सभ्यता के साथ ही आरम्भ माना जाता है। ( )

3. रूपभेद का अर्थ है प्रतिरूप, सरूपता अर्थात विचारों एवं आकृति में समानता।

( )

4.कलाओं में चित्रकला को उत्तम माना गया है और चित्रकला की साधना से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों की प्राप्ति हो सकती है।

( )

5.यजुर्वेद के 30 वें अध्याय में 64 कलाओं का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है।

( )

1.7अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न. 1

1. 1 ग, 2 घ, 3 ख, 4 क, 5 ग
2. 1 निर्मित, 2 कला, 3 शापेनहावर, 4 ललित कला, 5 सौन्दर्यमय
3. 1 सही, 2 गलत, 3 सही, 4 सही, 5 सही

अभ्यास प्रश्न. 2

1. 1 क, 2 ग, 3 ख, 4 घ, 5 क
2. 1 प्रमाण,2 उपयोगिता, 3 चित्रसूत्र, 4 कामसूत्र, 5 प्राचीन
3. 1 सही, 2 सही, 3 गलत, 4 सही, 5 सही

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.भारतीय चित्रकला का इतिहास, लेखक डॉ श्याम विहारी अग्रवाल
2. भारतीय चित्रकला, लेखक वाचस्पति गैरोला
3. भारतीय मूर्ति-कला, लेखक राय कृष्णदास
4.भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, डॉ रीता प्रताप
5.प्राचीन भारतीय मूर्ति-विज्ञान, लेखक डॉ वासुदेव उपाध्याय
6. नृत्य और संगीत, लेखिका रंजना निगम
7.भारतीय संस्कृति और विरासत

1.9 निबंधात्मक प्रश्न

1.कला के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
2. चित्र कला का विस्तृत वर्णन कीजिये।
3.मूर्ति कला एवं वास्तुकला का वर्णन कीजिये।
4. संगीत एवं नृत्य कला का वर्णन अपने शब्दों में कीजिए।

इकाई-2 चौसठ कलाएँ

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 कला का अर्थ, व्युत्पत्ति एवं भेद
2.4 चौसठ कलाएँ (वात्स्यायन के अनुसार कला)
2.4.1 ललितविस्तर के अनुसार कला
2.4.2 शुक्रनीतिसार के अनुसार कला
2.4.3 प्रबन्धकोश के अनुसार कला
2.5 सारांश
2.6 पारिभाषिक शब्दावली
2.7 बोध प्रश्नों के उत्तर
2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियो !

भारतीय ज्ञान परम्परा में प्रमाण-पत्र कार्यक्रम (CCIKS-24) कला एवं संस्कृति (Indian Art and Culture) नामक पाठ्यक्रम के खण्ड प्रथम से सम्बन्धित यह द्वितीय इकाई है। इस खण्ड में कला की अवधारणा के अन्तर्गत चौसठ कलाओं का वर्णन किया गया हैं। प्रस्तुत इकाई में आप कला का अर्थ, स्वरूप एवं वात्स्यायन के अनुसार वर्णित चौसठ कलाओं का अध्ययन करेंगे।

भारतीय ज्ञान पद्धति में शिक्षा के अन्तर्गत केवल शास्त्रीय ज्ञान ही नहीं अपितु जीवनोपयोगी लौकिक ज्ञान का भी सम्यक् समावेश था। जिसमें कलाओं की शिक्षा भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी। आचार्य भर्तृहरि अपने नीतिशतकम् में कहते हैं कि— **"साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः। तृणं न खादन्नपिजीवमानस्तद् भागधेयं परमं पशूनाम्।।"** अर्थात् मनुष्य योनि में जन्म लेकर जो साहित्य-संगीत-कला से अपरिचित रहता है, उसका मनुष्य होना ही व्यर्थ है। वास्तव में ऐसा मनुष्य नराकार पशु ही है।

आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में कहा है— **"नृत्यगीतप्रभृतयः कलाः कामार्थसंश्रयाः"।** अर्थात् नृत्य और गीत आदि कलाएं काम और अर्थ के ऊपर आश्रित हैं।

भारतीय साहित्य में कलाओं की विशद चर्चा है और उनकी अलग-अलग संख्या दी गयी है। रामायण, महाभारत आदि आर्षग्रन्थों के अतिरिक्त पुराणों और काव्यग्रन्थों में अनेक कलाओं का वर्णन प्राप्त होता है। वैसे तो कलाएँ अनन्त हैं किन्तु प्रमुख महत्वपूर्ण कलाओं को गिनाना भी बहुत उपयोगी है। कामसूत्र में चौसठ कलाओं का वर्णन है। इसके अतिरिक्त जैन ग्रन्थ 'प्रबन्धकोश' तथा 'शुक्रनीति सार' में भी कलाओं की संख्या भिन्न-भिन्न है।

प्रस्तुत पाठ्यक्रम के प्रथम खण्ड के 'चौसठ कलाओं' से परिचय प्राप्त हो उसकी सामान्य जानकारी हो, इस उद्देश्य से प्रस्तुत इकाई में कलाओं के स्वरुप पर प्रकाश डाला जा रहा है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- कला का अर्थ एवं व्युत्पत्ति से परिचित हो सकेंगे।
- चौसठ कलाओं के विषय में जान सकेंगे।
- ललितविस्तर के अनुसार कला के भेदों को जान सकेंगे।
- शुक्रनीतिसार के अनुसार कला कला के भेदों को जान सकेंगे।
- प्रबन्धकोश के अनुसार कला कला के भेदों को जान सकेंगे।

2.3 कला का अर्थ, व्युत्पत्ति एवं भेद

कला का अर्थ एवं व्युत्पत्ति —

कला शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'कल्' धातु से मानी जाती है, इसका अर्थ है 'प्रेरित करना', 'शब्द करना', 'ध्वनि करना', या 'बजना'. कुछ विद्वानों का मानना है कि इसकी उत्पत्ति 'कड़' धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'प्रसन्न करना' कला शब्द का आज के समय के विभिन्न

वर्गों में प्रथक अर्थों मे प्रचलित है अर्थात् कला का उद्गम मानव की सौन्दर्य भावना का परिचायक है कला शब्द का प्रयोग ललित कला हेतु किया जाता है श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार कला में मनुष्य अपने मन की अभिव्यक्ति करता है न की बाह्य रूप की। भरतमुनी ने कला को ललित कला के रूप मे माना है तथा आठ रसों को बताया है।

शास्त्रों के अध्ययन से पता चलता है की 'कला' शब्द का प्रयोग 'ऋग्वेद' में हुआ। कला शब्द का यथार्थवादी प्रयोग 'भरतमुनी 'ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में प्रथम शताब्दी में किया –'न तज्ज्ञान न तच्छिल्प न साविधा न सा कला'। अर्थात् ऐसा कोई ज्ञान नहीं , जिसमे कोई शिल्प नहीं , कोई विधा नहीं , जो कला न हो।

मार्कण्डेय मुनि द्वारा रचित विष्णुधर्मोत्तर पुराण मे कलाओं में चित्रकला को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। भारत में कला को शिल्प कहा जाता था। भारत में कला को योग साधना माना जाता है। आधुनिक समय में शिल्प शब्द का प्रयोग उपयोगी कला के लिए , कला शब्द का प्रयोग ललित कला के लिए किया जाता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में कला के लिए 'शिल्प' और कलाकार के लिए 'शिल्पी' शब्द का हो अधिक प्रयोग होता था। 'कला' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, पड्विंश ब्राह्मण, सांख्यान ब्राह्मण तथा अर्थववेद में हुआ। 'शिवस्वरूपविमर्शिनी में इसका प्रयोग ललित कला के अर्थ में हुआ है। क्षेमराज ने लिखा है:-

'कलयति स्वरूपमावेशयति वस्तुनि वा, तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव कला।' अर्थात् नव स्वरूपसंवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को आत्मा को परिमित करती है-इसी क्रम का नाम कला है।

मोनियर विलियम ने अपने प्रसिद्ध संस्कृत कोश में 'कला' की व्युत्पत्ति को संदिग्ध मानते हुए 'कलू' का अर्थ करना, निर्माण या रचना करना, सम्पन्न करना (टुडू, मेक, एकम्प्लिश)। दिया है। यह अर्थ अधिक सरल और स्पष्ट है। कला शब्द का अन्य अर्थ कलाति अर्थात् आनन्द देनेवाला भी होता है, 'के आनन्द लाति इति कला इससे कला का यह सिद्धान्त स्पष्ट होता है कि 'कलाकृति इन्द्रिय-सुख का साधन है।'

कुछ प्रसगों में 'कला' शब्द का अर्थ 'कलाकृति' भी होता है। इस अर्थ में इस शब्द का निर्माण 'कल्' धातु से भाव प्रक्रिया के अनुसार 'कल्यते अस्याम्' होता है। इस प्रकार 'कला' शब्द का अर्थ एक ऐसी कृति होती है, जो उस मानवीय क्रिया से उत्पन्न होती है, जिसके विशेष गुण ध्यानपूर्ण दृष्टि, संकलन एवं स्पष्ट प्रकटन हैं। इस प्रकार 'कला' शब्द का अर्थ वह मानवीय क्रिया है जिसका विशेष लक्षण 'ध्यानदृष्टि से देखना, गणना अथवा संकलन करना, मनन और चिन्तन करना एव स्पष्ट रूप से प्रकट करना है।

कला के भेद—

कला को कई प्रकारों में बांटा जा सकता है, जिन्हें हम कला के भेद कहते हैं। भारतीय संस्कृति में कला को मुख्य रूप से दो प्रकारों में बांटा गया है: स्वतंत्र कला और उपयोगी कला। इसके अलावा, विभिन्न कला रूपों को उनके माध्यम या विधि के अनुसार भी भिन्न किया जाता है।

कला के प्रमुख भेद—

चौसठ कलाएँ भारतीय संस्कृति में एक विशेष स्थान रखती हैं। ये चौसठ ऐसी कला और कौशल हैं जिन्हें जीवन में दक्षता प्राप्त करने और सुंदरता को आत्मसात करने के लिए माना

गया है। इनमें से कुछ कलाएँ शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, और कला-संबंधी कार्यों से संबंधित हैं। चौसठ कलाएँ दो श्रेणियों (भेदों) में बांटी जा सकती हैं:

1. स्वतन्त्र कला (Liberal Arts):

भारतीय कला-इतिहास में कलाओं का सर्वप्रथम विभाजन कामशास्त्र के लेखक वात्स्यायन के पूर्व बभ्रु के पुत्र पांचाल ने 'मूल' एवं 'अन्तर कठाओं किया था। उनके उपरान्त भरत मुनि ने अपने प्रसिद्ध नाट्य- शास्त्र में कलाओं को 'मुख्य' और 'गौण' दो रूपों में स्वीकार किया था। पर अन्ततः भारत के अध्यात्मवादी चिन्तकों ने कलाओं का विभाजन 'स्वतन्त्र' तथा 'आश्रित' अथवा 'उपयोगिनी' कलाओं के रूपों में किया है।

विभाजन के अनुसार स्वतन्त्र कलाएं वे हैं जो परब्रह्म अथवा परतत्व को ऐसे इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य रूप में अनुभवकर्ता के सामने उपस्थित करती हैं कि सहृदय व्यक्ति को परब्रह्म के सत्य स्वरूप का अनुभव प्राप्त हो जाता है। तथा उपयोगिनी अथवा आश्रित कलाएं वे हैं जो मानव जाति के उपयोग में आने वाली विभिन्न वस्तुओं को उत्पन्न कर उसकी सुवृद्धि में सहायक होती हैं।

इस विभाजन के अनुसार भारतीय दृष्टिकोण से स्वतन्त्र कलाओं की संख्या तीन है- काव्य (जिसके अन्तर्गत नाव्य कला भी है), संगीत एवं वास्तु। इन्हीं तीन कलाओं से परतत्व के इन्द्रिग्राह्य रूप के उपस्थापन द्वारा उसके सत्य स्वरूप की अभिव्यक्ति संभव हो सकती है। भारतीय कलाविषयक आचार्यों ने काव्य, संगीत तथा वस्तु कलाओं में ही ऐसी कृतियों को उत्पन्न करने की शक्ति मानी है जो कि परब्रह्म को इन्द्रियग्राह्य रूप में प्रदर्शित कर साक्ष्य को परतत्व के सत्य स्वरूप का अनुभव करा सकती है। स्वतंत्र कला व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक, और बौद्धिक विकास में सहायता करती है। ये कला ध्यान, संगीत, दर्शन, साहित्य आदि के क्षेत्र में आती हैं। इनका उद्देश्य व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास को बढ़ावा देना है। कुछ प्रमुख स्वतंत्र कलाएँ:

1. संगीत (Music) – गायन, वादन आदि।
2. नृत्य (Dance) – शास्त्रीय और लोक नृत्य।
3. काव्य (Poetry) – कविता लिखना, छंद, गद्य आदि।
4. वेदपाठ (Vedic Recitation) – वेदों का सही तरीके से पाठ।
5. चित्रकला (Painting) – चित्रकला, मूर्तिकला।
6. कुशल लेखन (Calligraphy) – सुंदर हस्ताक्षर या लेखन शैली।

2. उपयोगी कला (Applied Arts):

उपयोगी कला (Applied Arts) उन कलाओं को कहा जाता है जो दैनिक जीवन में व्यावहारिक और उपयोगी होती हैं। ये कलाएँ मुख्य रूप से उन कार्यों से संबंधित होती हैं जो न केवल कला की सुंदरता को प्रदर्शित करती हैं, बल्कि किसी उत्पाद या कार्य को अधिक प्रभावी, कार्यक्षम और उपयोगी बनाने में मदद करती हैं। उपयोगी कला में कारीगरी, शिल्पकला, वस्त्र निर्माण, आभूषण निर्माण, खाद्य कला, और अन्य व्यावहारिक शिल्प जैसे क्षेत्र शामिल होते हैं। इनका मुख्य उद्देश्य जीवन की गुणवत्ता को बेहतर बनाना और समाज की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करना है। ये कलाएँ किसी कार्य को बेहतर, सुंदर और सरल बनाने में मदद करती हैं। कुछ प्रमुख उपयोगी कलाएँ:

1. हस्तशिल्प (Handicrafts) – चर्मशोधन, बुनाई, बांस की वस्तुएं बनाना।

2. व्यंजन कला (Culinary Arts) – पकवान बनाना, स्वादिष्ट भोजन तैयार करना।
3. आभूषण शिल्प (Jewelry Making) – सोने, चांदी आदि के आभूषण बनाना।
4. कढ़ाई (Embroidery) – कपड़ों पर कढ़ाई करना।
5. फर्नीचर बनाना (Furniture Making) – लकड़ी के सामान बनाना।

उपयोगी कला न केवल हमारे दैनिक जीवन को सुंदर और कार्यक्षम बनाती है, बल्कि यह हमारी सांस्कृतिक धरोहर को संरक्षित करने का एक साधन भी है। इन कलाओं का अभ्यास न केवल एक व्यक्ति के कौशल को निखारता है, बल्कि समाज के समृद्धि और विकास में भी अहम भूमिका निभाता है।

चौसठ कलाओं का महत्व—

चौसठ कलाओं का अध्ययन और अभ्यास जीवन में न केवल शारीरिक और मानसिक विकास लाता है, बल्कि व्यक्ति को संस्कृति, कला, और विज्ञान में गहरी समझ भी प्रदान करता है। यह व्यक्तित्व के सभी पहलुओं को संतुलित और समृद्ध बनाने का एक माध्यम है। प्राचीन भारतीय समाज में इन कलाओं को आत्मसात करना व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक माना जाता था। इन कलाओं के अभ्यास से व्यक्ति न केवल अपने जीवन को बेहतर बना सकता है, बल्कि समाज में भी अपने योगदान से उसे समृद्ध कर सकता है। इनका उद्देश्य केवल कौशल में सुधार लाना नहीं, बल्कि एक संपूर्ण व्यक्तित्व के निर्माण में सहायता करना है।

1. व्यक्तित्व विकास: चौसठ कलाओं का अभ्यास व्यक्ति को न केवल शारीरिक रूप से सक्षम बनाता है, बल्कि मानसिक रूप से भी उसे संतुलित, सशक्त और समृद्ध बनाता है। इन कलाओं के अभ्यास से आत्मविश्वास, समर्पण, और अनुशासन जैसे गुण विकसित होते हैं, जो जीवन में सफलता और शांति का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

2. संस्कार और संस्कृति का संरक्षण: इन कलाओं में प्राचीन भारतीय संस्कृति, परंपरा और संस्कारों का संरक्षण छिपा हुआ है। कला के माध्यम से व्यक्ति अपनी सांस्कृतिक धरोहर को समझता है और उसे आगामी पीढ़ियों तक पहुंचाने का कार्य करता है। यह समाज में एकता और सांस्कृतिक विकास का कारण बनता है।

3. सामाजिक योगदान: चौसठ कलाओं के अभ्यास से व्यक्ति न केवल अपनी स्थिति को सुधारता है, बल्कि समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारी का भी निर्वहन करता है। जैसे- हस्तशिल्प, आभूषण निर्माण, संगीत, नृत्य आदि के द्वारा व्यक्ति अपने समुदाय में रोजगार उत्पन्न करता है और समाज के कलात्मक पहलुओं को समृद्ध करता है।

4. आध्यात्मिक उन्नति: इन कलाओं के अभ्यास से व्यक्ति आत्मिक शांति और संतुलन प्राप्त करता है। जैसे योग और ध्यान व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य को बेहतर बनाते हैं, वहीं संगीत और नृत्य आत्मा को शांति और संतुष्टि प्रदान करते हैं। इन कलाओं से व्यक्ति की आध्यात्मिक यात्रा भी समृद्ध होती है।

5. वैज्ञानिक और बौद्धिक दृष्टिकोण: चौसठ कलाओं में विज्ञान, गणित, तर्क और नीतिशास्त्र का भी सम्मिलन होता है। उदाहरण के लिए, संगीत और नृत्य में गणितीय ताल और माप का उपयोग किया जाता है, जो बौद्धिक विकास को बढ़ावा देता है। चित्रकला और शिल्पकला में रचनात्मकता और आविष्कार की भावना जागृत होती है।

2.4 चौसठ कलाएँ (वात्स्यायन के अनुसार कला)

वात्यायन, जो कि प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र के महान आचार्य माने जाते हैं, उन्होंने अपनी प्रसिद्ध काव्यकृति "कामसूत्र" में चौसठ कलाओं का उल्लेख किया है। इन्हें उन कलाओं के रूप में वर्णित किया है, जो एक व्यक्ति के जीवन को संपूर्ण, समृद्ध और आदर्श बना सकती हैं। वात्यायन के अनुसार, ये 64 कला रूप न केवल शारीरिक और मानसिक विकास के लिए आवश्यक हैं, बल्कि एक व्यक्ति की सामाजिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी महत्वपूर्ण हैं।

वात्यायन के अनुसार चौसठ कलाएँ—

प्राचीन भारत की सभ्यता, संस्कृति और इतिहास का क्रमबद्ध परिचय प्रस्तुत करने वाली सामग्री में कलाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वात्यायन के "कामसूत्र" में चौसठ कलाओं का वर्णन किया गया है। ये कलाएँ जीवन के विभिन्न पहलुओं से संबंधित हैं, और प्रत्येक कला का अभ्यास व्यक्ति को सम्पूर्णता की ओर ले जाता है। वात्यायन के अनुसार इन 64 कलाओं को दो प्रमुख श्रेणियों में बाँटा जा सकता है: स्वतंत्र कला और उपयोगी कला जिसके विषय में हम जान चुके है। अब यहॉ चौसठ कलाओं को विस्तार से जानते है। यजुर्वेद के 30 वें अध्याय में 64 कलाओं का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है, जिसे वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' में निम्नानुसार व्यक्त किया है—

आचार्य वात्स्यायन मुनि प्रणीत कामसूत्र और इस पर लिखित जयमंगलाटीका में वर्णित कलाओं पर दृष्टिपात करने पर चौसठ कलाओं की सम्यक् स्थिति स्पष्ट होती है। कामसूत्र के साधारण अधिकरण के तृतीय अध्याय के विद्यासमुद्देश्य प्रकरण में चौसठ कलाओं और इनकी शिक्षा का वर्णन मिलता है। वात्स्यायन मुनि चौसठ कलाओं को चतुःषष्टिविद्या कहते हैं। उनके अनुसार गीत, वाद्य, नृत्य, आलेख्य, विशेषच्छेद, तण्डुलकुसुमावलिविकार, पुस्पास्तरण, दशनवसनांगराग, मणिभूमिकाकर्म, शयन-रचना, उदक-वाद्य, उदकाघात, चित्रयोग, माल्यग्रन्थन, शेखरकापीडयोजना, नेपथ्य प्रयोग, कर्णपत्रभंग, गन्धयुक्ति, भूषणयोजना, ऐन्द्रजालयोग, कौचुमार-प्रयोग, हस्तलाघव, विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया, पानकरसरागासवयोजन, सूचीवान कर्म, सूत्रक्रीडा, वीणाडमरूवाद्य, प्रहेलिका, प्रतिमाला, दुर्वाचकयोग, पुस्तकवाचन, नाटकाख्यायिकादर्शन, काव्यसमस्यापूर्ति, पट्टिकावेत्रवान्, तक्षकर्म, तक्षण, वास्तुविद्या, धातुवाद, रूप्यपरीक्षा, मणिरागाकरज्ञान, वृक्षायुर्वेद, मेषकुक्कुटलावकयुद्ध, शुकसारिका-प्रलापन, उत्साह-संवाहन-केशमर्दन, अक्षरमुष्टिकाकथन, म्लेच्छितविकल्प, देशभाषाविज्ञान, पुष्पकटिका, निमित्तज्ञान, यन्त्रमातृका, धारणमातृका, सम्पाठ्य, मानसीकाव्यक्रिया, अभिधानकोश, छन्दोविज्ञान, क्रियाकल्प, छलितकयोग, वस्त्रगोपन, द्यूतविशेष, आकर्षक्रीडा, बालक्रीडनक, वैनयिकी विद्याज्ञान और व्यायामिकी विद्या चतुःषष्टिविद्या या चौसठ कलाएँ हैं। स्पष्ट हो चुका है कि चौसठ कलाओं के अन्तर्गत दो प्रकार की कलाओं का निर्देश मिलता है। संगीतादि चौसठ कलाएँ, जिनका उपयोग किसी कन्या या स्त्री के सुगृहिणी बनने के लिए उपयोगी कहा गया है जबकि चौसठ कामकलाएँ जिनका उपयोग दाम्पत्यपीवन में परमसुख या आनन्द की प्राप्ति के लिए कहा गया है। यहाँ हमारा विवेच्य मात्र संगीतादि चैंसठ कलाओं और वर्तमान काल में इनकी उपयोगिता पर ही है।

प्राचीन काल से भारत में जिन चौसठ कलाओं का उल्लेख है वे पुरूषार्थ चतुष्टय के अन्तर्गत तृतीय पुरूषार्थ ‘‘काम’’ की अंगभूत विद्याएँ हैं। स्त्री-पुरूष दोनों के लिए ये विद्याएँ उपयोगी हैं। अतः दोनों को इन्हें सीखने-पढ़ने का निर्देश दिया गया है। ये विद्याएँ पुरूषार्थ चतुष्टय

की साधिका हैं। व्यावहारिक जीवन की अभ्युन्नति एवं सफलता के लिए इन विद्याओं का अध्ययन आवश्यक माना जाता रहा है। इन कलाओं की व्यापक उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए ही सामाजिक जीवन के लिए राज्य की ओर से अनेक कला-केन्द्रों की व्यवस्था की जाती थी। आज भी ऐसे केन्द्र प्रचलन में हैं। अनेक ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि प्राचीन काल में कला के इच्छुक स्त्री-पुरूषों को सुयोग्य आचार्यों द्वारा विविध कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। कई ऐसे कला-केन्द्र थे जहाँ स्त्री-पुरूष व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से कलाओं की शिक्षा ग्रहण करते थे और अपनी कलाओं का उत्कृष्ट प्रदर्शन किया करते थे। सामाजिक जीवन में कलाओं का व्यापक प्रभाव, सम्मान एवं प्रचार था।

भारतीय साहित्य में कलाओं की भिन्न – भिन्न गणना दी गई है । वात्स्यायन द्वारा रचित ' कामसूत्र ' में 64 कलाओं का वर्णन किया गया है । इसके अतिरिक्त ' प्रबन्ध कोश ' तथा ' शुक्रनीति सार ' में भी कलाओं की संख्या 64 ही दी गई है । ' ललित – विस्तार ' में कलाओं की संख्या 86 एवं ' शैवतन्त्रों में चौसठ कलाओं का उल्लेख मिलता है । दण्डी के अनुसार, काव्यदर्श में कला को 'कामार्थसंश्रया' कहा गया है । अर्थात् काम और अर्थ, कला पर आश्रय पाते हैं । वात्स्यायन ने जिन 64 कलाओं की नामावली कामसूत्र में प्रस्तुत की, उन सभी कलाओं के नाम यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में मिलते हैं । इस अध्याय में कुल 22 मन्त्र हैं , जिनमें से चौथे मन्त्र से लेकर बाइसवें मन्त्र तक उन्हीं कलाओं का और कलाकारों का उल्लेख किया गया है । अब हम यहॉ पर चौंसठ कलाओं का विस्तार से जानेंगे।–

1. गीतम् (गायन)— कण्ठ गान यह चौंसठ कलाओं में सर्वप्रथम कला है। यह कला आज अत्यन्त उपयोगी है। कौशल विकास की दृष्टि से यदि देखा जाय तो गायन के क्षेत्र में अनेक विश्वविख्यात हस्तियों को उदाहरणार्थ हैं। शिक्षा संस्थानों के साथ-साथ पारम्परिक रूप से भी इस कला की शिक्षा भारत सहित सम्पूर्ण विश्व में प्रचलित है। यह कला चिर काल से उपयोगी है।

2. वाद्यम् (वाद्य संगीत)—चतुष्षष्टिकलाओं में द्वितीय कला के रूप में वर्णित यह कला भी अत्यन्त उपयोगी है। चारों प्रकार के वाद्यों का वादन इसके अन्तर्गत आता है।

3. नृत्यम् (नृत्य)— चौंसठ कलाओं में इस कला का भी महत्त्व सर्वविदित है। वर्तमान काल में शास्त्रीय और लोक नृत्य के रूप में यह देखा जाता है। पूर्वोक्त दो कलाओं के साथ इसका संगम भी प्रसिद्ध है। सम्पूर्ण संसार इस कला से परिचित है। इसकी उपयोगिता को ध्यान में रखकर आज भी अनेक शिक्षा केन्द्रों में यह कला सिखाने की परम्परा प्रचलित है। शास्त्रों में कहा गया है- "करणान्यङ्गहाराश्च विभावो भाव एव च। अनुभावो रसाश्चेति संक्षेपान्नृत्यसंग्रहः।"

4. आलेख्यम् (चित्रांकन कला)— आलेख्य को सामान्यतः हम चित्रकला के रूप में जान सकते हें। इसकी उपयोगिता इसके वैविध्य के कारण भी है। यह वर्तमान काल में भी उतना ही उपयोगी है जितना अतीत में। चित्रकला की चर्चा करते हुए संस्कृत साहित्य में कहा गया है- "रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्। सादृश्यं वर्णिकाभङ्ग इति चित्रं षडङ्गकम्।।" इति। एतानि परानुरागजननान्यात्मविनोदार्थानि च।

5. विशेषकच्छेद्यम् (मस्तक पर श्रृंगार कला) — संस्कृत वाङ्मय में वर्णित यह कला अतीत से आज तक थोड़े - बहुत परिवर्तन के साथ उपयोगी रहा है। प्राचीन काल में जहाँ यह कला महिलाओं के लिए सीखने योग्य हुआ करती थी वहीं आजकल यह कला कुछ परिवर्तन के साथ सबके लिए उपयोगी है। इस कला को सीख कर और इसके सम्यक् उपयोग से रोजगार के रूप में

आज इसका उपयोग किया जा रहा है। संस्कृत शास्त्रों में इस कला पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि - विशेषकस्तिलको यो ललाटे दीयते, तस्य भूर्जादिपत्रमयस्यानेकप्रकारं छेदनमेवच्छेद्यम्। पत्रच्छेद्यमिति वक्तव्यम्। वक्ष्यति च -'पत्रच्छेद्यानि नासाभिप्रायाकृतानि प्रेषयेत्' इति। सत्यम्। विशेषकग्रहणमादरार्थम्, विलासिनीनामतिप्रियत्वात्। पत्तियों को विविध सुन्दर रूपों में काटकर मस्तक के अलंकरण करने कि एक विधा को विशेषकच्छेद्यम् कहते हैं।

6. तण्डुलकुसुमवलिविकाराः— (चावल या कुसुमों से रेखचित्रों की रचना करना) — यह कला आज भी प्रासंगिक और प्रचलित है। पर्व-त्यौहारों एवं उत्सवों में रंगोली आदि का निर्माण इस कला का आधुनिक रूप कहा जा सकता है। इस कला की उपयोगिता कालान्तर से चली आ रही है। शास्त्रों में इस कला के बारे में कहा गया है कि - "अखण्डतण्डुलैर्नानावर्णैः सरस्वतीभवने कामदेवभवने वा मणिकुट्टिमेषु भक्तिविकाराः। तथा कुसुमैर्नानावर्णैग्रर्थितैः शिवलिङ्गादिपूजार्थं भक्तिविकाराः। अत्र ग्रथनं माल्यग्रथन एवान्तर्भूतम्। भक्तिविशेषणावस्थापनं कलान्तरम्।"

7. पुष्पास्तरणम् (शय्या को सुमनों से सजाना) — चौंसठ कलाओं में यह कला न केवल गृहिणियों के लिए अपितु व्यवसाय के रूप में भी उपयोगी है। कई ऐसे उत्सवों तथा कार्यों में सजावट के लिए इस कला का उपयोग प्रचलित है। इस प्राचीन कला के बारे में कहा गया है कि- यन्नानावर्णैः पुष्पैः सूचीवानादिबद्धैरभ्यस्यते तदेव, वासगृहोपस्थानमण्डपादिषु यस्य पुष्पशयनमित्यपरा संज्ञा।

8. दशनवसनांगरागा:— (शरीर, केश, नाखून, दन्त तथा वस्त्र आदि को रंगने तथा सजाने की कला) यह शास्त्रों में वर्णित चौंसठ कलाओं में एक उपयोगी कला है। इस कला का उपयोग आजकल भी प्रचलित है। शास्त्रों में इसके बारे में कहा गया है - "रागशब्दः प्रत्येकं योज्यते। तत्राङ्गरागोऽङ्गमाष्ट्रिः कुङ्कुमादिना। रञ्जनविधिरिति वक्तव्ये दशनादिग्रहणमादरार्थम्। विलासिनीनां दशनादिसंस्कारस्यात्यन्ताभीष्टत्वात्।

9. मणिभूमिकाकर्म— (फर्श को रंगीन रत्नों और पत्थरों से सजाना):- यह कला आज व्यवसाय का रूप ले चुकी है। प्रायः हर मकान में फर्श पर पत्थर, टाइल्स, मार्बल आदि लगाने की प्रथा गाँव एवं छोटे कस्बों तक पहुँच चुकी है। निःसन्देह इस कला की उपयोगिता बरकरार है। शास्त्रों में इस प्राचीन कला के बारे में कहा गया है कि - "मणिभूमिका कृतकुट्टिमा भूमिः, ग्रीष्मे शयनापानकार्थं तस्यां मरकतादिभेदेन करणम्।"

10. शयनरचनम् (सेज शय्या सजाना) — यह कला भी उपयोगी है। इसका उपयोग न केवल प्रतिदिन घरों में होता है अपितु होटलों आदि में भी इस कला का उपयोग देखा जा सकता है। निश्चित रूप से यह कला उपयोगी है। इस सुन्दर कला के बारे में संस्कृत के शास्त्र कहते हैं कि– शयनीयस्य कालापेक्षया रक्तविरक्तमध्यस्थाभिप्रायादाहारपरिणतिवशाच्च रचनम्।

11. उदकवाद्यम् (जलवाद्य) — इस कला का प्रयोग सांस्कृतिक कार्यक्रमों, पार्कों आदि में होने वाली विशिष्ट अवसरों में देखा जा सकता है। मूलतः यह संगीत कला से ही सम्बन्धित है। जलतरंग आदि वाद्यों का प्रयोग मनोरंजन के लिए होता है। यह कला संगीत के क्षेत्र में उपयोगी है। कहा भी गया है - उदके मुरजादिवद्वाद्यम्।

12. उदकाघातः (जलक्रीडा कला) — यह भी एक उपयोगी कला है। यह भी मूलतः संगीत से जुड़ी हुई कला है। संस्कृत के ग्रन्थों में इस कला के बारे में कहा गया है कि - हस्तयन्त्रमुक्तैरूदकैस्ताडनम्। तदुभयं जलक्रीडाङ्गम्।

13. चित्राश्चयोगाः (चित्रयोग अर्थात् मन्त्र, तन्त्र एवं औषधियों के प्रयोग की कला) — यह प्राचीन कला है। इसका प्रयोग चिकित्सा के क्षेत्र में किया जाता है। यह कला भी समाज में उपयोगी है। कहा भी गया है - नानाप्रकारदौर्भाग्यैकेन्द्रियपलितीकरणादयः, ईष्र्यया परातिसन्धानार्थाः, तानौपनिषदिके वक्ष्यति। एते च कौचुमारयोगेषु नान्तर्भवन्तीति पृथगुक्ताः। कुचुमारेण तेषामनुक्तत्वात्।

14. माल्यग्रथनविकल्पाः (फूल मालाएँ गूँथने तथा उनके आभूषण बनाने की कला) — यह कला एक व्यवसाय का रूप धारण कर चुकी है। जीविकोपार्जन के लिए इस कला का उपयोग आसानी से देखा जा सकता है। प्राचीन शास्त्रों में कहा गया है कि - माल्यानां मुण्डमालादीनां देवतापूजनार्थं नेपथ्यानां ग्रथनविकल्पाः।

15. शेखरकापीडयोजनम् (शेखरापीड़योजन कला) — इस कला का उपयोग सजावट के रूप में देखा जा सकता है। उत्सवों के अवसर पर सजावट के लिए इस कला का उपयोग व्यवसाय के रूप में भी होता है। कहा गया है - ग्रथनविकल्प एवायम् किन्तु योजनं कलान्तरम्, तत्र शेखरकस्य शिखास्थानेऽवलम्बनन्यासेन परिधापनात्। आपीडस्य च मण्डलाकारेण ग्रथितस्य काष्ठिका योगेन परिधापनात्। नानावर्णैः पुष्पैर्विरचनं योजनम्। तदुभयं नागरकस्य प्रधानं नेपथ्याङ्गम्।

16. नेपथ्यप्रयोगाः (नेपथ्य कला) — यह कला भी सजावट के रूप में प्रचलित है। यह भी उपयोगी है। कहा गया है कि - देशकालापेक्षया वस्त्रमाल्याभरणादिभिः शोभार्थं शरीरस्य मण्डनाकाराः।

17. कर्णपत्रभंगाः (कर्णपत्र भंग कला) — इस कला का उपयोग शोभावर्द्धन के लिए किया जाता है। यह भी उपयोगी है। शास्त्रों में वर्णित है कि - दन्तशंखादिभिः कर्णपत्रविशेषा नेपथ्यार्थाः।

18. गन्धयुक्तिः (सुगन्धित द्रव्य बनाने की कला) — इस कला का उपयोग व्यक्तिगत और औद्योगिक दोनों दृष्टि से उपयोगी है। इत्र, अगरबत्ती आदि के निर्माण में इसका उपयोग है। कहा गया है कि - स्वशास्त्रविहितप्रपंचा प्रतीतप्रयोजनैव।

19. भूषणयोजनम् (आभूषण धारण करने की कला) — यह कला प्राचीन है। शारीरिक शोभा में वृद्धि के लिए अलंकारों का प्रयोग प्राचीन काल से होता आ रहा है। इस कला का उपयोग नूतन रूप में भी हो रहा है। शास्त्रों में इसे अलंकारयोग कहा गया है। इति अलंकारयोगः। स द्विविधः - संयोज्योऽसंयोज्यश्च। तत्र संयोज्यस्य कण्ठिकेन्द्रच्छन्दादेर्मणिमुक्ताप्रवालादिभिर्योजनम्। असंयोज्यस्य कटककुण्डलादेर्विरचनं योजनम्। तदुभयं नेपथ्यांगम्। न तु शरीरे भूषणयोजनम्। तस्य नेपथ्यप्रयोगा इत्यनेनैव सिद्धत्वात्।

20. ऐन्द्रजालाः (इन्द्रजाल की कला) — चौंसठ कलाओं में इस कला का उपयोग जादू के रूप में होता है। प्राचीनकाल की यह एक प्रसिद्ध कला है। वर्तमान में कम ही सही पर प्रयोग मिलता है। शास्त्रों के अनुसार - इन्द्रजालादिशास्त्रप्रभवा योगाः। सैन्यदेवालयादिदर्शनादहंभावविस्मापनार्थाः।

21. कौचुमाराश्चयोगाः (कुचुमार के द्वारा बताये सौन्दर्यवर्धन आदि के प्रयोगों की कला):- कहा गया है कि -कुचुमारस्यैते सुभगंकरणादयः उपायान्तरासिद्धसाधनार्थाः। वर्तमान में सौन्दर्यवर्द्धक कलाओं के रूप में प्रयोग होता है।

22. हस्तलाघवम् (जादूगरी की कला) — इस कला का उपयोग मनोरंजन के साधन के रूप में किया जाता है। हाथ की सफाई अचरज में डालने वाली होती है। इस कला के बारे में कहा गया है कि -सर्वकर्मसु लघुहस्तता, कालातिपातनिरासार्थम्। द्रव्यहानिषु वा लाघवं क्रीडार्थं विस्मापनार्थं च।

23. विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया (पाकशास्त्र कला) — नाना प्रकार के साग-सब्जी, जूस और भोजन बनाने की कला के रूप में यह कला घर से लेकर व्यवसाय के क्षेत्र में अत्यन्त उपयोगी है। कई लोग इस कला के जानकार इसे अपने रोजगार के रूप में प्रयोग कर आजीविका चला रहे हैं। यह कला सार्वकालिक और सार्वदेशिक होने के साथ साथ अत्यन्त उपयोगी है।

24. पानकरसरागासवयोजनम् (पानक रस, लेह्य पदार्थ, आसव बनाने की कला) — यह कला चौंसठ कलाओं में अत्यन्त ही उपयोगी कला है। आहार से सम्बन्धित इस कला में पेय पदार्थ यथा शरबत, शिकंजी आदि के बनाने की कला, चटनी आदि लेह्य पदार्थ बनाने की कला और अचार, मुरब्बा आदि बनाने की कला का समावेश है। इस कला का उपयोग कुशल गृहिणियाँ भारत में प्राचीनकाल से करती आ रही है। आजकल यह कला कुटीर उद्योग के रूप में विकसित हो चुकी है। यह कला निश्चय ही उपयोगी है। प्राचीन शास्त्रों में इस कला के सम्बन्ध में कहा गया है - चतुर्विधः आहारः, भक्ष्यभोज्यलेह्यपेयमिति। तत्र भोज्यम् - भक्तव्यंजनयोव्र्यञ्जनराधनं प्रायशो न सुज्ञानमिति व्यंजनाग्र्यस्य शाकस्योपादानेन दर्शयति। तत्र शाकं दशविधम्। यथोक्तम् - "मूलपत्रकरीराग्रफलकाण्डप्ररूढकम्। त्वक्पुष्पं कण्टकं चेति शाकं दशविधं स्मृतम्।।" पेयं द्विविधम्- अग्निनिष्पाद्यमितरच्च। तत्र पूर्वं यूषाख्यम्। तच्च द्विविधम् - मुद्गादिनिर्यूहकृतं क्वाथरसं च। भक्ष्यं खण्डखाद्यादि। एषां नानाप्रकाराणां क्रिया पाकविधानेन निष्पादनम्। यदनग्निनिष्पादनं पेयं तद्द्विविधम्- सन्धानकृतमितरच्च। तत्राद्यं द्रावितमद्रावितं च। तत्र यद्गुडतिन्तिडिकादिजलेन संयोज्य क्रियते तद्द्रावितं पानकाख्यम्। यदद्रावकौषधेन तालमोचाफलानि संयोज्य निष्पाद्यते तदद्रावितं रसाख्यम्। आसवग्रहणेनसन्धानमुपलक्षयति। तन्मृदुमध्यतीक्ष्णसन्धानयोजनात्तथाविधमेव निष्पाद्यते। रागग्रहणं लेह्यं सूचयति। तस्य त्रैविध्यात्। तथा चोक्तम् - "रागो रागविधानज्ञैर्लेह्यश्चूर्णो द्रवः स्मृतः। लवणाम्लकटुस्वाद ईषन्मधुरसंयुतः।" इति। एतच्चतुर्विधमास्वाद्यकलायाः प्रपंचितं शरीरस्थित्यर्थम्। योगविभागोऽग्निजानग्निजकर्मदर्शनार्थः। पत्र पाकेन शाकादिक्रिया विना पाकेन पानकादियोजनम्। अन्यथा ह्यास्वाद्यविधिरित्युक्तं स्यात्। तस्मात्कर्मभेदादास्वाद्यविधानज्ञोऽपि द्विविधः, तद्वशादेकापि कला द्विधाकृत्योक्ता।

25. सूचीवानकर्माणि (सीने-पिरोने की कला) — यह कला सर्वविदित है। सम्पूर्ण संसार इस कला से परिचित है। कुटीर उद्योग के रूप में इस कला का प्रयोग होता है। स्थान-स्थान पर इस कला को सिखाने का काम भी होता है। प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में इस कला के बारे में कहा गया है कि - सूच्या यत्सन्धानकरणं तत्सूचीवानं त्रिविधम् - सीवनम्, ऊतनम्, विरचनम्, तत्राद्यं कंचुकादीनाम्। द्वितीयं त्रुटितवस्त्राणाम्। तृतीयं कुथास्तरणादीनाम्। इयं प्रतीतार्थैव।

26. सूत्रक्रीडा (कढ़ाई-बुनाई की कला) — यह कला भी प्रसिद्ध है। वर्तमान काल में भी यह कला उपयोगी है। शास्त्रों में कहा गया है कि -नालिकासंचारनालादिसूत्राणामन्यथान्यथा दर्शनम्। छित्त्वा दग्ध्वा च पुनरच्छित्त्वादग्ध्वा दर्शनम्, तच्चांगुलिन्यासात्। देवकुलादिदर्शनम्। इत्येवं प्रकारा क्रीडार्थैव।

27. वीणाडमरूकवाद्यानि (वीणा और डमरू बजाने की कला) — यह कला प्राचीन वाद्य से सम्बन्धित है। वीणा तन्त्री के अन्तर्गत आता है जबकि डमरू आनद्ध के अन्तर्गत। वीणा का वादन अन्य वाद्ययन्त्रों की अपेक्षा कठिन है। संगीत के क्षेत्र में इस कला का उपयोग अतीत से आज तक होते आ रहा है। भारतीय समाज में वीणा और डमरू का सम्बन्ध वाग्देवी सरस्वती और महादेव शिव से सम्बन्धित होने के कारण चिर काल से प्रतिष्ठित है। संस्कृत के ग्रन्थों में कहा गया है कि - वादित्रान्तर्गतत्वेऽपि तन्त्रीवाद्यं प्रधानम्। तत्रापि वीणावाद्यम्। डमरूकवाद्यमावश्यकार्थम्, बालोपक्रमहेतुत्वाद् दुर्विज्ञेयत्वाच्च। ततो ह्यक्षराणि स्पष्टान्युच्चार्यमाणानि श्रूयन्ते।

28. प्रहेलिका (पहेली बुझाने की कला) — बौद्धिक कलाओं में इसकी गणना होती है। यह कला बुद्धि के विकास में उपयोगी है। प्राचीन काल से ही यह एक उपयोगी कला के रूप में लोकप्रिय है। इस कला के बारे में कहा भी गया है - लोकप्रतीता क्रीडार्था वादार्था च।

29. प्रतिमाला (अन्त्याक्षरी की कला) — यह कला भी बौद्धिक कलाओं के अन्तर्गत आती है। इसकी उपयोगिता सर्वविदित है। इस कला से वाक्पटुता के साथ साथ मनोरंजन भी होता है। कहा गया है कि - यस्या अन्त्याक्षरिकेति प्रतीतिः। सा क्रीडार्था वादार्था च। यथोक्तम् - 'प्रतिश्लोकं क्रमाद्यत्र सनयाक्षरमन्तिमम्। पठेतां श्लोकमन्योन्यं प्रतिमालेति सोच्यते।।"

30. दुर्वाचकयोगाः (कठिन रचना के निर्माण की कला) — यह एक प्राचीन कला है। कविगण इस कला के सफल प्रयोक्ता रहे हैं। संस्कृत साहित्य में एक-एक अक्षरों से पद्य बनाने की कुशलता कवियों में देखी गई है। शब्दों के खिलाड़ी या शब्दों के जादूगरों के साथ साथ सामान्य जन के लिए भी यह उपयोगी कला है। कहा गया है कि - शब्दोऽर्थतश्च दुःखेनोच्यत इति दुर्वाचकम्। तस्य प्रयोगाः क्रीडार्था वादार्थाश्च। यथा- काव्यादर्शे- दंष्ट्राग्रदष्ट्या प्राग्यो द्राक्क्ष्मामम्ब्वन्तः स्थामुच्चिक्षेप। देवध्रुट्क्षिद्ध्यृत्विक्स्तुत्यो युष्मान्सोऽव्यात्सर्पात्केतुः।।

31. पुस्तकवाचनम् (ग्रन्थ-वाचन की कला) — चौंसठ कलाओं में एकतीसवीं कला के रूप में कथित पुस्तकवाचनम् सदैव एक उपयोगी कला है। शिक्षा जगत् में यह एक प्रतिष्ठित कला है। छात्रों, अध्यापकों के साथ साथ समस्त बुद्धिजीवियों के लिए यह कला उपयोगी है। प्राचीन ग्रन्थों में इस कला के सम्बन्ध में कहा गया है कि - भरतादिकाव्यानां पुस्तकस्थानां श्रृंगारादिरसापेक्षया गीततः स्वरेण वाचनम्। अनुरागजननार्थमात्मविनोदार्थं च।

32. नाटकाख्यायिकादर्शनम् (नाटक और आख्यायिका का ज्ञान) — साहित्य से सम्बन्धित यह कला अत्यन्त उपयोगी है। नाटकों, काव्यों तथा कथा-कहानियों की सूक्ष्म एवं पारिभाषिक शब्दावलियों के ज्ञान से सम्बन्धित यह कला सर्वदा उपयोगी है। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में कहा गया है कि - काव्येषु गद्यपद्येषु नाटकस्य बहुप्रपंचत्वात्, आख्यायिकायाश्च प्रधानगद्यत्वाद्दर्शनं परिज्ञानमिति। आदरार्थं विशेषाभिधानम्, काव्यदर्शनमिति नोक्तम्।

33. काव्यसमस्यापूरणम् (समस्यापूर्ति की कला) — यह साहित्य से सम्बन्धित प्राचीन कला है। छात्रों, अध्येताओं तथा कवियों के लिए यह एक उपयोगी कला है। इस कला के बारे में

कहा गया है कि - समस्यते संक्षिप्त इति समस्या। काव्यस्य श्लोकस्य समस्या पाद इत्यर्थः। तस्याः पूरणं क्रीडार्थं वादार्थं च।

34. पट्टिकावानवेत्रविकल्पाः (वेंत से आसन-चटाई आदि बनाने की कला) — यह कला कुटीर उद्योगों में उपयोगी है। इस कला का उपयोग जीविकोपार्जन के लिए सामान्य जन कर सकते हैं। चटाई, आसनी आदि बनाना मुख्यतः इस कला के अन्तर्गत आता है। कहा गया है कि - पट्टिका छुरिका। पट्टिकाया वानविकल्पाः खट्वाया आसनस्य च वेत्रैर्वानविकल्पाः प्रतीतार्थाः।

35. तक्षकर्माणि (खरादने एवं मीनाकारी अर्थात् नक्काशी की कला) — यह प्राचीन कला आज भी उपयोगी है। कौशल विकास में इसकी उपादेयता है। इसके बारे में कहा गया है कि - कुन्दकर्माण्यद्रव्यार्थानि।

36. तक्षणम् (बढ़ईगीरी की कला) — इस कला से सभी परिचित हैं। भारत ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में इस कला का प्रयोग और उपयोग लकड़ी के सामान बनाने में किया जाता है। यह एक ऐसी कला है जिसका प्रयोग वर्तमान में आजीविका चलाने में कुशल तक्षक करते हैं। इस कला के जानकार लोगों की माँग हमेशा रही है। शिक्षण संस्थानों अभियांत्रिकी के छात्रों को भी यह कला सिखाई जाती है। इस कला के बारे में कहा गया है कि - वर्धकिकर्म। शयनासनाद्यर्थम्।

37. वास्तुविद्या (मकान बनाने की कला) — यह कला एक प्रसिद्ध विद्या के रूप में भारत सहित अधिकांश देशों मे जानी जाती है। मकान बनाना भले ही राजमिस्त्री का काम हो पर इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण सिविल इन्जीनियरिंग आती है। यह सदा उपयोगी रही है। कहा गया है - गृहकर्मोपयोगिनी।

38. रूप्यपरीक्षा (रत्न-परीक्षण कला) — यह कला जौहरी से सम्बन्धित है। विभिन्न प्रकार के रत्नों के परीक्षण से सम्बन्धित यह कला उपयोगी है। कहा गया है कि - रूप्यमाहतद्रव्यं दीनारादि, रत्नं वज्रमणिमुक्तादि, तेषां गुणदोषमूल्यादिभिः परीक्षा व्यवहारांगम्।

39. धातुवादः (धातुओं के पातन, शोधन, मेलन की कला) — यह कला प्राचीन है। आज इस कला का उपयोग भूवैज्ञानिक तथा अभियान्त्रिकी के लोग करते हैं। इस कला को शास्त्रों में 'क्षेत्रवादः' भी कहा गया है। प्राचीन काल में एक विशेष वर्ग के लोग इस कला का माहिर हुआ करते थे। इसके बारे में कहा गया है कि - "स हि मृत्प्रस्तररत्नधातूनां पातनशोधनमेलनादिज्ञानहेतुरर्थार्थः।"

40. मणिरागाकरज्ञानम् (पद्मराग आदि मणियों के रंगने एवं खान जानने की कला) — यह चौंसठ कलाओं में रत्नों से सम्बन्धित कला है। अखिल विश्व में इस कला के जानकार लोगों की माँग है। मानव समाज सदियों से इस कला का अनुरागी रहा है। स्फटिकमणीनां रंजनविज्ञानमर्थार्थं भूषणार्थं च। पद्मरागादिमणीनामत्पत्तिस्थानज्ञानमर्थार्थम्।

41. वृक्षायुर्वेदयोगाः (वृक्षों के रोपण वर्द्धन आदि की चिकित्सा का ज्ञान) — यह कला कृषि कर्म से सम्बन्धित एक उपयोगी कला है। इसकी उपयोगिता सर्वविदित है। इसके बारे में प्राचीन ग्रन्थों में कहा गया है कि - रोपणपुष्टिचिकित्सावैचित्र्यकृतो गृहोद्यानार्थाः।

42. मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः(भेड़, मुर्गा एवं बटेर की युद्धकला) — यह कला मनोरंजन से सम्बन्धित है। ग्रामीण इलाकों में आज भी इस कला का जीवन्त रूप देखा जा सकता है। भारत के आदिवासी समाज में यह कला आज भी प्रचलित है। विदेशों में भी इस

कला का प्रयोग देखा गया है। संस्कृत शास्त्रों में इस कला के बारे में कहा गया है कि - " सजीवद्यूतविधानमेतम्। तत्रोपस्थानादिभिश्चतुरंगैर्युद्धविधानं क्रीडार्थं वादार्थं च।"

43. शुकसारिकाप्रलापनम् (तोता-मैना को रटाने-पढ़ाने की कला) — यह कला मनोरंजन से सम्बन्धित है। तोता-मैना को भाषा सिखाने अर्थात् रटाने की कला भारत वर्ष में प्राचीन काल से होते आ रही है। यद्यपि यह कला अभी भी प्रचलित है परन्तु ग्रामीण इलाकों तक ही सीमित होकर रह चुकी है। प्राचीन शास्त्रों में इस कला के बारे में प्रायः चर्चा मिल जाती है। इसके बारे में जयमंगला टीका में कहा गया है - " शुकसारिका हि मानुषभाषया प्रलापिताः सुभाषितं पठन्ति सन्देशं च कथयन्ति।"

44. उत्सादने संवाहने केशमर्दने च कौशम् (उबटन, मालिश और केश मर्दन की कला) — यह कला अतीत से आज तक अपने विभिन्न रूपों में प्रचलित है। आज कल शहरों में भी इस कला को रोजगार के रूप में प्रयोग करते हुए आसानी से देखा जा सकता है। इसकी उपयोगिता अनेक विध है। इस कला के बारे में कहा गया है - मर्दनं द्विविधम् -पादाभ्यां हस्ताभ्यां च। तत्र पादाभ्यां यन्मर्दनं तदुत्सादनमुच्यते। हस्ताभ्यां यच्छिरोऽभ्यंगकर्मतत्केशमर्दनम्। केशानां तत्र मृद्यमानत्वात्तैरेव तद्व्यपदेशः। शेषांगेषु मर्दनं संवाहनम्। केशग्रहणमत्रादरार्थम्। तत्र कौशलं पराधनार्थम्।

45. अक्षरमुष्टिकाकथनम् (सांकेतिक कथन की कला) — यह एक बौद्धिक कला है। सांकेतिक कथन या कोड वर्ड के रूप में इस कला को कहा जा सकता है। यह कला सर्वदा उपयोगी रही है। कहा गया है कि - अक्षराणां मुष्टिरिव मुष्टिका गुप्तिरिति। सा साभासा निराभासा च। तत्र साभासा अक्षरमुद्रेत्युच्यते। तथा कथनं गूढवस्तुमन्त्रणार्थं ग्रन्थसंक्षेपार्थं च। तस्या आचार्यरविगुप्तेन चन्द्रप्रभाविजयकाव्ये प्रकरणं पृथगुक्तम्। द्वितीयेन राशीनां लग्नात्प्रभृति मूर्तिधनसहजबान्धवसुतशत्रुकलत्रनिधनधर्मकर्मायव्यया इति विशेषसंज्ञाः। इतरार्धेन फाल्गुनादयो मासा इति। निराभासा (भूत) मुद्रेत्युच्यते।

46. म्लेच्छितविकल्पाः (गुप्त भाषा का ज्ञान)— आधुनिक युग में इस कला का ज्ञान काफी लाभप्रद है। सेना, पुलिस सहित गुप्तचर संस्थाएँ इस ज्ञान पर काम करती हुई आसानी से अपने लक्ष्य को हासिल कर लेती हैं। यह प्राचीन कला उपयोगी है। शास्त्रों में कहा गया है- यत्साधुशब्दोपनिबद्धमप्यक्षरविन्यासादस्पष्टार्थं तन्म्लेच्छितं गूढवस्तुमन्त्रार्थम्। तस्य विकल्पा बहवः पूर्वाचार्योक्ताः।

47. देशभाषाविज्ञानम् (विभिन्न देश की भाषाओं के ज्ञान की कला) — विश्व में लगभग चार हजार के आस - पास भाषाएँ बोली जाती हैं। बालियों की संख्या का सिर्फ अनुमान ही किया जा सकता है। सामान्य व्यक्ति तीन-चार भाषाओं के अतिरिक्त अन्य भाषा समझ भी नहीं सकता। इसी प्रकार नौ-दस बोलियों के बाद बस हो जाता है। विभन्न देश की भाषाओं का ज्ञान की कला सर्वथा उपयोगी है। भाषा के ज्ञान से देश-विदेश में न केवल काम करने में आसानी होती है अपितु वहाँ की संस्कृति, संस्कार और साहित्य से भी परिचय मिलता है। निश्चय ही यह उपयोगी कला है। इस कला के बारे में प्राचीन ग्रन्थ कहते हैं - अप्रकाश्यवस्तुज्ञापनार्थं तद्देशीयैर्व्यवहारार्थं च।

48. पुष्पशकटिका (फूलों से रथ, गाड़ी, पालकी आदि सजाने की कला):- पुष्पशकटिका नामक यह कला आज कल आसानी से एक नूतन रोजगार के रूप में विकसित हो चुकी है। उत्सवों में गाड़ी, घर आदि फूलों से सजाने का रिवाज आज भी है। शादी-व्याह में इस कला का

प्रयोग आसानी से देखा जा सकता है। इसके बारे में कहा गया है कि - पुष्पाणि निमित्तीकृत्याहं प्रणीता।

49. निमित्तज्ञानम् (शकुन-अशकुन के ज्ञान की कला) — भारतीय समाज में शुभाशुभ की चर्चा प्राचीनकाल से होते आयी है। कब, क्या, कहाँ और कैसे क्या शुभ है और क्या अशुभ इसका ज्ञान आवश्यक माना गया है। इस पर अनेक शास्त्र उपलब्ध होते हैं। वैदिकों और पौराणिकों के साथ साथ बौद्धों एवं जैनियों के यहाँ भी इस कला की कद्र होती है। इस्लाम में भी कहीं कहीं यह देखा गया है। प्राचीन वाङ्मय में इस कला के बारे में कहा गया है कि - "निमित्तं धर्मक्षमावर्गेऽन्तर्गतं शुभाशुभादेशपरिज्ञानफलम्। तत्र च प्रष्टुरभिज्ञानार्थम्, एवं रूप या स्त्रिया तव सम्प्रयोग इति कामोपहसितप्राया आदेशा इति। निमित्तज्ञानमिति सामान्येनोक्तम्।"

50. यन्त्रमातृका (यन्त्र निर्माण कला) — यह कला भी उपयोगी कलाओं में से एक है। कहा गया है कि - सजीवानां निर्जीवानां यन्त्राणां यानोदकसंग्रामार्थं घटनाशास्त्रं विश्वकर्मप्रोक्तम्।

51. धारणमातृका (स्मरणशक्ति बढाने की कला) — यह कला भी बौद्धिक है। सुनी हुई बातों को याद रखने की यह कला प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध है। इस कला के लिए सुश्रुषा, श्रवण, ग्रहण की प्रक्रिया के बाद धारण की अवस्था आती है। शास्त्रों में इस कला के बारे में कहा गया है कि - "श्रुतस्य ग्रन्थस्य धारणार्थं शास्त्रम्। यथोक्तम् -'वस्तु कोषस्तया द्रव्यं लक्षणं केतुरेव च। इत्येते धारणादेशाः पंचांगरूचिरं वपुः।।"

52. सम्पाठ्यम् (सामूहिक पाठन की कला)— यह कला भी बौद्धिक कला से सम्बन्धित है। सामूहिक पाठन अपने आप में एक सराहनीय कला है। शास्त्रों में इस प्रसिद्ध कला के बारे में कहा गया है - सम्भूय क्रीडार्थं वादार्थं च। तत्र पूर्वधारितमेको ग्रन्थं पठति, द्वितीयस्तमेवाश्रुतपूर्वं तेन सह तथैव पठति।

53. मानसीकाव्यक्रिया (आशु काव्य कला) — चौंसठ कलाओं में गणित यह कला बौद्धिक कला से सम्बन्धित है। जो साहित्य और समाज दोनों जगह उपयोगी है। निश्चय ही आशु काव्य करने की कला ज्ञान तथा प्रत्युत्पन्नमतित्व से सम्बन्धित है। इस कला के बारे बताते हुए शास्त्रों में कहा गया है कि - मनसि भवा चिन्ता। दृश्यादृश्यभेदविषया द्विधा। तत्र कश्चिद्व्यंजनाक्षरैः पद्मोत्पलाद्याकृतिभिर्यथास्थितानुस्वारविसर्जनीययुतैः श्लोकमनुक्तार्थं लिखति। अन्यश्च मात्रासन्धिसंयोगासंयोगच्छन्दोविन्यासादिभिरभ्यासादतीवाक्षरं पठति। इति दृश्यविषया। यदा तु तथैव तानि यथाक्रममाख्यातानि श्रुत्वा पूर्ववदुन्नीय पठति, तदा दृश्यविषया न भवति। सा चाकाशमानसीत्युच्यते। तदुभयं क्रीडार्थं वादार्थं च। काव्यक्रियेति। संस्कृतप्राकृतपभ्रंशकाव्यस्य करणं प्रतीतप्रयोजनम्।

54. अभिधानकोशः (शब्द-कोश निर्माण कला) — यह कला भी बौद्धिक कला से सम्बन्धित है। विभिन्न प्रकार के उपयोगी शब्दकोशों के निर्माण की कला हमेशा से ही ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उपयोगी रहा है। वैसे प्राचीन शास्त्रों में इसकी व्याख्या में कहा गया है कि - उत्पलमालादिः।

55. छन्दोज्ञानम् (छन्द निर्माण कला) — यह कला बौद्धिक विकास से सम्बन्धित है। वैदिक काल से ही इस कला का प्रयोग भारतवर्ष में होते आ रहा है। वैदिक छन्दों के बाद लौकिक छन्दों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। छन्द का ज्ञान काव्य रचना के लिए आवश्यक है। काव्य रचना में यह सदैव लाभप्रद है। न केवल संस्कृत में अपितु अन्य भाषाओं में छन्द का ज्ञान कवियों,

लेखकों और बुद्धिजीवियों के लिए उपयोगी है। इस कला के बारे में प्राचीन ग्रन्थों में कहा गया है - पिंगलादिप्रणीतस्यच्छन्दसो ज्ञानम्।

56. क्रियाकल्पः (काव्यालंकारशास्त्र के ज्ञान की कला) — यह एक साहित्यिक कला है। इस कला का ज्ञान कवियों, लेखकों के साथ साथ वर्तमान युग में पत्रकारिता के क्षेत्र में उपयोगी है। यह बौद्धिक विकास में साधक है। प्राचीन शास्त्रों में कहा गया है - काव्यकरणविधिः काव्यालंकार इत्यर्थः। त्रितयमपि काव्यक्रियांगम् परकाव्यावबोधार्थं च।

57. छलितकयोगाः (वेष बदलकर छलने की कला) — इस कला की उपयोगिता वेष बदलकर मनोरंजन करने, छलने आदि में किया जाता है। कहा भी गया है - परव्यामोहनार्थाः।

58. वस्त्रगोपनानि (वस्त्रगोपन कला) — चौंसठ कलाओं में यह कला विशेष रूप प्रशंसनीय है। शास्त्रों में कहा गया है - वस्त्रेणाप्रकाश्यदेशस्य संवरणं यथा तद्भूयमानमपि तस्मान्नापैति। त्रुटितस्यात्रुटितस्येव परिधानम्। महतो वस्त्रस्य संवरणादिनाल्पीकरणम्। इति गोपनानि।

59. द्यूतविशेषः (विभिन्न प्रकार की द्यूतक्रीड़ा की कला) — यह प्राचीन कला है। इसका उपयोग आजकल विभिन्न प्रकार के उत्सवों में मनोरंजनार्थ किया जाता है। प्राचीन ग्रन्थों में इसके बारे कहा गया है कि - निर्जीवद्यूतविधानमेतत्। तत्र ये प्राप्त्यादिभिः पंचदशभिरंगैर्मुष्टिक्षुल्लकादयो द्यूतविशेषाः प्रतीतार्थाः।

60. आकर्षक्रीडा (पासा फेंकने-खलने आदि की कला) — यह कला खेल से सम्बन्धित है। लूडो, शतरंज, रस्साकस्सी, चौसर आदि खेलों में इस कला का उपयोग किया जाता है। शास्त्रों में इसे पाशकक्रीडा कहा गया है।

61. बालक्रीडनकानि (बच्चों के खिलौने बनाने की कला) — इस कला की उपयोगिता आज भी है। प्राचीन काल में जहाँ इस कला का उपयोग बच्चों के लिए छोटे-छोटे खिलौने बनाने से सम्बन्धित थी वहीं आज यह कला एक बड़े बाजार पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुकी है। मशीन के आने से इस कला को विकास ही मिला है। ग्रामीण क्षेत्रों में पारम्परिक रूप से अभी भी इस कला का उपयोग किया जाता है। कहा भी गया है - गृहकन्दुकपुत्रिकादिभिर्यानि बालानां क्रीडनानि तानि बालोपक्रमार्थानि।

62. वैनयिकीनाम् (विनय को सिखाने वाली कला) — यह सर्वजन से सम्बन्धित कला है। इसकी उपयोगिता जीवन जीने की कला के रूप में है। सम्भाषण से सम्बन्धित यह कला अपनी बात को प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत कराना सिखाती है। अनुशासन और विनम्रता के साथ अपनी बात को सहज रूप से रखने का ज्ञान देने वाली इस कला के बारे में कहा गया है - स्वपरविनयप्रयोजनाद्वैनयिक्य आचारशास्त्राणि हस्त्यादिशिक्षा च।

63. वैजयिकीनाम् (विजय दिलाने वाली विद्या के ज्ञान की कला) — यह एक प्राचीन कला के रूप में प्रसिद्ध हैं। सैन्य-संगठनों के लिए यह उपयोगी कला है। शास्त्रों में कहा गया है - विजयप्रयोजना वैजयिक्यः। दैव्यो मानुष्यश्च। तत्र दैव्योऽपराजितादयः। मानुष्यो याः सांग्रामिक्यः शस्त्रविद्याः।

64. व्यायामिकी (कई प्रकार के खेल, आखेट और कसरत करने की कला) — चौंसठ कलाओं में अंतिम कला के रूप में इस कला का नाम लिया जाता है। यह कला उत्यन्त ही उपयोगी है। इस कला का वर्तमान काल में उपयोग खेल के रूप में दिखाई देता है। साथ ही

सर्कस आदि में यह कला जीविकोपार्जन के लिए उपयोगी है। शास्त्रों में कहा गया है— व्यायामप्रयोजना व्यायामिक्यो मृगयाद्याः। एतास्तिस्र आत्मोत्कर्षरक्षणार्था जीवार्थाः।

वात्स्यायन के उक्त कथन से यह भलीभांति समझा जा सकता है कि चौसठ कलाओं में वर्णित आलेख्यम् (चित्रकला) का प्रचलन बहुत पहले से था और उसके कला नियम भो निर्धारित रहे होंगे। चित्रकला स्मृति, भावना, आनन्द आदि को मूर्त रूप देना तथा समुचित रगों के उपयोग एव छापा- प्रकाश आदि के कौशलपूर्ण प्रयोग द्वारा उसमें सजीवता, भावाभिव्यक्ति और सादृश्य का बोध कराया जाना चित्र है।

अमरकोश में लिखा है 'चीयते इति चित्रम् (चित्रम्-चिनौति, चीयते वा। चि का प्रत्यय) अर्थात् चित्रकार के चयन की स्वाभाविक परिणति करनेवाली अकृत्रिम षडङ्ग-माला ही चित्र है। 'शिल्परत्न' में लिखा है- 'चित्र रति यत् चित्रम्' अर्थात् जो चित्र आनन्दित करता है वही वस्तुतः चित्र है और यह आनन्द 'रस' से उत्पन्न होता है- 'रसो वै सः' यह आत्मा' का संस्कार करता है- 'आत्मानं संस्कुरुते' यह आत्मा अगर पट, भित्ति या फलक किसी पर भी चित्रित या अधिष्ठित रहता है तब एकमात्र वही चित्र है। आत्मा आत्मीयता के लिए व्याकुल रहती है। चारों ओर के वातावरण की आत्मीयता में अपने को प्रकट करने के लिए उसमें (आत्मा में) एक विशाल अभिव्यक्ति की वेदना या व्याकुलता उदित होकर निरन्तर कार्यरत रहती है यह रूप, प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य के द्वारा प्रकट होती है। चित्रकला के छह अंग हैं।

भारतवर्ष में चित्रकला कि स्वस्थ परम्परा अति प्राचीन काल से विद्यमान थी। अजन्ता के चित्रों को देखकर इस बात की पुष्टि और अधिक हो जाती है कि भारतीय धर्म और समाज में चित्रकला को विशिष्ट स्थान प्राप्त था और यदि चित्रकला का शास्त्रीय रूप विद्यमान था तो चित्रकला के नियम एवं विधि-विधान भी रहे होंगे। चित्रविधा के साथ चित्रकला के षडङ्ग का भी प्रचलन रहा होगा। इसलिए यशोधर पंडित ने कामसूत्र की टीका 'जयमंगला' में 'आलेख्य' ही टीका करते हुए निम्न श्लोक उद्धृत किया— रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्। सादृश्य वर्णिकाभंग इति चित्रं षडङ्गकम् ।। अर्थात् रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्ययोजना, सादृश्य और वार्णिकाभग ये चित्रकला के छह रङ्ग हैं।

2.4.1 ललितविस्तर के अनुसार कला

(1) लङ्घितम् - कूदना (2) प्राक्चलितम् -- उछलना (3) लिपिमुद्रागरणनासंख्यासालम्भधनुवेदाः -- लिपि, मुद्रा (एक हाथ या कभी-कभी दोनों हाथों के द्वारा अथवा हाथ की उँगलियों से भिन्न भिन्न आकृतियाँ बनाना), गणना (गिनना, हिसाब), संख्या (संख्याओं की गिनती), सालम्भ (कुश्ती लड़ना), धनुर्वेद (धनुष -विद्या) (4) जवितम् -- दौड़ना (5) लवितम् -- पानी में डुबकी लगाना (6) तरणम् -- तैरना (7) इष्वस्त्रम् -- तीर चलाना (8) हस्तिग्रीवा -- हाथी की सवारी करना (9) रथः -- रथसम्बन्धी बातें (10) धनुष्कलापः –- धनुषसम्बन्धी सारी बातें (11) अश्वपृष्ठम् -- घोड़े की सवारी (12) स्थैर्यम् -- स्थिरता (13) स्थाम -- वल (14) सुशौर्यम् -- साहस (15) बाहुव्यायाम -- बाहु का व्यायाम (16) अङ्कुशग्रहपाशग्रहाः -- अंकुश और पाश इन दोनों हथियारों का ग्रहण करना (17) उद्याननिर्माणम् -- ऊँची वस्तु को फांदकर और दो ऊँची वस्तु के बीच से कूदकर पार जाना (18) अपयानम् — पीछे की ओर से निकलना (19) मुष्टिबन्धः -- मुट्ठी और घूँसे की कला (20) शिखावन्धः -- शिखा बांधना (21) छेद्यम् -- काट कर भिन्न-भिन्न सुन्दर आकृतियोंको बनाना

(22) भेद्यम् -- छेदना (23) तरणम् -- नाव खेना या जहाज चलाना या तैरना (24) स्फालनम् -- (कंदुक आदि को) उछालने का कौशल (25) अक्षुण्णवेधित्वम् -- भाले से लक्ष्य वेध करना (26) मर्मवेधत्वम् — मर्मस्थलका वेधना (27) शब्दवेधित्वम् -- शब्दवेधी बाण चलाना (28) दृढप्रहारित्वम् -- मुष्टि प्रहार करना (29) अक्षक्रीडा -- पाशा फेंकना (30) काव्यव्याकरणम् –- काव्य की व्याख्या करना (31) ग्रन्थरचितम् — ग्रन्थ-रचना (32) रूपम् -- रूप निर्माण कला (लकड़ी, सोना इत्यादि में आकृति बनाना) (33) रूपकर्म - -चित्रकारी (34) अधीतम् -- अध्ययन करना (35) अग्निकर्म -- आग पैदा करना (36) वीणा -- वीणा बजाना (37) वाद्यनृत्यम् — नाचना और वाजा बजाना (38) गीतपठितम् -- गाना और कविता-पाठ करना (39) आख्यातम् — कहानी सुनाना (40) हास्यम् -- मजाक करना (41) लास्यम् -- सुकुमार नृत्य (42) नाट्यम् -- नाटक, अनुकरण- नृत्य (43) विडिम्बितम् - दूसरों का व्यंगात्मक अनुकरण, कैरिकेचर (44) माल्यग्रन्थनम् -- माला गूंथना (45) संवाहितम् -- शरीर की मालिश (46) मणिरागः -- बहुमूल्य पत्थरों का रंगना (47) वस्त्रागः -- कपड़ा रंगना (48) मायाकृतम् -- इन्द्रजाल (49) स्वप्नाध्यायः -- सपनोंका अर्थ लगाना (50) शकुनिरुतम् - पक्षी की बोली समझता (51) स्त्रीलक्षणम् -- स्त्री का लक्षण जानना (52) पुरुषलक्षणम् -- पुरुष का लक्षण जानना (53) अश्वलक्षणम् -- घोड़े का लक्षण जानना (54) हस्तिलक्षणम् --- हाथीका लक्षण जानना (55) गोलक्षणम् -- गाय, बैलका लक्षण जानना (56) अजलक्षणम् -- बकरा, बकरी का लक्षण जानना (57) मिश्रितलक्षणम् -- मिलावट पहचानने की या भिन्न-भिन्न जन्तुओं के पहचानने की कला (58) कैटभेश्वरलक्षणम् -- लिपि विशेष (59) निर्घण्टुः -- कोष (60) निगमः -- श्रुति (61) पुराणम् -- पुराण (62) इतिहास: --इतिहास (63) वेदाः -- वेद (64) व्याकरणम् -- व्याकरण (65) निरुक्तम् — निरुक्त (66) शिक्षा -- उच्चारण विज्ञान (67) छन्द – छन्द (68) यज्ञकल्पः -- यज्ञ-विधि (69) ज्योतिः -- ज्योतिष (70) सांख्यम् -- सांख्यदर्शन (71) योगः -- योगदर्शन (72) क्रियाकल्पः -- काव्य और अलंकार (73) वैशेषिकम् — वैशेषिक दर्शन (74) वेशिकम् — कामसूत्र के अनुसार वैशिक विज्ञान का प्रणयन दत्तक नामक विद्वान ने पाटलिपुत्र की वेश्याओं के अनुरोध पर किया था। (75) अर्थविद्या -- राजनीति और अर्थशास्त्र (76) बार्हस्पत्यम् -- लोकायत मत (77) आश्चर्यम् - ? (78) आसुरम् — असुरों से सम्बन्धित विद्या (79) मृगपक्षिरुतम् — पशु पक्षी की बोली समझना (80) हेतुविद्या -- न्याय-दर्शन (81) जतुयन्त्रम् — लाख के यन्त्र बनाना (82) मधूच्छिष्टकृतम् — मोम का काम (83) सूचीकर्म –- सुई के काम (84) विदलकर्म –- दलों या हिस्सों को अलग कर देने का कौशल (85) पत्रच्छेद्यम् -- पत्तियों को काट-छाँटकर विभिन्न आकृतियाँ बनाना (86) गन्धयुक्ति -- कई द्रव्यों के मिश्रण से सुगन्धि तैयार करना।

2.4.2 शुक्रनीतिसार के अनुसार कला

शुक्रनीतिसार के अनुसार कलाओं की संख्या असंख्य है, फिर भी समाज में अति प्रचलित 64 कलाओं का उसमें उल्लेख हुआ है। शुक्रनीति के अनुसार कलाओं की गणना इस प्रकार है-

(1) नर्तन (नृत्य), (2) वादन, (3) वस्त्रसज्जा, (4) रूपपरिवर्तन, (5) शैय्या सजाना, (6) द्यूत क्रीड़ा, (7) सासन रतिज्ञान, (8) मद्य बनाना और उसे सुवासित करना, (9) शल्य क्रिया, (10) पाक कार्य, (11) बागवानी, (12) पाषाणु, धातु आदि से भस्म बनाना, (13) मिठाई बनाना,

(14) धात्वोषधि बनाना, (15) मिश्रित धातुओं का पृथक्करण, (16) धातुमिश्रण, (17) नमक बनाना, (18) शस्त्रसंचालन, (19) कुश्ती (मल्लयुद्ध), (20) लक्ष्यवेध, (21) वाद्यसंकेत द्वारा व्यूहरचना, (22) गजादि द्वारा युद्धकर्म, (23) विविध मुद्राओं द्वारा देवपूजन, (24) सारथ्य, (25) गजादि की गतिशिक्षा, (26) बर्तन बनाना, (27) चित्रकला, (28) तालाब, प्रासाद आदि के लिए भूमि तैयार करना, (29) घटादि द्वारा वादन, (30) रंगसाजी, (31) भाप के प्रयोग-जलवाटवग्नि संयोगनिरोधै: क्रिया, (32) नौका, रथादि यानों का ज्ञान, (33) यज्ञ की रस्सी बटने का ज्ञान, (34) कपड़ा बुनना, (35) रत्नपरीक्षण, (36) स्वर्णपरीक्षण, (37) कृत्रिम धातु बनाना, (38) आभूषण गढ़ना, (39) कलई करना, (40) चर्मकार्य, (41) चमड़ा उतारना, (42) दूध के विभिन्न प्रयोग, (43) चोली आदि सीना, (44) तैरना, (45) बर्तन माँजना, (46) वस्त्रप्रक्षालन (संभवत: पालिश करना), (47) क्षौरकर्म, (48) तेल बनाना, (49) कृषिकार्य, (50) वृक्षारोहण, (51) सेवाकार्य, (52) टोकरी बनाना, (53) काँच के बर्तन बनाना, (54) खेत सींचना, (55) धातु के शस्त्र बनाना, (56) जीन, काठी या हौदा बनाना, (57) शिशुपालन, (58) दंडकार्य, (59) सुलेखन, (60) तांबूलरक्षण, (61) कलामर्मज्ञता, (62) नटकर्म, (63) कलाशिक्षण, और (64) साधने की क्रिया।

2.4.3 प्रबन्धकोश के अनुसार कला

(1) लिखितम् (2) गणितम् (3) गीतम् (4) नृत्यम् (5) पठितम् (6) वाद्यम् (7) व्याकरणम् (8) छन्दः (9) ज्योतिषम् (10) शिक्षा (11) निरुक्तम् (12) कात्यायनम् (13) निघण्टुः (14) पत्रच्छेद्यम् (15) नखच्छेद्यम् (16) रत्नपरीक्षा (17) आयुधाभ्यासः (18) गजारोहणम् (19) तुरगारोहरणम् (20) तपः शिक्षा (21) मन्त्रवादः (22) यन्त्रवादः (23) रसवादः (24) खन्यवादः (25) रसायनम् (26) विज्ञानम् (27) तर्कवादः (28) सिद्धान्तः (29) विषवादः (30) गारुडम् (31) शाकुनम् (32) वैद्यकम् (33) प्राचार्य विद्या (34) श्रागमः (35) प्रासादलक्षणम् (36) सामुद्रिकम् (37) स्मृतिः (38) पुराणम् (39) इतिहास: (40) वेदः (41) विधिः (42) विद्यानुवादः (43) दर्शनसंस्कारः (44) खेचरीकला (45) भ्रामरीकला (46) इन्द्रजालम् (47) पातालसिद्धिः (48) धूर्तशम्बलम् (49) गन्धवादः (50) वृक्षचिकित्सा (51) कृत्रिम मणिकर्म (52) सर्वकरणी (53) वश्यकर्म (54) पणकर्म (55) सूचित्रकर्म (56) काष्ठघटनकर्म (57) पाषाणकर्म (58) लेपकर्म (59) चर्मकर्म (60) यन्त्रकरसवती (61) काव्यम् (62) अलङ्कारः (63) हसितम् (64) संस्कृतम् (65) प्राकृतम् (66) पैशाचिकम् (67) अपभ्रंशम् (68) कपटम् (69) देशभाषा (70) धातुकर्म (71) प्रयोगोपाय (72) केवलिविधिः ।

अभ्यास प्रश्न—

1. कला शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के किस धातु से मानी जाती है।
   क. 'कल्' धातु से
   ख. 'काल्' धातु से
   ग. 'कला' धातु से
   घ. 'क्ल' धातु से
2. 'कला' शब्द का प्रयोग सर्व प्रथम हुआ किस वेद में हुआ।
   क. नाट्यवेद में
   ख. ऋग्वेद में

ग. यजुर्वेद में

घ. सामवेद में

3. कला को मुख्य रूप से कितने प्रकार से बांटा गया है।

क. 4

ख. 5

ग. 2

घ. 3

4. मोनियर विलियम के अनुसार 'कला' का अर्थ है।

क. निर्माण करना

ख. सम्पन्न करना

ग. रचना करना

घ. उपरोक्त सभी

5. वात्यायन के अनुसार कला है।

क. 64

ख. 70

ग. 86

घ. 02

6. ललितविस्तर के अनुसार कला है।

क. 64

ख. 86

ग. 70

घ. 02

7. शुक्रनीतिसार के अनुसार कलाहै।

क. 86

ख. 70

ग. 64

घ. 72

8. कला शब्द का अर्थ है।

क. प्रेरित करना

ख. शब्द करना

ग. ध्वनि करना

घ. उपरोक्त सभी

9. नीतिशतकम् के लेखक हैं।

क. आचार्य भर्तृहरि

ख. आचार्य दण्डी

ग. आचार्य वात्यायन

घ. आचार्य क्षेमेन्द्र

10. काव्यादर्श के लेखक हैं।

क. आचार्य भर्तृहरि
ख. आचार्य दण्डी
ग. आचार्य वात्यायन
घ. आचार्य क्षेमेन्द्र

11. कामसूत्र के लेखक हैं।
क. आचार्य भर्तृहरि
ख. आचार्य दण्डी
ग. आचार्य वात्यायन
घ. आचार्य क्षेमेन्द्र

12. शुक्लयजुर्वेद के अनुसार कलाहै।
क. 12
ख. 25
ग. 64
घ. 28

2.5 सारांश

'संस्कृत वाङ्मय-चतुः षष्टिकलाएँ' प्रस्तुत ग्रन्थ में कुछ संस्कृत ग्रन्थों का चौंसठ कलाओं की दृष्टि से विवेचन कर कला परम्परा के अध्ययन को समृद्ध करने का प्रयास किया गया है। शुक्लयजुर्वेद के 30 वें अध्याय में यह संख्या 28 है तो ललितविस्तर में 86 है। शुक्रप्रबन्धकोश में 72 है तो शुक्रनीति में यह संख्या यद्यपि 64 ही है तथापि इनके नाम आचार्य वात्स्यायन द्वारा प्रणीत कामसूत्र की 64 कलाओं से भिन्न हैं। आचार्य वात्स्यायन द्वारा परिगणित 64 कलाएँ ही लोक में अधिक प्रचलित एवं विद्वानों द्वारा मान्य हैं। चौंसठ कलाएँ न केवल प्राचीन काल में उपयोगी रही हैं अपितु वर्तमान काल में भी इसकी उपयोगिता और आवश्यकता बरकरार है। यद्यपि चौंसठ कलाओं की शिक्षा प्राचीन कालीन ग्रन्थों में महिलाओं के लिए विशेष उपयोगी कहा गया पर आज के दौर में यह लिंग, वर्ण, स्थान, जाति की सीमा को तोड़ते हुए सर्व सामान्य के लिए उपयोगी है। साथ ही भारतवर्ष की इन प्राचीन कलाओं को विशिष्ट रूप से संरक्षित करते हुए भावी पीढ़ी को इसे सिखाने की जिम्मेदारी भी हमारी बनती है। कला हमारे अन्दर कर्मण्यता का भाव जगाती है। हमें कर्मशील बनाती है। इसलिए कर्म को पूजा का पर्याय कहा जाता है। जीवन को कर्मक्षेत्र कहा जाता है। इसलिए जीवन जीने के लिए शैली, नियमों एवं नीति की आवश्यकता होती है। उचित उपाय और तरीके हमारे जीवन को सुन्दर तथा सफल बनाते हैं।

वात्यायन ने यह भी कहा कि ये 64 कलाएँ व्यक्ति को न केवल एक अच्छा कलाकार बनाती हैं, बल्कि उसे जीवन के विभिन्न पहलुओं में प्रवीण भी बनाती हैं। इन कलाओं के अभ्यास से व्यक्ति के मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक पहलुओं का संतुलन बनता है। वे यह मानते थे कि एक आदर्श व्यक्ति को इन सभी कलाओं में पारंगत होना चाहिए, ताकि वह न केवल अपने जीवन में बल्कि समाज में भी योगदान दे सके। वात्यायन के अनुसार, कला एक माध्यम है जो मनुष्य को उसकी आंतरिक सुंदरता और बाहरी दुनिया के साथ सामंजस्य स्थापित

करने में मदद करता है। कला से व्यक्ति के व्यक्तित्व का समग्र विकास होता है, और समाज में उसका स्थान प्रतिष्ठित होता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वात्यायन के अनुसार, चौसठ कलाएँ व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास का एक साधन हैं। इनका उद्देश्य जीवन को सुंदर, अर्थपूर्ण और संतुलित बनाना है। इन कलाओं का अभ्यास केवल शारीरिक और मानसिक विकास के लिए नहीं, बल्कि सामाजिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी आवश्यक है।

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

शब्द	अर्थ

2.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.क	2.ख	3.ग	4.घ	5.क
6.ख	7.ग	8.घ	9.क	10.ख
11.ग				
12.घ				

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. नीतिशतकम्— आचार्य भर्तृहरि
2. काव्यादर्श — आचार्य दण्डी
3. कामसूत्र — आचार्य वात्यायन
4. भारतीय संस्कृति और विरासत
5. भारतीय चित्रकला का इतिहास, लेखक डॉ. श्याम विहारी अग्रवाल
6. भारतीय चित्रकला, लेखक वाचस्पति गैरोला
7. भारतीय मूर्ति-कला, लेखक राय कृष्णदास
8. भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, डॉ. रीता प्रताप

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. कला किसे कहते है। कला का वर्णन अपने शब्दों में कीजिए
2. वात्यायन के अनुसार चौसठ कलाओं का विस्तृत वर्णन कीजिये ।
3. ललितविस्ततर के अनुसार कला का परिचय दीजिए।
4. शुक्रनीतिसार के अनुसार कला का वर्णन कीजिये ।
5. प्रबन्धकोश के अनुसार कला का वर्णन कीजिये ।

इकाई. 3 कला का वैशिष्ट्य

इकाई की संरचना

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 कला की परिभाषा
3.4 कला का वैशिष्ट्य
3.4.1 वैदिक साहित्य में कला
3.4.2 समाज में कला का महत्व
3.5 प्रस्तुति कलाओं की अवधारणा
3.5.1 हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत
3.5.2 आधुनिक भारतीय संगीत
3.5.3 लोक संगीत
3.5.4 नृत्य कला का परिचय
3.5.5 नाट्य कला का परिचय
3.5.6 कला का मानव व्यक्तित्व पर प्रभाव
3.6 सारांश
3.7 पारिभाषिक शब्दावली
3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.10 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों !

हमारे देश में अनेक कलाएँ हैं। सभी कलाएँ अपने आप में विशेष महत्व रखती हैं। कला मानव की भावनाओं को स्वाभाविक रूप से प्रकट करती हैं। संगीत, नृत्य, नाटक, लोकमंच या कठपुतली आदि प्रस्तुति कलाओं की हमारे देश में भरमार है। ललित कलाओं में चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्यकला आदि का भी विशेष महत्व है।हमारा देश समृद्ध संस्कृति तथा विरासत से संपन्न देश है। हमारी सभ्यता के आरम्भ से ही संगीत, नृत्य, नाटक हमारी संस्कृति के अभिन्न अंग रहे हैं। प्रारम्भिक दौर में कला धर्म और समाज सुधार आंदोलनों को प्रसारित करने का माध्यम थी। इनको लोकप्रिय बनाने के लिए संगीत और नृत्य को समाविष्ट किया गया था। वर्तमान समय में तो कला विधाएं सामान्य लोगों के लिए केवल मनोरंजन का साधन बन गयी हैं। प्रस्तुत इकाई कला से सम्बन्धित है। जिसके अंतर्गत आप कला की परिभाषा ,कला का वैशिष्ट्य एवं प्रस्तुति कलाओंका भली-भाँति अध्ययन करेंगे।

3.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- कला की परिभाषा को जानेंगे।
- कला के वैशिष्ट्य को जानेंगे।
- वेद एवं समाज मेंकला का क्या महत्व है ? यह जान पाएंगे।
- संगीतकला, नृत्यकला , नाट्यकला के बारे में जानेंगे।
- कला के प्रति रुचि उत्तपन्न होगी।
- सृजनात्मक क्षमता का विकास होगा।

3.3 कला की परिभाषा

परमात्मा की अनुकृति की विशिष्टम संज्ञा कला है। जिसमें सत्य, शिव और सौन्दर्य का समन्वयात्मक भाव-निदर्शन है। विभिन्न देशों के विद्वानों ने कला की व्याख्या की है। लेकिन कला की वास्तविक व्याख्या करना कठिन है। विद्वानों का कथन है कि- "मानव की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का नाम कला है।" इन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को ही विद्वानों ने आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति या सत्य की अभिव्यक्ति भी कहा है। "कला" केवल भावों का ही प्रदर्शन नहीं करती अपितु आध्यात्मिक संदेश की वाहक भी है। "कला" इतिहास का स्वयं एक शक्तिशाली प्रभाव है। अभिव्यक्तियों की मूल प्रवृतियों पर आश्रित होने के कारण वह व्यापक और अमर है। जीवन के विभिन्न अनुभवों का मूल्य समझने के लिए "कला" की आवश्यकता अनिवार्य है। संस्कृति की पहचान भी इसी के द्वारा होती है। कला चेतन है। कला के माध्यम से किसी देश के सांस्कृतिकगौरवतथा उसके विकास और उत्थान का परिचय मिलता है। भारत में "कला" विषय आत्मपरक है। जिसे समझने के लिए सूक्ष्म दृष्टि चाहिए। कलाकार सत्य का उपासक होता है। यही करण है कि आध्यात्मिक कला-साधना द्वारा भारतीय कलाकार और उनकी लोक कल्याण कला अमर है। संस्कृत साहित्य में अनेक प्रकार से कला शब्द का प्रयोग किया गया है। कार्य कौशल या शिल्प के अर्थ में "कला" शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य

भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है –**"न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला"** सामान्य दृष्टि में तो कला केवल कौशल है। परंतु विशिष्ट अर्थ में कला को ललित एवं उपयोगी समझते हैं। कला की यूरोपीय दृष्टि भी वही है। "आर्ट" शब्द के मूल में "अर्" धातु है जिसका अर्थ बनाना या पैदा करना होता है। कला सौन्दर्य एवं रूप को लेकर सामने उपस्थित होती है। आरंभ से ही प्रतीक, स्तूप, मंदिर, प्रतिमाओं का समय-समय पर विकास हुआ है, उसी के साथ चित्रकारी, संगीत, नृत्य, एवं साहित्य का सृजन हुआ। धर्म ने कला को गौरव प्रदान किया धार्मिक भावना के साथ कला में विकास तथा परिवर्तन हुए। कला ने भी धर्म को को अपना सौन्दर्य तथा अभिव्यक्ति का साधन माना। कला धर्म मर्यादा में सदा सीमित नहीं रही। वह राजा, धनी, निर्धन, मूर्ख तथा विद्वान के लिए प्रिय रही है। कला का जन-मन रंजन कार्य महत्वपूर्ण है। कलाकारों ने अपने परिश्रम से गुफ़ाएं, स्तूप, तथा मंदिरों आदि का निर्माण किया। उसमें आध्यात्मिक भावों को कला ने ग्रहण किया और गौरव तथा अमर जीवन उसे प्राप्त हुआ। बुद्ध के त्याग, वैराग्य, ज्ञान, निर्वाण आदि अनुभूतियों को कला में संचालित किया गया जो आज तक उदाहरण द्वारा जन-जीवन में उदात भावनाओं को उपस्थित करती है। इसी प्रकार जैन, हिन्दू आदि धर्मों ने कला को अपनी आत्मा समर्पित की। अतएव कला एवं धर्म का सम्बन्ध चिरकालीन है। जिसमें शिथिलता के लिए स्थान कम है। कुछ विद्वान तो पुरुषार्थ में कला को मोक्षस्वरुपा मानते हैं। त्रिवर्ग धर्मार्थकाम से संयुक्त होकर प्राणी मात्र को आनन्दमय साम्राज्य (निवृति) में ले जाती है। इसलिए यह कहना युक्ति संगत होगा कि कला ने त्रिवर्ग को समान रूप से प्राणान्वित किया है। उसमे सत्य का दर्शन होता है। कला का प्रधान साधन "कल्पना" है। कलाकार सामाजिक जीवन से दूर जाकर केवल आश्चर्य का सृजन करता है। कला का कार्य मूर्त में भाव, अवस्था तथा गुण आदि की अभिव्यक्ति तक ही सीमित नहीं है। उसमें जीवनदान तथा सत्य का प्रतिबिम्ब आवश्यक हो जाता है। अग्निपुराण में वर्णन आता है कि कलाकार भगवान से प्रार्थना करता है कि हे! प्रभु मुझे कार्य की शक्ति तथा उच्च विचरों के सकलीभूत करने की क्षमता दो। कला की रचनात्मक भाषा द्वारा सूक्ष्म को मूर्तिमान करना उसका कार्य है। यही करण है कि आवश्यक बातों को समष्टि रूप से साकार बनाने की अवस्था किसी भी वाक्शक्ति से अधिक शक्तिशाली है।

3.4 कला का वैशिष्ट्य

वाचस्पति गैरोला जी का कथन है कि - "कला कल्याण की जननी है।" इस धरती पर मनुष्य की उदयवेला का इतिहास कला के ही हाथों से लिखा गया है।'कला' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, षडविंश ब्राह्मण, सांख्यान ब्राह्मण तथा अथर्वेद में हुआ तो अवश्य है परन्तु इसका प्रयोग कार्य-कौशल, हुनर आदि के अर्थ में नहीं है।

प्राचीन साहित्य 'शिवस्वरूपविमर्शिनी' मे इसका प्रयोग ललित कला के अर्थ में हुआ है। क्षेमराज लिखते हैं –

'कलयति स्वरूपमावेशयति वस्तुनि वा
तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव कला।'

अर्थात्- नव स्वरूपसंवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को, आत्मा को परिमित करती है – इसी क्रम का नाम कला है।

आध्यात्मिक दृष्टि से कला का स्वरूप विराट रूप में प्रतिष्ठित है। कला एक कृति है। कलाकार की अभिव्यक्ति। यह सम्पूर्ण सृष्टि एक कृति है। एक अभिव्यक्ति है। जिसकी रचना, जिसका अभिव्यजन परम सत्तामय परमेश्वर द्वारा हुआ है। उस अनादि सत्तामय कलाकर ने शनै-शनै स्वयं की विराट कलाकृतियों का निर्माण किया। **"हिरण्यगर्भः समवर्त्ततात्रे"** (ऋग्वेद) यह सम्पूर्ण विश्व पहले उसी ब्रह्म में अन्तर्धान था। उसी की चेष्टा से इस सृष्टि का निर्माण हुआ। (ऐतरेय उपनिषद्) परमात्मा का निवास मूर्त एवं अमूर्त दोनों में है। अमूर्त ब्रह्म के मूर्त की अनुभूति ही यह सृष्टि है। (बृहदारण्यक) यही उसकी अनुपम कलाकृति है। दर्शन और धर्म की सतह पर कला के स्वरूप पर विचार करने वाले विद्वानों ने कला को महामाया का चिन्मय विलास कहा है। वह भगवान माहशिव की शक्ति हैं, जिससे समस्त चराचर की सृष्टि हुई है। शैव दर्शन ने कला के आध्यात्मिक महत्व को व्यापक पैमाने पर स्वीकार किया है। वहाँ महामाया के पाँच कंचुक गिनाये गये हैं। काल, नियति, राग, विद्या, और कला। शिव के लिए यह रूपशक्ति प्रेरणा का कार्य करती है। जिससे शंकर लीलाभूमि आनन्दातिरेक की अवस्था में अवतरित होकर सृष्टि-रचना के लिए प्रयुक्त होते हैं। **"लीलातास्तवराजस्तोत्र"** में इसी उद्देश्य को लक्ष्य करके कहा गया है कि शिव को जब लीला के प्रयोजन की अनुभूति होती है तब महाशक्तिरुपा महामाया से प्रेरित होकर वह जगत की सृष्टि करते हैं। इसलिए शिव की लीलासहचरी होने के कारण महामाया को "ललिता" कहा गया है। इसी महामाया,शक्तिरूपा ललिता द्वारा समस्त ललित कलाओं की उत्पत्ति हुई। क्योंकि कला की अधिष्ठात्री देवी अपार सौन्दर्य की स्वामिनी रूपविधायिनी शक्ति स्वयं ललिता हैं, अतः उनके द्वारा प्रसूत कलाओं का प्रयोजन सौन्दर्य की सृष्टि के अतरिक्त दूसरा हो भी क्या सकता है ? य सौन्दर्य अखंड, व्यष्टिस्वरूप, सूक्ष्म और एकरस है। उसकी अनुभूति के माध्यम भौतिक आधार नहीं अपितु वह सार्वत्रिक और निःसीम है।इस प्रकार "लीला" आनन्द की अनुभूति है और उसमे कला चिन्मय विलास सौन्दर्य स्वरूप है। इन दोनों के समन्वय से ही महामाया का सूक्ष्म ललितास्वरूप जाना जा सकता है। कला में सत्यानुभूति उसका आवश्यक अंग है। तभी कलाकृति के द्वारा शुद्ध विचार सृष्टि सम्भव है। कलाकार अपनी कृतियों का सृजन अपने अन्तः करण की प्रेरणा से करता है। उसका मन यथार्थ की उपेक्षा कल्पना और अन्तः प्रेरणा से अधिक उद्भाषित हुआ है। कलाकार अपनी अटूट और दुस्साध्य साधना के बल पर निराकार को साकार करने में सफल होता है। कला की आध्यात्मिक भाव-भूमि कलाकार की कल्पना को सक्रिय कर उसे उस स्थान पर ले जाकर खड़ा करती है। जहाँ वह सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् स्वरूप का निर्माण कर अपनी कृतियों में शाश्वत सत्य तथा अनन्त दीप्त पुंज को समाहित करता है। कला में सर्वाधिक महत्व की बात दिखाई पड़ती है वह है मनुष्य के उल्लासमय जीवन में हर्ष और आनन्द के भाव फूट पड़रहे हैं।प्रकृति के प्रत्येक कार्य व्यापार में उल्लसित चेतना का संचरण हो रहा है। प्रागैतिहासिक चित्रों से लेकर अब तक की कलाकृतियों में मानव मन में उत्साह उत्प्रेरणा और आनन्द के भाव सर्वत्र विद्यमान हैं। इन कृतियों का सृजन मनुष्य के अंदर उत्साह, उत्कर्ष एवं उन्नयन के भाव को जागृत करने के लिए किया गया है।

3.4.1 वैदिक साहित्य में कला

वैदिकसाहित्य में विविध कलाओं का उल्लेख आरम्भ से ही मिलता है। वेदों में काव्य के अतरिक्त संगीत (गीत-वाद्य-नृत्य) चित्र, शिल्प, वास्तु आदि प्रमुख कलाओं के अतिरिक्त

अनेक उपयोगी कलाओं का भी उल्लेख है । कला शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग 'ऋग्वेद' में मिलता है –**"यथा कलां यथा शफम् यथा ऋणं संनयामसि ।"** उपनिषदों में भी 'कला' शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है, जैसे-प्राचीदिक कला' दक्षिणादिक कला आदि । वैदिक ग्रंथों में कला का प्रचूर प्रयोग दिखायी पड़ता है । समाज और साहित्य में ललित कलाओं की क्या स्तिथि थी, इसके यद्यपि जीवित प्रमाण बहुत कम हैं । तथापि इसका उल्लेख वेद, वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत जैन-बौद्ध के साहित्य, पुराणों, नीतिसार, नाट्यशस्त्र, कामसूत्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, शिल्पशास्त्र, काव्य, नाटक और कथा- आख्यायिका आदि अनेक विषयों के ग्रंथों में देखने को मिलता है । "विष्णुधर्मोत्तरपुराण" का 'चित्रसूत्र' महाराज भोज का समरांगणसूत्राधार और सोमेश्वर का मानसोल्लास आदि ग्रंथ कला के विधि-विधानों पर विस्तार से विचार प्रस्तुत करने वाले लक्षण श्रेणी के ग्रंथों का उल्लेखनीय स्थान है । वेदों में मंत्रदृष्टा ऋषि और उस युग का सामाजिक जीवन बड़ा सरल, भावुक, तथा प्रकृति का अनुरागी था । वैदिक काल में नृत्य, गीत, वाद्य, कविता, नाटक, कहानी सुनना, उत्सव मनाना और कला कौशल आदि मनोरंजन के अनेक साधन विद्यमान थे । ये सभी बातें ललित कला के अंतर्गत गिनी जाती हैं । "कौषितकी" ब्राह्मण में नृत्य, गीत, वाद्य का सामूहिक नाम "शिल्प" था । इस दृष्टि से यह ज्ञात होता है कि वैदिक धर्म एकांकी नहीं था । साहित्य एवं कला दोनों को साथ लेकर उसका विकास हुआ । "शिल्प" अति प्राचीन शब्द है विभिन्न युगों में उसका अर्थबोध अनेक नामों से होता रहा है । शिल्प एवं कला की प्राचीनता वैदिक युग तक का स्पर्श कराती है । वैदिक युग का यह शिल्प-कला-विधान भौतिक धरातल पर अवस्थित हुआ प्रतीत होता है । रामायण में शिल्प एवं कला इन दोनों को अलग-अलग प्रयुक्त किया गया है । कठोपनिषद में कहा गया है कि रूप का धर्म है प्रतिबिम्बित होना, कल्पित होना, छन्दित होना और छायातप से प्रकट होना । आत्मा में दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब की भाँति । आत्मा में प्रतिबिम्बित रूप पूरी तरह समझना या प्रकट करना असंभव है । जब तक कि छायातप के वैषम्य को न जाना जा सके । छायातप के वैषम्य के अन्दर रूप प्रकट हो रहा है । यही बात "ऋग्वेद" में इस प्रकार से कही गयी है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नयो अभिचाकशीति ।।

अर्थात्- दो सुन्दर चिड़ियाँ जागती और सोती मानो छायातप की भाँति एक साथ रह रही हैं । एक चिड़िया फल चख रही है, गा रही है । दूसरी चुप चाप बैठी देख रही है । जीवात्मा, परमात्मा है । साकार,निराकार, रूप और अरूप इन दोनों की समता और विषमता व्यक्त कर रहा है । सच्चिदानन्दघन परमेश्वर की इस विचार सृष्टिकाल में सत्य, शिव, सुन्दर इन त्रिविध गुणों का समावेश है इसलिए कला को सत्य,शाश्वत, नित्य और अनादि कहा गया है ।

3.4.2 समाज में कलाका महत्व

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और समाज का व्यक्ति पर प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता है । कलाकर भी समाज में अपना व्यक्तित्व रखता है और साथ ही कला के माध्यम से समाज को शिक्षित एवं जागरुक करता है । साहित्य तथा कला को समाज का दर्पण माना गया है । एक में कल्पना की उड़ान तथा घटनाओं का विवेचन मिलता है तो कला-कृतियों में समाज का रूप दृष्टिगोचर होता है । कला की प्रधानता एवं वैशिष्ट्य के कारण प्राचीन युग में भी शिक्षा के साथ-साथ कला को भी स्थान दिया गया । क्षत्रिय वर्ग में राजकुमार अन्य विद्याओं के साथ-साथ

कला का भी अध्ययन करते थे। प्राचीन प्रशस्तियों में ऐसा वर्णन प्राप्त होटा है कि शासक प्रायः सब विद्याओं में निपुण होता था। याज्ञवल्क्य तथा नारद ने कला सीखने के निमित्त गुरुगृह को समुचित स्थान माना है। समाज में कलाकार स्वतंत्र रूप से कार्य करता है किन्तु सामाजिक परिस्थितियों द्वारा उसके मानसिक विकास को प्रोत्साहन मिलता है। प्राकृतिक सुंदरता से उसकी शक्ति का उद्बोधन होता है और अपनी शिक्षा, दीक्षा एवं अनुभूतियों से कला में सहायता प्राप्त करता है। सामाजिक विचारधारा का प्रभाव सदा से कला पर दृष्टिगोचर होता है। सर्व प्रथम कलाकारों ने प्रस्तर की प्रतिमाएं तैयार की परन्तु कलांतर में धातु का प्रयोग करने लगे। सामाजिक उत्सवों में देवता की प्रतिमा कलाकारों के द्वारा निर्मित होती है। आजकल भी आषाढ़ मास शुक्लपक्ष के आरम्भ में रथयात्रा का पर्व मनाया जाता है। संक्षेप में यह युक्ति संगत है कि देवताओं की अचल या चल प्रतिमा (प्रस्तर या धातु) समाज के विभिन्न धार्मिक विचार के अनुकूल तैयार होती रही। राजा भी ऐसे सामाजिक कार्यों की संरक्षता करता तथा उसकी सफलता के लिए सभी प्रकार के उपाय करता था। कलाकारों ने समाज में प्रचलित पौराणिक कथानकों का स्वागत किया और उन कथानकों के आधार पर विभिन्न प्रकार की कलाकृतियाँ तैयार की। विष्णु के दश अवतार तथा कृष्ण सम्बन्धी विभिन्नकथानक, देवी शक्तियों द्वारा राक्षसों का विनाश आदि के प्रदर्शन ने कला में स्थान ग्रहण कर लिया। कला के माध्यम से समाज की आवश्यताओं उमंगों तथा आदर्शों का परिज्ञान हो जाता है। समाज में सूत्रधार, ललित कलाकार, नकाशी करने वाला कलाविद् अपने कार्य से समाज को ऊंचा उठाने का सतत प्रयत्न करते हैं। अजन्ता के चित्रों के अवलोकन से भारतीय जीवन की झाँकी मिलती है। जिनसे लोगों का रहन-सहन, प्रेमालाप, आखेट तथा जुलूस आदि विषयों पर प्रकाश पड़ता है। सामाजिक अवस्था तथा जनसाधारण के जीवन की रूपरेखा प्रस्तर के खुदे चित्रों से तैयार की जाती है।पशु- पक्षी का सम्बन्ध तथा विभिन्न परिस्थितियों में उनकी अवस्था से प्रकृति के विज्ञान का आभास मिलता है। लोगों के आमोद-प्रमोद, मानवीय प्रवृतियों का अनुमान साधारणतया विदित हो जाता है। महान पुरुष के दैवी आचरण तथा उनके समीप स्त्री-पुरुष के पवित्र मनोभाव जनसाधारण में बल तथा उत्साह पैदा करते हैं। संसार में मनुष्य की जीवन नाटक, प्रेम, विलाप, सुख, दुख,जन्म, मरण की बातें कलाकार इस रूप में उपस्थित करते हैं। जिनसे मनुष्य को जीवन में उपदेश तथा उपलब्धियाँ मिल सकें। कला के द्वारा प्राणिमात्र का कल्याण, हित, सुख, तथा सदाचार का उपदेश देने का सतत् प्रयत्न प्राचीन भारत में किया गया है। जो की भारतीय कला की अपनी प्रमुख विशेषता हैं।

3.5 प्रस्तुति कलाओं की अवधारणा

कला मानव की भावनाओं को स्वभाविक रूप से प्रकट करती है, मनुष्य अपने मन के विचारों को स्वाभाविक रूप से विभिन्न कलात्मक रूपों में प्रकट करता है। मानव का कलात्मक झुकाव कला को जन्म देता है। वह अपने भाव को गायन, नृत्य, रेखाचित्र, चित्रकला अभिनय और मूर्तिकला के माध्यम से प्रकट करता है। कतिपय अपनी भावना को जीवन्त प्रस्तुति तथा अन्य दृश्य कला के माध्यम से प्रकट करते हैं। रेखाचित्र बनाना, चित्रकारी, मूर्तिकला दृश्य कलाएँ हैं ।गायन नृत्य, अभिनय प्रस्तुति कला की विशेषताएँ हैं। जिसमे संगीत सबसे लोक प्रिय रहा है। भारतीय संगीत का मूल सामवेद को माना जाता है। सामवेद के मंत्र संगीत बद्ध रूप में गाए जाते हैं। आचार्य भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में कलाओं का वर्णन विशिष्ट रूप में किया गया है। इसमें

संगीत के छः अध्याय हैं। मातंग जी की 'बृहद्देशी' पुस्तक जिसे 8वीं-9 वीं के बीच लिखा गया था ।इस पुस्तक में 'रागों' का पहली बार नामकरण एवं उन पर विस्तृत रूप से चर्चा की गई है। 13वीं शताब्दी में सारंगदेव जी ने 'संगीत-रत्नाकर' लिखा ग्रंथ लिखा, जिसमें 264 रगों का वर्णन है। तार और वायु वाद्ययंत्रों के कई प्रकारों की खोज बाद के समय में हुई। प्राचीन पुस्तकों में बाँसुरी, ढोल, वीणा, तारों के वाद्ययंत्र, मंजीरा आदि वाद्ययंत्रों की चर्चा है। समुद्रगुप्त, धारा के राजा भोज और कल्याण के राजा सोमेश्वर ने भी संगीत को संरक्षण दिया था। गुप्त सम्राट समुद्र गुप्त स्वयं कुशल संगीतकार थे। सिक्कों में उन्हे वीणा बजाते हुए दिखाया गया है ।मंदिरों में देवी-देवताओं की पूजा करते हुए संगीत का प्रयोग होता है। 12 वीं शताब्दी में उडीसा के जयदेव ने 'गीत-गोविंद' जैसे उत्कृष्ट रागकाव्य की रचना की जिसका प्रत्येक गीत रागों पर आधारित था। यह काव्य में श्रीराधाकृष्ण के प्रेम प्रसंगों पर निर्मित है। अभिनवगुप्त द्वारा रचित 'अभिनवभारती' ग्रंथ संगीत के बारे में उपयोगी जानकारी प्रदान करता है । तमिल संगीत की बहुत सारी शब्दावलियाँ और धारनणाएँ संस्कृत शास्त्रों के समानांतर हैं । शैववादी 'नयनार' और वैष्णववादी 'अलवारों' ने अपनी कविताओं की रचना संगीत के आधार पर की। इसी प्रकार मध्यकाल में सूफी और भक्ति संतों ने संगीत को बढ़ावा दिया। सूफी खानकाहों में कव्वालियाँ गई जाती थी। भक्ति संतों के कारण भक्ति संगीत जैसे कीर्तन और भजन आदि लोकप्रिय हुए। इनमें प्रसिद्ध हैं- कबीरदास, मीराबाई, सूरदास, चंडीदास, तुलसीदास, विद्यापति आदि। अमीर खुसरो ने भी संगीत के विषय में अपना योगदान किया। प्रसिद्ध शासक बाजबहादुर और उनकी पत्नी रानी रूपमती ने नए रगों की रचना की थी।

3.5.1 हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की उत्तपत्ति का काल दिल्ली सल्तनत एवं अमीर खुसरो (सन् 1253-ई० – 1325 ई०) तक माना जा सकता है। अमीर खुसरों ने एक विशेष तरीके से संगीत की वाद्ययंत्रों सहित प्रस्तुति की कला को बढावा दिया। यह माना जाता है कि उन्होंने ही सितार और तबला का आविष्कार किया था। साथ ही नवीन रगों का भी निर्माण किया था ।हिन्दुस्तानी संगीत के ज्यादातर संगीतज्ञ स्वयं को तानसेन की परम्परा का वाहक मानते हैं। ध्रुपदं ठुमरी, ख्याल, टप्पा आदि शास्त्रीय संगीत की अलग-अलग विधाएँ हैं। माना जाता है की तानसेन के संगीत में जादू सा प्रभाव था। वे यमुना नदी की उठती हुई लहरों को रोक सकते थे। और 'मेघ मल्हार' राग की शक्ति से वर्षा करवा सकते थे। कतिपय लोक प्रिय राग है – बहार, भैरवी, सिन्धु, भीम पलासी, दरबारी, देश , पीलू आदि। भारत में वाद्य संगीत की भी बहुत विधाएं हैं – सितार, सरोद, संतूर,सारंगी जैसे प्रसिद्ध वाद्य हैं। पखावज , तबला और मृदंगम ताल देने वाले वाद्य हैं। इसी प्रकार बाँसुरी, शहनाई और नादस्वरम् आदि मुख्य वायु वाद्य हैं।

3.5.2 आधुनिक भारतीय संगीत

भारत में अंग्रेजों के शासन काल के समय पाश्चात्य संगीत भी हमारे देश में आया। जिसके चलते भारतीयों ने वायलिन और शहनाई वाद्ययंत्रों को अपनाया। मंच पर संगीत का वृन्दवादन एक नया विकास है। कैसेटों के उपयोग ने धुनों और रगों के मौखिक प्रदर्शन को प्रतिस्थापित कर दिया है। संगीत, कतिपय सुविधा-सम्पन्न धनी लोगों के बीच ही सीमित था। परंतु अब सभी को उपलब्ध है। देश में विभिन्न मंचीय प्रदर्शनों के द्वारा हजारों संगीत प्रेमी आनंद उठा सकते हैं

। संगीत की शिक्षा अब गुरु-शिष्य व्यवस्था पर ही निर्भर नहीं है । अब संगीत की शिक्षा संगीत संस्थाओं (संगीत विद्यालयों) में भी दी जाती है ।

3.5.3 लोक संगीत

भारत में शास्त्रीय संगीत के अतरिक्त लोक संगीत की एक समृद्ध विरासत है । यह संगीत जन भावनाओं को प्रस्तुत करता है । साधारण गीत, जीवन के प्रत्येक घटनाओं को चाहे वह कोई पर्व हो, नई ऋतु का आगमन हो, विवाह या किसी बच्चे के जन्म का अवसर हो, ऐसे उत्सव मनाने के लिए रचे जाते हैं । राजस्थानी लोग संगीत जैसे मांड, भाटियाली और बंगाल की भटियाली पूरे देश में लोकप्रिय है । हरियाणा का प्रसिद्ध लोकगीत रागिनी है । लोक गीतों का एक विशेष अर्थ एवं संदेश होता है ।लोक गीत अधिकतर ऐतिहासिक घटनाओं और महत्वपूर्ण अनुष्ठानों का वर्णन करते हैं । कश्मीरी 'गुलराज' सामान्यतः एक लोक कथा है । मध्य प्रदेश का 'षड्याणी' भी एक कथा है, जिसे संगीतबद्ध कर प्रस्तुत किया जाता है ।

3.5.4 नृत्य कला का परिचय

भारतीय ज्ञान-विज्ञान, संस्कृति और कला आदि का मूल वेद हैं । नृत्यकला का मूल भी वेद को ही माना जाता है । ऋग्वेद मे 'नृति' एवं नृतु का उल्लेख प्राप्त होता है । उषा काल की सुंदरता की तुलना सुंदर वेश-भूषा युक्त नृत्यांगना से की है । जैमिनी एवं कौशीतकी ब्राह्मण ग्रंथों में नृत्य और संगीत का एक साथ उल्लेख प्राप्त होता है । महाकव्यों में भी नृत्य के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं । भारत में नृत्य कलाओं के इतिहास का प्रारम्भ हड़प्पा संस्कृति में खोजा जा सकता है । हड़प्पा में मिली नृत्यांगना की एक कांस्य मूर्ति का साक्ष्य इस बात को साबित करता है कि वहाँ स्त्रियों द्वारा नृत्य का प्रदर्शन होता था । भारतीय परम्परागत संस्कृति में नृत्यों के द्वारा धार्मिक विचारों को सांकेतिक अभिव्यक्ति दी जाती थी । नटराज के रूप में शिव की मुद्रा, सृष्टि चक्र के निर्माण व ध्वंश को दर्शाती है । नटराज के रूप में शिव की लोकप्रिय प्रतिमा भारतीय जन मानस पर नृत्य के प्रभाव को दर्शाती है । दक्षिण भारत के अनेक मंदिरों में नृत्य करते देवों की विभिन्न मुद्राओं वाली मूर्तियाँ हैं ।कत्थकली, मणिपुरी, भरतनाट्यम, कत्थक, कुचीपुड़ी तथा ओडिसी कुछ भारतीय शास्त्रीय नृत्यों के प्रकार हैं । नृत्य का किस समय पर आविर्भाव हुआ यह कहना कठिन है । परन्तु खुशी को व्यक्त करने के लिए नृत्य अस्तित्व में आया । धीरे-धीरे नृत्य को लोक तथा शास्त्रीय दो भागों में बाँटा गया । शास्त्रीय नृत्य को मंदिरों तथा शाही राज दरबार में प्रस्तुत किया जाता था । मंदिरों में नृत्य धार्मिक उद्देश्य से किए जाते थे । जबकि राज दरबार में यह केवल मनोरंजन का साधन मात्र था । दक्षिण भारत में भरतनाट्यम व मोहिनीअट्टम् मंदिरों में धर्मिक अनुष्ठानों के एक महत्वपूर्ण पहलू के रूप में विकसित हुए । रामायण एवं महाभारत में भी नृत्य कला की प्रस्तुति है ।कत्थक व मणिपुरी अधिकांशतः भगवान कृष्ण की कथाओं एवं उनके रास नृत्य से सम्बद्ध होते हैं । ओडिसी नृत्य भगवान जगन्नाथ की पूजा से संबंधित है । उत्तर भारत में कत्थक को विशेष रूप से मंदिरों में कृष्ण लीला और भगवान शिव की कथाओं को प्रदर्शित करने के लिए किया जाता है । लेकिन साथ ही साथ इस नृत्य को मध्यकाल में राजदरबारों में भी प्रस्तुत किया गया । आचार्य भरतमुनि का नाट्यशास्त्र नृत्य कला का प्रथम स्रोत है । वैसे तो नाट्यशास्त्र नाट्य कला से सम्बन्धित है परंतु नाटक के अभिन्न अंश के रूप में आचार्य भरत ने नृत्य व उसके अनेक अंगों की विस्तृत चर्चा की है । मुखाकृति, शारीरिक भाव भंगिमाएं, हस्तमुद्रा तथा पद संचालन सभी को तीन भागों में विभाजित करते हुए उन्हें 'नृत्त' (पद

संचालन), नृत्य (अंग संचालन) तथा नाट्यम (अभिनय) की संज्ञा दी गई है। प्रारंभ में पुरुषों और महिलाओं दोनों ने नृत्य मे विशेष रुचि ली थी। परंतु समाज महिला नर्तकी को हेय दृष्टि से देखने लगा। लेकिन अब सारी चीजें बदल गई हैं। महान संगीतविदों के प्रयत्नों और सामाजिक सुधार आंदोलनों आदि के फलस्वरूप जनसमुदाय महिला कलाकारों को सम्मान की नजरों से देखने लगे हैं। मध्यकालीन काल में मुगल शासकों ने कत्थक नृत्य को प्रोत्साहन दिया। मुगल शासकों में 'औरंगजेब' को छोड़कर ये नृत्य प्रस्तुतियाँ दरबार में पेश की जाती थी। दक्षिण भारत में, मंदिर, दरबार तथा भवनों में नर्तकों के लिए विशेष मंच प्रदान कियाजाता था। नव रस, राम, कृष्ण, गणेश, दुर्गा आदि की पौराणिक कथाओं को नृत्य के द्वारा अभिनीत किया जाता था। उत्तर भारत के कुछ शासक जैसे वाजिद अली शाह संगीत और नृत्य के बड़े संरक्षक थे। लखनऊ घराना या नृत्य की पाठशाला के बीज यहीं बोये गये। पंडित बिरजु महाराज लखनऊ घराना के ही नर्तक रहे हैं। आधुनिक काल में हमें दक्षिणभारतीय शास्त्रीय नृत्यों में अधिक नृत्यों के रूप प्राप्त होतें हैं। कुचीपुड़ी, भरतनाट्यम्, मोहनीयअट्टयम्, कथकली तथा पूर्व दिशा में ओडिशा नृत्य विकसित हो रहा था। शास्त्रीय नृत्यों के साथ-साथ लोकनृत्य भी विकसित हो रहा था। अनेक राज्यों में स्थानीय नृत्य भी लोकप्रिय हो गए। मणिपुर नृत्य, संथालनृत्य रवीन्द्रनाथ की नृत्य नाटिकाएँ, छाऊ, रास, गिद्दा, भांगड़ा, गरबा आदि कुछ लोकनृत्य भारत में प्रचलित हो रहे थे। हमारे देश के प्रायः सभी राज्यों ने अपने लोकनृत्यों की समृद्ध परम्परा विकसित कर ली है ।जैसे आसाम का बिहु, लद्दाख का मुखौटा नृत्य, मेघालय का वांगला, सिक्किम का भूतिया या लेप्चा नृत्य। कुछ मर्सल डांस भी है जैसे- उत्तराखंड का छोलीया, केरल का कलारी पैटटु, मणिपुर का थाँग- ता आदि प्रसिद्ध नृत्य हैं।

3.5.5नाट्य कलाका परिचय

अन्य कलाओं की भाँति नाटक का मूल वेद के संवादों में ही प्राप्त होते हैं। रामायण में महिलों के नाटकमंडलों का वर्णन है और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में संगीततज्ञों, नर्तकों तथा नाटकों के मंचन का वर्णन प्राप्त होता है। नाटक के विषय में आचार्य भरतमुनि ने नट (पुरुष कलाकार) को और नटी (स्त्री कलाकार) को कहा है। संगीत, नृत्य, वाद्यों, संवाद, विषय, मंच आदि के बारे में लिखा है। भरत मुनि के अनुसार नाटक सम्प्रेषण का सर्वोत्तम माध्यम है। इन्होंने नाटक के लिए एक चारदीवारी से युक्त क्षेत्र की भी कल्पना की थी। इन्होंने नाटक के लिए एक विशेष पात्र 'शैलूष' का वर्णन किया है। जिनके पास व्यावसायिक नाटक कंपनियाँ होती थी। साहसिक कहानियों का गायन को जनता में काफी लोक प्रियता प्राप्त हुई जिसके फलस्वरूप ये पेशेवर कलाकार जिनको 'कुशीलव' कहा जाता था। इनका अस्तित्व में आना प्रारंभ हुआ। बुद्ध और महावीर के काल में नाटक, उनके धर्म सिद्धांतों को जनसाधारण तक पहुँचाने का माध्यम था। लघु नाटक और लंबे नाटकों का उद्देश्य जनसमुदाय को शिक्षा एवं उपदेश प्रदान करना होता था। नृत्य और संगीत, नाटक के प्रभाव को बढ़ाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। प्राचीन काल में 10वीं शताब्दी तक शिक्षित लोगों की भाषा संस्कृत थी। इसलिए नाटक भी इसी भाषा में होते थे। जो कलाकर निम्न वर्गों और महिलाओं की भूमिका निभाते थे, उन्हें प्राकृत भाषा में संवाद बोलने पड़ते थे। विश्व प्रसिद्ध महाकवि कलिदास का नाटक "अभिज्ञानशकुन्तला" भी संस्कृत में लिखा गया है। भाष दूसरे प्रसिद्ध नाटककार थे। उन्होंने 13 नाटक लिखे। प्राकृत भाषा में नाटक 10 वीं शताब्दी तक अधिक लोक प्रिय बन गये थे। विद्यापति 14वीं शताब्दी के

महत्त्वपूर्ण नाटककार थे । उमापति मिश्र और शारदा तनय ने भी इस काल में नाटक को प्रोत्साहित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । अलग-अलग राज्यों में लोक नाटकों के प्रकारों को भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है । जैसे बंगाल में 'जात्रा, कीर्तनिया, नाटक । बिहार में बिदेसिया । राजस्थान में ए=रास, झूमर, ढोलामारू । उत्तर प्रदेश में रास, नौटंकी, स्वांग, भांड । गुजरात में भवाई । महाराष्ट्र में लाड़ित, तमाशा । तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक में कथकली, यक्षगान ('कुन्तेश्वर दैत्यम्' नामक नाटक से प्रमाणित होता है कि कालिदास गुप्त काल में ही हुए थे ।) ढोल, करताल, मंजीरा, खंजीरा आदि कुछ वाद्य यंत्र लोक नाटकों में प्रयुक्त होते थे । मध्यकाल संगीत और नृत्य में समृद्ध था, किन्तु नाटक को इस काल में अधिक महत्व नहीं दिया गया था । वाजिद अली शाह जैसा कला संरक्षक बादशाह, नाट्य कला का भी संरक्षक था । वह कलाकारों को नाटकों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करता था । स्थानीय बोली में मंचित लोक नाटक बहुत ज्यादा लोक प्रिय थे । 18वीं शताब्दी में कलकत्ता में एक अंग्रेज द्वारा एक नाटक ग्रुप की स्थापना की गई । एक रूसी जिसका नाम होरासिम लेबेदेव था, उसने भारत में एक बंगाली थियेटर की नींव डाली, जिसको भारत में आधुनिक भारतीय थियेटर की शुरुआत का द्योतक माना जाता है । मध्यकाल में लिखे गये लोकप्रिय नाटक "विद्यासुन्दर"पर जात्रा का प्रभाव था । जबकि "गीतगोविंदम्" जिसमें महान कवि जयदेव ने श्रीकृष्ण की लीलाओं से सम्बन्धित कहानियों को वर्णित किया उन पर भी कीर्तनिया नाटक और जात्रा का प्रभाव दृष्टि गोचर होता है । वर्तमान में नाटक के क्षेत्र में अनेक प्रयोग किए जा रहे हैं । आजकल विविध प्रकार के नाटक प्रचलित हैं । जैसे- मंच थियेटर, रेडियो थियेटर, नुक्कड़ या वीथि नाटक, एकामिनय (एक यात्रीय प्रदर्शन), संगीतमय थियेटर, लघु झलकियाँ, एकांकी नाटक । सबसे प्रमुख साहित्यिक कृति जिसने ण केवल नृत्य और नाटक को प्रभावित किया अपितु चित्रकला भी प्रभावित हुई, वह है 13वीं शताब्दी में जयदेव का गीतगोविन्द । इसका प्रभाव नृत्य और नाटक पर पूरे भारत में देखा जा सकता है । पूर्व में मणिपुर और आसाम से पश्चिम में गुजरात, उत्तर में मथुरा और वृंदावन, दक्षिण में तमिलनाडु और केरल, सम्पूर्ण देश में गीतगोविन्द पर असंख्य व्याख्याएँ प्रचलित हैं ।

3.5.6 कला का मानव व्यक्तित्व पर प्रभाव

कला मनुष्य को एक श्रेष्ठत्तर मानव बनाती हैं । क्योंकि कला विधाएँ मानव आत्मा को उदात्त बनाती हैं और एक आनंददायक वातावरण का निर्माण करती है । इन कलाओं का ज्ञान एवं अभ्यास व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करता है । कलाओं में संलग्न व्यक्ति आत्म संतुलन,आत्म शांति, आत्म नियंत्रण और दूसरों के लिए स्वयं में प्रेम का भाव प्राप्त कर सकता है । कला का कौशल उन्हे आत्मविश्वासी और आत्मनियंत्रित के साथ-साथ स्वयं को परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लेने वाला भी बनाता है । व्यक्ति में नकारात्मक भवनाओं का लोप हो जाता है । इसका कारण यह है कि

नृत्य, संगीत और नाटकसभी को दूसरों से प्रेम करना और दूसरों की भलाई करने की शिक्षा प्रदान करते हैं ।

3.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने कला के वैशिष्ट्य आदि का अध्ययन किया आपने जाना किवेदों में काव्य के अतरिक्त संगीत (गीत-वाद्य-नृत्य) चित्र, शिल्प, वास्तु आदि प्रमुख कलाओं

के अतिरिक्त अनेक उपयोगी कलाओं का भी उल्लेख है । कला शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग 'ऋग्वेद' में मिलता है – **"यथा कलां यथा शफम् यथा ऋणं संनयामसि।"** उपनिषदों में भी 'कला' शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है, जैसे-प्राचीदिक कला' दक्षिणादिक कला आदि । वैदिक ग्रंथों में कला का प्रचूर प्रयोग दिखायी पड़ता है । समाज और साहित्य में ललित कलाओं की क्या स्तिथि थी, इसके यद्यपि जीवित प्रमाण बहुत कम हैं । तथापि इसका उल्लेख वेद, वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत जैन-बौद्ध के साहित्य, पुराणों, नीतिसार, नाट्यशस्त्र, कामसूत्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, शिल्पशास्त्र, काव्य, नाटक और कथा- आख्यायिका आदि अनेक विषयों के ग्रंथों में देखने को मिलता है । 'कला' मानव की भावनाओं को स्वभाविक रूप से प्रकट करती है, मनुष्य अपने मन के विचारों को स्वाभाविक रूप से विभिन्न कलात्मक रूपों में प्रकट करता है । मानव का कलात्मक झुकाव कला को जन्म देता है । वह अपने भाव को गायन, नृत्य, रेखाचित्र, चित्रकला अभिनय और मूर्तिकला के माध्यम से प्रकट करता है । कतिपय अपनी भावना को जीवन्त प्रस्तुति तथा अन्य दृश्य कला के माध्यम से प्रकट करते हैं । रेखाचित्र बनाना, चित्रकारी, मूर्तिकला दृश्य कलाएँ हैं । गायन नृत्य, अभिनय प्रस्तुति कला की विशेषताएँ हैं ।कलाकर भी समाज में अपना व्यक्तित्व रखता है और साथ ही कला के माध्यम से समाज को प्रतिबिम्बित करता है । साहित्य तथा कला को समाज का दर्पण कहा गया है । एक में कल्पना की उड़ान तथा घटनाओं का विवेचन मिलता है तो कला-कृतियों में समाज का रूप दृष्टिगोचर होता है । कला की प्रधानता एवं वैशिष्ट्य के कारण ही प्राचीन युग में भी शिक्षा के क्रम में कला को स्थान दिया गया । क्षत्रिय वर्ग में राजकुमार अन्य विद्याओं के साथ-साथ कला का भी अध्ययन करते थे । प्राचीन प्रशस्तियों में ऐसा वर्णन आता है कि शासक प्रायः सब विद्याओं में निपुण होता था । याज्ञवल्क्य तथा नारद ने कला सीखने के निमित्त गुरुगृह को समुचित स्थान माना है ।क्योंकि कला विधाएँ मानव आत्मा को उदात्त बनाती हैं और एक आनंददायक वातावरण का निर्माण करती है । इन कलाओं का ज्ञान एवं अभ्यास व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करता है । कलाओं में संलग्न व्यक्ति आत्मसंतुलन,आत्म शांति, आत्म नियंत्रण और दूसरों के लिए स्वयं में प्रेम का भाव प्राप्त कर सकता है ।

3.7 पारिभाषिक शब्दावली

- विशिष्टम - विशेषता युक्त, असाधारण
- प्रचूर - अधिक
- अवलोकन - ध्यान पूर्वक देखना
- वैशिष्ट्य - विशेषता, श्रेष्ठता
- प्रतिबिम्ब - प्रतिमा, मूर्ति
- उत्कर्ष - उन्नति
- उद्भाषित - प्रकाशित, उद्दीप्त, प्रतीत, प्रकट
- अभिव्यक्ति - प्रकट करना, प्रकाशन
- संकलन - इकट्ठा करना
- आत्मपरक - स्वयं पर केंद्रित, स्वयं के अनुकूल

- परिमित - जिसे मापा जा चुका हो
- व्युत्पत्ति - उत्पत्ति, मूल, उद्गम
- विषमता - विषम होने का भाव

अभ्यास प्रश्न 1

(1) निम्नलिखित प्रश्नों के उचित विकल्प का चयन कीजिये।

1.अर्थशास्त्रके रचयिता हैं।

(क) कौटिल्य

(ख) मनु

(ग) अश्वघोष

(घ) भोज

2. "न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला" यह उक्ति है।

(क) महर्षि व्यास

(ख) मनु

(ग) आचार्य भरत

(घ) कौटिल्य

3. 'संगीत-रत्नाकर' ग्रंथ के रचयिता है।

(क) मातंग

(ख) सारंगदेव

(ग) आचार्य भरत

(घ) तानसेन

4. शिव की लीलासहचरी होने के कारण महामाया को कहा गया है।

(क) सुंदरी

(ख) देवी

(ग) कला

(घ) ललिता

5. 'संगीत-रत्नाकर' ग्रंथ में कितने रागों का वर्णन है ?

(क) 262

(ख) 263

(ग) 264

(घ) 265

(2) रिक्तस्थानों की पूर्ति कीजिये।

1. भारतीय ज्ञान-विज्ञान, संस्कृति और कला आदि का मूल----------हैं।

2. मातंग जी की----------पुस्तक जिसे 8वीं-9 वीं के बीच लिखा गया था ।इस पुस्तक में 'रागों' का पहली बार नामकरण एवं उन पर विस्तृत रूप से चर्चा की गई है।

3. रामायण में शिल्प एवं ---------- इन दोनों को अलग-अलग प्रयुक्त किया गया है।

4.भारतीय परम्परागत संस्कृति में नृत्यों के द्वारा धार्मिक विचारों को---------- अभिव्यक्ति दी जाती थी।

5. गुप्त सम्राट समुद्र गुप्त स्वयं एक कुशल---------- थे।

(3) सही गलत का चयन कीजिये।

1.प्राचीन काल में क्षत्रिय वर्ग में राजकुमार अन्य विद्याओं के साथ-साथ कला का भी अध्ययन करते थे।( )

2. दक्षिण भारत में भरतनाट्यम व मोहिनीअट्टम् मंदिरों में धर्मिक अनुष्ठानों के एक महत्वपूर्ण पहलू के रूप में विकसित हुए।( )

3. कौटिल्य के अर्थशास्त्र में संगीततज्ञों, नर्तकों तथा नाटकों के मंचन का वर्णन प्राप्त नहीं होताहै। ( )

4. हिन्दुस्तानी संगीत के ज्यादातर संगीतज्ञ स्वयं को तानसेन की परम्परा का वाहक मानते हैं।( )

5. आचार्य भरतमुनि का नाट्यशास्त्र नृत्य कला का प्रथम स्रोत नहीं है।( )

3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1 क, 2 ग, 3 ख, 4 घ, 5 घ
2. 1 वेद, 2 बृहद्देशी, 3 कला, 4 सांकेतिक, 5 संगीतकार
3. 1 सही, 2 सही, 3 गलत, 4 सही, 5 गलत

3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.प्राचीन भारतीय मूर्ति-विज्ञान, लेखक डॉ वासुदेव उपाध्याय

2.भारतीय चित्रकला का इतिहास, लेखक डॉ श्याम विहारी अग्रवाल

3.भारतीय चित्रकला, लेखक वाचस्पति गैरोला

4.भारतीय मूर्ति-कला, लेखक राय कृष्णदास

5.भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, डॉ रीता प्रताप

6. भारतीय संस्कृति और विरासत

3.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. कला का वैशिष्ट्य लिखिए।

2.समाज में कला का क्या महत्व है ? वर्णन कीजिए।

3.नृत्य कला का वर्णन अपने शब्दों में कीजिए।

4.नाट्यकला का वर्णन अपने शब्दों में कीजिए।

खण्ड- दो (Section-B)
शिल्प एवं वास्तुकला

इकाई 1 चित्र एवं मूर्तिकला

इकाई की संरचना

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 चित्रकला का परिचय
1.3.1 प्राचीन युग में कला
1.3.2 मध्यकालीन चित्रकला
1.3.3 आधुनिक चित्रकला
1.3.4 अलंकृत कला का परिचय
1.3.5 मिथिला चित्रकला का परिचय
1.3.6 कलमकारी चित्रकला का परिचय
1.3.7 वर्ली चित्रकला का परिचय
1.3.8 कालीघाट चित्रकला का परिचय
1.4 मूर्तिकला का परिचय
1.4.1 हड़प्पा काल की मूर्तिकला एवं स्थापत्य कला
1.4.2 मौर्यकालीन वास्तुकला एवं मूर्तिकला
1.4.3 मौर्योत्तर काल में मूर्तिकला
1.4.4 गुप्तकाल में कला एवं मूर्तिकला
1.4.5 पूर्व मध्यकालीन मूर्तिकला (600 से 900 ई०)
1.4.6 उत्तर-मध्यकालीन मूर्ति एवं वास्तुकला कला (900 से 1300 ई०)
1.4.7 अर्वाचीन काल की मूर्तिकला (14वीं शती)
1.5 सारांश
1.6 पारिभाषिक शब्दावली
1.7अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.8 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
1.9 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों !

भारत की संस्कृति एवं कला का स्वरूप बहुत बृहद है। 'कला' मानव जीवन का एक अभिन्न अंग है। जिसके अभाव में जीवन नितान्तरस रहित सा प्रतीक होगा। भारत में अनेक कलाएँ हैं, परन्तुभारत की ललित कलाओं ने उच्च स्थान प्राप्त किया है। 'कला' मानव अभिव्यक्ति का महत्वपूर्ण साधन मानी जाती है। नृत्य कला, काव्य कला, चित्रकला, वास्तुकला एवं मूर्तिकला इस कार्य हेतु सार्थक सिद्ध हुई हैं। सभी कलाओं का अपना-अपना विशिष्ट महत्व है। प्रस्तुत इकाई में हम चित्रकला एवं मूर्तिकला का भली-भाँति अध्ययन करेंगे।

1.2 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों ! इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- चित्रकला के बारे में जान पायेंगे ।
- मूर्तिकला के बारे में जान पायेंगे ।
- सृजनात्मक क्षमता का विकास होगा।
- चित्र एवं मूर्तिकला के प्रति रुचि उत्पन्न होगी।

1.3 चित्रकला का परिचय

अमरकोश में लिखा गया है कि 'चीयते इति चित्रम्' (चित्रम्-चिनौति, चीयते वा। चि + का प्रत्यय) अर्थात् चित्रकार के चयन की स्वाभाविक परिणति करने वाली अकृत्रिम षडंग- माला ही चित्र है। स्मृति, भावना, आनन्द आदि को मूर्त रूप देना तथा समुचित रंगों के उपयोग एवं छाया-प्रकाश आदि के कौशल पूर्ण प्रयोग द्वारा उसमें सजीवता,भावाभिव्यक्ति और सादृश्य का बोध कराया जाना चित्र है। शिल्परत्न में लिखा है – 'चित्र रति यत् चित्रम्' अर्थात जो चित्र आनंदित करता है वही वस्तुतः चित्र है। और यह आनन्द रस से उत्पन्न होता है। उपनिषदों में कहा गया है- **"रसो वै सः"** यह आत्मा का संस्कार करता है –"**आत्मानं संस्कुरुते**"यह आत्मा यदि पट, भित्ति अथवा फलक किसीपर भी चित्रित या अधिष्ठित रहता है तब एकमात्र वही चित्र है। आत्मा आत्मीयता के लिए व्याकुल रहती है। चारों ओर के वातावरण की आत्मीयता में अपने को प्रकट करने के लिए उसमें (आत्मा में) एक व्याकुलता के उदय होने पर उस चित्रकार की अभिव्यक्ति या रचना ही 'चित्र' है। यही रूप, प्रमाण, भाव लावण्य, सादृश्य, और वर्णिका भंग के द्वारा प्रकट होती है। चित्र रचना एक लम्बी साधना है। उसकी सिद्धि के मार्ग दुर्गम हैं, किन्तु परिणाम उतने ही श्रेष्ठ हैं। भारतीय दृष्टिकोण में श्रेष्ठ चित्र कर्म को ऐहिक लोकयात्रा का साधन एवं पारलौकिक निःश्रेयस का कारण बताया गया है। एक सिद्ध एवं व्युत्पन्न चित्रकार की ठीक वही स्थिति है, जो कि एक योगी तथा तत्वविद् की बतायी गयी है। एक दृष्टि में इन दोनों में चित्रकार को ही कुछ ऊँचा पद दिया गया है।एक तत्वविद् अपने लिए ऐसे लोक का निर्माण करता है, जहाँ सर्वसामान्य की पहुँच नहीं होती और जहाँ ऐहिक जीवन के सुखोपभोगों की कल्पना भी नहीं की जा सकती, किन्तु एक चित्रकार इस भौतिक जीवन में आनन्द-लाभ तथा यश का अर्जन कर साथ ही परम आनन्द तथा परम यश को भी प्राप्त करता है। किन्तु उस परमावस्था तक पहुँचना कठिन कार्य है। उसके लिए कई वर्षों का अभ्यास एवं अनवरत अध्ययन की आवश्यकता है। वात्स्यायण के 'कामसूत्र' में वर्णित चौंसठ कलाओं में

चित्रकला का चौथा स्थान है। 'कामसूत्र का रचनाकाल दूसरी या तीसरी शताब्दी ई० बताया जाता है। 'कामसूत्र के प्रथम अधिकरण के तीसरे अध्याय की टीका करते हुए यशोधर पंडित ने चित्रकला के छः अंग बताये हैं।

रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्।

सादृश्य वर्णिकाभंग इति चित्रं षडगङ्गकम्॥

1 रूपभेद, 2 प्रमाण, 3 भाव, 4 लावण्य-योजना, 5 सादृश्य, 6 वर्णिकाभंग।

1.3.1 प्राचीन युग में कला

प्राचीन कालकी कला के संदर्भ में उचित जानकारी गुफाओं से प्राप्त अवशेषों एवं साहित्यिक स्रोतों के आधार पर स्पष्ट होती है कि भारत में 'चित्रकला' बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। भारत में चित्रकला और कला का इतिहास मध्यप्रदेश की भीमबेटका गुफाओं की प्रागैतिहासिक काल चट्टानों पर बने पशुओं के रेखाङ्कन एवं चित्राङ्कन के नमूनों से प्रारंभ होता है। महराष्ट्र की नरसिंहगढ़ की गुफाओं से चित्रों में चितकबरे हरिणों की खालों को सूखता हुआ दिखाया गया है। इसके हजारों साल बाद रेखाङ्कन और चित्राङ्कनहड़प्पाकालीन सभ्यता की मुद्राओं पर भी पाया जाता है। हिन्दू और बौद्ध दोनों साहित्य ही कला के विभिन्न तरीकों और तकनीकों के विषय में संकेत करते हैं। जैसे कि लेप्यचित्र, लेखाचित्र और धूलीचित्र। पहली प्रकार की कला का सम्बन्ध लोक कथाओं से है। दूसरी प्रागैतिहासिक वस्त्रों पर बने रेखा चित्र और चित्रकला से सम्बद्ध है और तीसरे प्रकार की कला फर्श पर बनाई जाती है। बौद्ध धर्म ग्रंथ विनयपटिक (4-3ईसा पूर्व) में अनेकों शाही इमारतों पर चित्रित आकृतियों के अस्तित्व का वर्णन प्राप्त होता है। मुद्राराक्षस नाटक (पाँचवी शती ई-पश्चात) में भी अनेक चित्रों या चित्रपटों का उल्लेख है। छठी शताब्दी के सौंदर्यशास्त्र के ग्रंथ वात्स्यायनकृत 'कामसूत्र' में 64 कलाओं के अंतर्गत चित्रकला का भी उल्लेख है। और यह भी कहा गया है कि यह कला वैज्ञानिक सिद्धांतों पर आधारित है। सातवीं शताब्दी (ई.पू) के विष्णुधर्मोत्तरपुराण में एक अध्याय चित्रसूत्र चित्रकला पर भी है जिसमें बताया गया है कि चित्रकला के छः अंग हैं – आकृति की भिन्नता, अनुपात, भाव, चमक, रंगों का प्रभाव आदि । इसलिए पुरातत्वशास्त्र और साहित्य प्रागैतिहासिक काल से ही चित्रकला के विकास को प्रमाणित करते आ रहे हैं। गुप्तकालीन चित्रकला के उत्कृष्ट नमूने अजन्ता में प्राप्त हैं। उनकी विषयवस्तु पशु, पक्षी, वृक्ष, फूल, मानवाकृतियाँ और जातक कथयाएं थी। भित्तिचित्र छत्तों पर और पहाड़ी दीवारों पर बनाए जाते हैं। गुफ़ा नं 9 के चित्र में बौद्ध-भिक्षुओं को स्तूप की ओर जाता हुआ दर्शाया गया है। 10 नं की गुफा में जातक चित्रित की गई हैं। लेकिन सर्वोत्कृष्ट चित्र पाँचवी-छठी शताब्दी के गुप्त काल में प्राप्त हुए हैं। ये भित्तिचित्र बुद्ध के जीवन एवं धार्मिक कार्यों को दर्शाते हैं, लेकिन कुछ चित्र अन्य विषयों पर भी आधारित हैं। जिनके माध्यम से भारतीय जीवन के कई पक्षों को दर्शाया गया है। विभिन्न प्रकार के चित्रों में भिन्न-भिन्न सामग्रियों का प्रयोग किया

जाता था। चित्रों में जिन रंगों का प्रमुख रूप से उपयोग किया गया है, वे है धातु राग, चटख लाल कुमकुम या सिंदूर, हरीताल (पीला) नीला, लापिसलाजुली नीला, काला, चाक की तरफ सफेद खड़ी मिट्टी, (गेरू माटी) और हरा। ये सभी रंग भारत में सुलभ थे सिवाय लापीस लेजुली ही संभवतः पाकिस्तान से आता था। कुछ दुर्लभ अवसरों पर मिश्रित रंग जैसे सलेटी आदि भी प्रयोग किए जाते थे। रंगों के प्रयोग का चुनाव विषय वस्तु और स्थानीय वातावरण के अनुसार

सुनिश्चित किया जाता था ।बौद्ध चित्रकला के अवशेष उत्तर भारतीय 'बाघ' नामक स्थान पर तथा छठी और नौवीं शताब्दी के दक्षिण भारतीय स्थानों पर स्थित बौद्ध गुफाओं में प्राप्त होते हैं। इन चित्रों की विषय वस्तु धार्मिक है लेकिन अपने अंतर्निहित भावों और अर्थों के अनुसार इनसे अधिक धर्मनिरपेक्ष दरबारी और संभ्रांत विषय नहीं हो सकते। जबकी इन चित्रों के बहुत कम अवशेष प्राप्त होते है । लेकिन इनमे अनेकों चित्र देवी-देवताओं, देवसदृश्य, किन्नरों और अप्सराओं, विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षी, फल-फूलों सहित प्रसन्नता, प्रेम, कृपा और मायाजाल आदि के भावों को भी दर्शाते हैं। गुफा नं 3 कांचीपुरम के मंदिरों, सितांवसल (तमिलनाडु) की जैनगुफाओं तथा एलोरा (आठवीं और नवीं शताब्दी) तथा कैलाश और जैन गुफाओं में पाए जाते हैं। दक्षिण भारतीय मंदिरों जैसे तंजौर के बृहदेश्वर मंदिर के भित्तिचित्र महाकव्यों और पुराण कथाओं पर आधारित हैं।

1.3.2 मध्यकालीनचित्रकला

मध्यकालीन चित्रकला की जानकारी दिल्ली सल्तनत काल में शाही महलों और शाही अन्तः पुरों में भित्ति चित्रों के वर्णन से प्राप्त होती है। इनमे मुखरूप से फूलों , पत्तों एवं पौधों का चित्रण हुआ है । इल्तुमिश (1210-36) के समय में भी चित्रों के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं । आलाउद्दीन खिलजी (1296-1316) के समय में भी हमें भित्ति चित्र तथा वस्त्रों पर चित्रकारी और पाण्डुलिपियों पर लघुचित्र प्राप्त होते हैं । सल्तनत काल में हम भारतीय चित्रकला पर पश्चिमी और अरबी प्रभाव भी देखते हैं । इस काल में हमें अन्य क्षेत्रीय राज्यों से भी चित्रों के सन्दर्भ मिलते हैं । ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर के महल को अलंकृत करने वाली चित्रकारी ने बाबर और अकबर दोनों को ही प्रभावित किया। 14 वीं 15 वीं शताब्दियों में सूक्ष्म चित्रकारी गुजरात और राजस्थान में एक शक्तिशाली आंदोलन के रूप में उभरी और केन्द्रीय, उत्तरी और पूर्वी भारत में आमिर और व्यापारियों के संरक्षण के कारण फैलती चली गई। मध्यप्रदेश में मांडु, पूर्वी उत्तरप्रदेश में जौनपुर और पूर्वी भारत में बंगाल ये अन्य बड़े केंद्र थे जहाँ पाण्डुलिपियों को चित्रकला से सजाया जाता था। 9-10 वीं शती में बंगाल, विहार एवं उड़ीसा आदि पूर्वी भारतीय प्रदेशों में पाल शासन के अंतर्गत एक नई प्रकार की चित्रण शैली का प्रादुर्भाव हुआ जिसे सूक्ष्म चित्रण कहा जाता है। जैसा की नाम से ही स्पष्ट है, ये सूक्ष्म चित्र नाशवान पदार्थों पर बनाए जाते थे। इसी श्रेणी के अंतर्गत इनसे बौद्ध, जैन और हिन्दु ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों को भोजपत्रों पर सजाया जाने लगा । ये चित्र अजन्ता शैली से मिलते जुलते थे परंतु सूक्ष्म स्तर पर । ये पाण्डुलिपियाँ व्यापारियों की प्रार्थना पर तैयार की जाती थी जिन्हें वे मंदिरों और मठों को दान कर देते थे। तेहरवीं शताब्दी के पश्चात उत्तरी भारत के तुर्की सुलतान अपने साथ पारसी दरबारी संस्कृति के महत्वपूर्ण स्वरूपों को भी अपने साथ लाए। पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में पश्चिम प्रभाव की अलंकृत पाण्डुलिपियाँ मालवा, बंगला, दिल्ली ,जौनपुर, गुजरात और दक्षिण में बनाए जाने लगी। भारतीय चित्रकारों की पर्शियन परम्पराओं से अन्तः क्रिया दोनों शैलियों के सम्मिश्रण मे फलीभूत हुई जो 16 वीं शताब्दी के चित्रों में स्पष्ट झलकती है। प्रारम्भिक सल्तनत काल में पश्चिमी भारत में जैन समुदाय द्वारा चित्रकला के छेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया गया। जैन शस्त्रों की अलंकृत पाण्डुलिपियाँ मंदिर के पुस्तकालयों को उपहारस्वरूप दे दी गई । इन पांडुलिपियों में जैन तीर्थंकरों के जीवन और कृत्यों को दर्शाया गया है। अकबर ने कश्मीर और गुजरात के कलाकारों को संरक्षण दिया। हुमायुं ने दरबार में पारसी चित्रकारों को प्रश्रय दिया।

पहली बार चित्रकारों के नाम शिलालेखों पर भी अंकित किए गए। इस काल के कतिपय महान चित्रकार थे। अब्दुस्समद, दासवंत तथा बसवान। बाबर नामा और अकबर नामा के पृष्टों पर चित्रकला के सुंदर उदाहरण पाए जाते हैं। कुछ ही वर्षों में पारसी और भारतीय –शैली के मिश्रण से एक सशक्त शैली विकसित हुई और स्वतंत्र मुगल चित्रकला शैली का विकास हुआ 1562 और 1577 ई० के मध्य नई शैली के आधार पर प्रायः 1400 वस्त्रचित्रों की रचना हुई और इन्हें शाही कलादीर्घा में रखा गया। अकबर ने प्रतिमूर्ति बनाने की कला को भी प्रोत्साहित किया। चित्रकला जहंगीर के काल में अपनी चरम सीमा पर थी। वह स्वयं भी चित्रकार और कला का पारखी था।

1.3.3आधुनिक चित्रकला

18वीं शती के उत्तरार्ध और उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में चित्रकला अर्ध पाश्चात्य स्थानीय शैलियों पर आधारित थी। जिसको ब्रिटिश निवासियों और ब्रिटिश आगंतुकों ने संरक्षण प्रदान किया। इन चित्रों की विषयवस्तु भारतीय सामाजिक जीवन, लोकप्रिय पर्व और मुगलकालीन स्मारकों पर आधारित होती थीं। इन चित्रों में परिष्कृत मुगल परम्पराओं को प्रतिबिम्बित किया गया था। इस काल की सर्वोत्तम चित्रकला के कुछ उदाहरण हैं – लेडी इंपे के लिए शेख जिया उद्दीन के पक्षि – अध्ययन, विलियम फ्रेजर और कर्नल स्किनर के लिए गुलाम अलीखां के प्रतिकृति चित्र। 19 वीं शती के उत्तरार्ध में कलकत्ता, मुम्बई और मद्रास आदि प्रमुख भारतीय शहरों में यूरोपीय मॉडल पर कला स्कूल स्थापित हुए। त्रावनकोर के राजा रवि वर्मा के मिथकीय और सामाजिक विषयवस्तु पर आधारित तैल चित्र इस कला में सर्वाधिक लोकप्रिय हुए। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, ई.बी हैवल और आनन्द केहटिश कुमार स्वामी ने बंगाल कला शैली के उदय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। बंगाल कला शैली 'शांति निकेतन' में फली-फूली जहाँ पर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'कलाभवन' की स्थापना की प्रतिभाशील कलाकार जैसे नंदलाल बोस, विनोद बिहारी मुकर्जी, आदि उभरते कालाकारों को प्रशिक्षण देकर प्रोत्साहित कर रहे थे। नन्दलाल बोस भारतीय लोक कला तथा जापानी चित्रकला से प्रभावित थे और विनोद बिहारी मुकर्जी प्राच्य परंपराओं में गहरी रुचि रखते थे। इस काल के अन्य चित्रकार जैमिनी राय ने उड़ीसा की पट-चित्रकारी और बंगाल की कालीघाट चित्रकारी से प्रेरणा प्राप्त की। सिख पिता और हंगेरियन माता की पुत्री अमृता शेरगिल ने पेरिस बुडापेस्ट में शिक्षा प्राप्त की तथापि भारतीय विषयवस्तु को लेकर गहरे चटख रंगों से चित्रकारी की। उन्होंने विशेष रूप से भारतीय नारी और किसानों को अपने चित्रों का विषय बनाया। यद्यपि इनकी मृत्यु अल्पायु में ही हो गई परन्तु वह अपने पीछे भारतीय चित्रकला की समृद्ध विरासत छोड़ गई हैं। सन् 1943 में द्वितीय विश्वयुद्ध के समय परितोष सेन, निरोद मजुमदार और प्रदोष दासगुप्ता आदि के नेतृत्व में कलकत्ता के चित्रकारों ने एक नया वर्ग बनाया जिसने भारतीय जनता की दशा को नई दृश्य भाषा और नवीन तकनीक के माध्यम से प्रस्तुत किया। दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन सन् 1948 में था जब फ्रांसिस न्यूटन सृजा के नेतृत्व में प्रगतिशील कलाकार संघ की स्थापना हुई। इस संघ के अन्य सदस्य थे एस एच रजा, एम एफ हुसैन, के एम अरा, एस के बाकरे तथा एच ए गोडे। यह संस्था बंगाल स्कूल ऑफ आर्ट से अलग हो गई और इसने स्वतंत्र भारत की आधुनिकतम सशक्त कला को जन्म दिया। 1970 से कलाकारों ने अपने वातावरण का आलोचनात्मक दृष्टि से सर्वेक्षण करना प्रारम्भ किया। गरीबी और भ्रष्टाचार की दैनिक घटनाएं,

अनैतिक भारतीय राजनीति, विस्फोटक साम्प्रदायिक तनाव, एवं शहरी समस्याएँ अब उनकी कला का विषय बनाने लगी देवप्रसाद राय चौधरी एवं के सी एस पणिकर के संरक्षण में मद्रास स्कूल ऑफ आर्ट संस्था स्वतंत्रोत्तर भारत में एक महत्वपूर्ण कला केंद्र के रूप में उभरी और आधुनिक कलाकारों की एक नई पीढ़ी को प्रभावित किया। आधुनिक भारतीय चित्रकला के रूप में जिन कलाकारों ने अपनी पहचान बनाई, वे हैं-तैयब मेहता, सतीश गुजराल, कृष्ण खन्ना, मनजीत बाबा, के जी सुब्रह्मण्यन्, रामकुमार, अंजली इला मेनन,जतिन दास, जहांगीर सबावाला तथा ए. रामचंद्रन आदि।

1.3.4 अलंकृत कला का परिचय

यदि देखा जाए तो भारतीय लोगों की कलात्मक अभिव्यक्ति केवल कागज या पट्ट पर चित्र बनाने तक ही सीमित नहीं है। ग्रामीण क्षेत्रों में घर की दीवारों पर अलंकृत कला एक आम दृश्य है। पवित्र अवसरों एवं पूजार्चन आदि शुभ कार्यों में फर्श पर रंगोली या अलंकृत चित्रकला के डिजाइन 'रंगोली' आदि के रूप में बनाए जाते हैं जिनके कलात्मक डिजाइन एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक स्थानान्तरित होते चले जाते हैं। ये डिजाइन उत्तर भारत में रंगोली, बंगाल में अल्पना, उत्तराखण्ड में ऐपण, कर्नाटक में रंगवाली, तमिलनाडु में कोल्लम और मध्यप्रदेश में मांडना नाम से जाने जाते हैं। साधारणतया रंगोली बनाने मे चावल के आटे का प्रयोग किया जाता है लेकिन रंगीन पाउडर या फूल की पंखुड़ियों का प्रयोग भी रंगोली को ज्यादा रंगीन बनाने के लिए किया जाता है। घरों तथा झोपड़ियों की दीवारों को सजाना भी एक पुरानी परम्परा है।

1.3.5 मिथिलाचित्रकलाका परिचय

मिथिला चित्रकला को मधुबनी लोक चित्रकला के नाम से भी जाना जाता है। यह बिहार प्रदेश के मिथिला क्षेत्र की पारम्परिक कला है। इस चित्रकारी को गावं की महिलाएँ सब्जी के रंगों से तथा त्रि- आयामी मूर्तियों के रूप में मिट्टी के रंगों से गोबर से पुते कागजों पर बनाती हैं। ये चित्र प्रायः सीता बनवास, राम लक्ष्मण के वन्य जीवन की कहानियों अथवा लक्ष्मी, गणेश, हनुमान की मूर्तियों आदि हिन्दू मिथकों पर बनाए जाते हैं। इन चित्रों में दिव्य पौधे 'तुलसी' को भी चित्रित किया जाता है। ये चित्र अदालत के दृश्य, विवाह तथा अन्य सामाजिक घटनाओं को प्रदर्शित करते हैं। मधुबनी शैली के चित्र बहुत वैचारिक होते हैं।पहले चित्रकार सोचता है और फिर अपने विचारों को चित्रकला के माध्यम से प्रस्तुत करता है। चित्रों में कोई बनावटीपन नहीं होता। देखने में यह चित्र ऐसे बिम्ब होते हैं जो रेखाओं और रंगों में मुखर होते हैं। ये चित्र कुछ अनुष्ठानों अथवा त्योहारों के अवसर पर या जीवन की विशेष घटनाओं के समय गाँव या घरों की दीवारों पर बनाए जाते हैं। रेखागणितीय आकृतियों के बीच में स्थान को भरने के लिए जटिल फूल पत्ते, पशु-पक्षी, बनाए जाते हैं। कुछ मामलों में ये चित्र माताओं द्वारा अपनी बेटियों की शादी के अवसर पर देने के लिए पहले से ही तैयार करके रख दिए जाते हैं। ये चित्र एक सुखी विवाहित जीवन जीने के तरीकों को भी प्रस्तुत करते हैं। विषय और रंगों के उपयोग में भी ये चित्र विभिन्न होते हैं।चित्रों में प्रयुक्त रंगों से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह चित्र किस समुदाय से संबंधित है। उच्च स्तरीय वर्ग द्वारा बनाए गए चित्र अधिक रंग विरंग होते हैं। निम्न वर्ग द्वारा चित्रों में लाल एवं काली रखाओं का प्रयोग किया जाता है। मधुबनी कला शैली बड़ी मेहनत से गांव की महिलाओं द्वारा आगे अपने बेटियों तक स्थानान्तरित की जाती हैं। आजकल

मधुबनी कला का उपयोग उपहार की सजावटी वस्तुओं एवं बधाई पत्रों आदि के बनाने के लिए किया जाता है। जिससे यह ग्रामीण महिलाओं के लिए एक रोजगार भी है।

1.3.6 कलमकारी चित्रकला का परिचय

कलम से बनाए गये चित्रों के लिए कलमकारी शब्द का प्रयोग होता है। यह चित्रकारी आंध्र प्रदेश में की जाती है। कपड़ों पर हाथ से अथवा ब्लाकों से सब्जियों के रंगों से चित्र बनाए जाते हैं। कलमकारी काम में सब्जियों के रंग का ही प्रयोग किया जाता है। एक छोटी सी जगह श्रीकलहस्ती कलमकारी चित्रकला का लोकप्रसिद्ध केंद्र है। यह काम आंध्र प्रदेश में मसोलीपट्टनम में भी देखा जाता है। इस कला के द्वारा मंदिरों के भीतरी भागों को चित्रित वस्त्रपटलों से सजाया जाता है। 15 वीं शताब्दी में विजयनगर के शासकों के संरक्षण में इस कला का विकास हुआ। रामायण, महाभारत और अन्य धार्मिक ग्रन्थों में इन चित्रों के दृश्य लिए जाते हैं। यह कला पिता से पुत्र को पीढ़ी दर पीढ़ी उत्तराधिकार के रूप में चलती रहती है। चित्र के विषय चुनने के पश्चात दृश्य पर दृश्य क्रम से चित्र बनाए जाते हैं। प्रत्येक दृश्य को चारों ओर से पेड़-पौधों और वनस्पतियों से सजाया जाता है। यह चित्रकारी वस्त्रों पर की जाती है। ये चित्र बहुत ही स्थायी होते हैं, आकार में लचीले तथा विषय वस्तु के अनुरूप बनाए जाते हैं। देवताओं के चित्र खूबसूरत बॉर्डर से सजाए जाते हैं और मंदिरों के लिए बनाए जाते हैं। कलमकारी के रंग पौधों की जड़ों को या पत्तों को निचोड़ कर प्राप्त किए जाते थे और इनमे लोहे टीन, तांबे और फिटकरी के सालट्स मिलाये जाते थे।

1.3.7 वर्ली चित्रकला का परिचय

वर्ली चित्रकला के नाम का सम्बन्ध महाराष्ट्र के जन जातीय प्रदेश में रहने वाले एक छोटे से जनजातीय वर्ग से है। ये अलंकृत चित्र गोंड तथा कोल जैसे जनजातीय घरों और पूजाघरों के फ़र्शों और दीवारों पर बनाए जाते हैं। वृक्ष, पक्षी, नर तथा नारी मिल कर एक वर्ली चित्र का निर्माण करते हैं। ये चित्र प्रायः शुभ अवसरों पर आदिवासी महिलाओं द्वारा दिनचर्या के एक हिस्से के रूप में बनाए जाते हैं। इन चित्रों की विषय वस्तु प्रमुख रूप से धार्मिक होती है और ये साधारण एवं स्थानीय वस्तुओं का प्रयोग करके बनाए जाते हैं जैसे चावल की लेही तथा स्थानीय सब्जियों का गोंद और इनका उपयोग एक अलग रंग की पृष्टभूमि पर वर्गाकार, त्रिभुजाकार तथा वृत्ताकार आदि रेखागणितीय आकृतियों के माध्यम से किया जाता हैं। पशु-पक्षी तथा लोगों का दैनिक जीवन भी चित्रों की विषयवस्तु का आंशिक रूप होता है। शृङ्खला के रूप में अन्य विषय जोड़-जोड़ कर चित्रों का विस्तार किया जाता है। वर्ली जीवन शैली की झाँकी सरल आकृतियों में खूबसूरती से प्रस्तुत की जाती है। अन्य आदिवासीय कला के प्रकारों से भिन्न वर्ली चित्रकला में धार्मिक छवियों को प्रश्रय नहीं दिया जाता और इस तरह ये चित्र अधिक धर्मनिरपेक्ष रूप की प्रस्तुति करते हैं।

1.3.8 कालीघाट चित्रकला का परिचय

कालीघाट चित्रकला का नाम कलकत्ता के कालीघाट स्थान के नाम से युक्त है। कालीघाट बाजार कलकत्ता में काली मंदिर के ही समीप है। 19 वीं शती के प्रारम्भ में पटुआ चित्रकार ग्रामीण बंगाल से कालीघाट आकार बसा था। देवी – देवताओं की मूर्तियाँ बनाने के लिए कागज पर पानी में घुले चटख रंग का प्रयोग करके बनाए गये हैं। रेखाचित्रों में स्पष्ट पृष्ट भूमि

होती है। काली, कृष्ण, गणेश, शिव और अन्य देवी देवताओं को इनमे चित्रित किया जाता है। इसी प्रक्रिया में कलाकारों ने एक नए प्रकार की विशिष्ट अभिव्यक्ति को विकसित किया और बंगाल के सामाजिक जीवन से सम्बन्धित विषयों को प्रभावशाली रूप से चित्रित करना प्रारंभ किया। इसी प्रकार की पट-चित्रकला उड़ीसा में भी पाई जाती हैं। बंगाल की उन्नीसवीं शती की क्रान्ति इस चित्रकला का मूल स्रोत है। जब इन चित्रों को बाजार में उतारा गया, कलाकारों ने अपने आप को हिन्दू देवी-देवताओं के एक ही प्रकार के चित्रों से मुक्त करना प्रारम्भ किया और अपने चित्रों में तत्कालीन सामाजिक-जीवन को चित्रों की विषय वस्तु बनाने के तरीकों को खोजना प्रारम्भ कार दिया। बंगाल की बाबू संस्कृति तथा कोलकत्ता के नये-नये बने अमीर लोगों की जीवन शैली ने कला को प्रभावित किया। इन सभी प्रेरक घटकों ने मिलकर बंगला साहित्य, थियेटर और दृश्य कला को एक नवीन कल्पना प्रदान की थी। कालीघाट चित्रकला इस सांस्कृतिक एवं सौन्दर्यपूर्ण परिवर्तन का दर्पण बन कार उभरी। देवी-देवताओं पर आधारित चित्र बनाने वाले ये कलाकर अब रंगमंच पर नर्तकियों, अभिनेत्रियों, दरबारियों, शानशौकत वाले बाबुओं, घमंडी छैलों के रंगबिरंगे कपड़ों और सितार बजाते हुए दृश्यों को अपने चित्र पटल पर उतारने लगे।

1.4 मूर्तिकला का परिचय

मूर्तिकला का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। इसका विकास मानव सभ्यता के साथ ही आरम्भ माना जाता है। यह सर्वदा कलात्मक अभिव्यक्ति का प्रिय माध्यम रही है। देखा जाये तो प्राचीन भवन आदि प्रचुर रूप से मूर्तिकला से अलंकृत हैं। अन्य कलाओं के समान ही मूर्तिकला का भी वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता है।हमारे देश के अधिकांश निवासी मूर्ति पूजक हैं। मूर्ति पूजा के निमित कलाकार ने मूर्ति निर्माण किया। वह ब्रह्म को रस स्वरूप मानता है तथा **"रसोवैः सः"** वाक्य से अपने आंतरिक विचार अभिव्यक्ति करता है। रस द्वारा कलाविद उपासकों के मन पर मानोवैज्ञानिक प्रभाव डालता है। अतएव सगुणोपासना के लिए मूर्ति की स्थिति परमावश्यक है। उपनिषद् में उल्लेख मिलता है-

सगुणब्रह्मविषयकमानसव्यापार उपासनम्।
उपासकानां कार्यार्थे ब्रह्मणो रूपकल्पना।।

उपासना हेतु योगी के लिए भी ध्यान को केंद्रित करने के लिए मूर्ति की आवश्यकता होती है।मूर्तियाँ सोना, चाँदी, तांबा, काँस, पीतल, अष्टधातु, आदि प्राकृतिक तथा कृत्रिम धातु, पारे के मिश्रण, रत्न, उपरत्न, काँच, कड़े, और मुलायम पत्थर, मसाले, कच्ची वा पक्की मिट्टी, मोम, लाख, गंधक, हाथीदाँत, शंख, सीप, अस्थि, सींग, लकड़ी एवं कागद के कुट आदि उपादानों को उनके स्वभाव के अनुसार गढ़कर, उभारकर खोदकर, पीटकर, हाथ से या औजार से डौलियाकर ठप्पा करके वा सांच छापके अर्थात जो प्रक्रिया जिस उपादान के अनुकूल हो और जिस प्रक्रिया में जो खिलता हो, उत्पन्न की हुई आकृति को मूर्ति कहते हैं। भारतीय मूर्तिकला की कतिपय शैलियाँ कुछ इस प्रकार से हैं। 1 सिन्धुघाटी सभ्यता की मूर्तिकला। 2 मौर्य मूर्तिकला।3 मौर्योत्तर मूर्तिकला।4 गान्धार कला की मूर्तियाँ। 5 मथुरा कला की मूर्तियाँ।6 अमरावती मूर्तिकला। 7 गुप्तकाल की मूर्तिकला।8 बाकाटक मूर्तिकला।9 मध्यकाल की मूर्ति कला।10 चोल मूर्तिकला।11 आधुनिक मूर्तिकला। मूर्ति बनाने में आरंभ से ही मनुष्य के मुख्यतः दो

उद्देश्य रहे हैं। एक तो किसी स्मृति को वा अतीत को जीवित बनाए रखना, दूसरा अमूर्त को मूर्त रूप देना, अव्यक्त को व्यक्त करना अर्थात् किसी भाव को आकार प्रदान करना।

1.4.1 हड़प्पा काल की मूर्तिकला एवं स्थापत्य कला

सिन्धुघाटी की सभ्यता के अवशेषों में पत्थर, धातु एवं मृण्यमूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। ये मूर्तियाँ ढालकर या तराशकर बनायी गयी हैं। पत्थर की मूर्तियों में सबसे महत्वपूर्ण मोहनजोदड़ो से प्राप्त योगी या पुरोहित की मूर्ति है। यह दाढ़ी वाले पुरुष की आवक्ष प्रतिमा है। इस मूर्ति के अतरिक्त हड़प्पा से प्राप्त दो मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन दोनों मूर्तियों का केवल धड़ मात्र मिला है। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस सभ्यता के नागरिक कला एवं शिल्प में निपुण थे। धातुमूर्तियों में सबसे उत्कृष्ट मूर्ति काँस्य नर्तकी की है। जो मोहनजोदड़ो से प्राप्त हुई है। सिन्धुघाटी के विस्तृत क्षेत्र से कुछ अन्य छोटी-छोटी खिलौने वाली मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। जिनमें डोरी खींचने पर बॉक्स पर चड़ने वाला बंदर सिर हिलानेवाला बैल, पंख फड़फड़ाने और सीटी बजाने वाले पक्षी, अपनी पुंछ उठाकर पिछले पैरों पर बैठकर कुछ कुतरती हुई गिलहरी तथा घड़ियाल आदि मूर्तियाँ शिल्पगत कौशल के सुन्दर उदाहरण हैं। हड़प्पा के लोगों को मूर्तिकला एवं हस्तकला का भी ज्ञान और कौशल प्राप्त था। दुनिया की पहली तांबे की नृत्यांगन की मूर्ति मोहनजोदाडो में पाई गई है। योग की मुद्रा में एक पुरुष की मूर्ति खुदी हुई चित्रलिपि वाली मोहरें, पहनने वाले सुंदर आभूषण एवं कूबड़ युक्त बैलों की मूर्तियाँ, एक सिंग वाले पशुपति आदि की तस्वीरें भी प्राप्त हुई हैं। चित्र लिपि वाली खुदी हुई मोहरें आदि भी उत्खनन में मिली हैं। इसके बाद जो वैदिक आर्य आए, वे लकड़ी, बांस और सरकंडों के मकानों में रहने लगे। आर्य संस्कृति कृषकों की थी अतः बड़े भवनों का अभाव मिलता है। आर्य अपने शाही महलों को बनाने में नष्ट होने वाली सामग्री जैसे लकड़ी आदि का प्रयोग करते थे इसलिए वे समय बीतने पर नष्ट हो गए। वैदिक काल का एक महत्वपूर्ण पहलू 'वेदी' को बनाना है जो शीघ्र ही लोगों की सामाजिक, धर्मिक जीवन का आधार बना गई। आज भी हिन्दू घरों में विशेषतया विवाह में अग्निवेदी की महत्वपूर्ण भूमिका है। आँगन तथा मण्डप में यज्ञशाला की वेदी स्थापत्य कला की महत्वपूर्ण आकृति हैं। हमें गुरुकुलों और आश्रमों के भी प्रसंग मिलते हैं। दुर्भाग्यवश वैदिक काल का कोई ढांचा नहीं मिलता है। स्थापत्य कला के इतिहास में भवन निर्माण में ईट-पत्थर के साथ लकड़ी का प्रयोग का महत्वपूर्ण योगदान हैं।

1.4.2 मौर्यकालीन वास्तुकला एवं मूर्तिकला

कला और वास्तुकला के क्षेत्र में मौर्यों का योगदान प्रशंसनीय रहा है। अशोक ने बुद्ध के जीवन की भिन्न-भिन्न घटनाओं की स्मृति में 84000 स्तूप बनवाए। मैगस्थनीज के अनुसार पाटलीपुत्र का वैभव ईरान के शहरों से कम नहीं था। अशोक के अभिलेख जिन स्तम्भों पर खुदवाये गए वे एक चमकीले बलुआ पत्थर के बने हैं और इनके शीर्ष पर घंटाकृतियाँ हैं। अशोक के सर्वोत्तम शिलालेख बिहार के लौरिया नन्दनगढ़ में प्राप्त हुए हैं। यह 32 फीट लंबे खंबे के ऊपर 50 टन की बैठे हुए शेर की मूर्ति है, जो उत्कृष्ट अभियांत्रिक चमत्कार का उदाहरण है। रामपुरा का स्तम्भ जिस पर बैल की मूर्ति बनी है, मौर्य शिल्प कला का भव्य उदाहरण है। सबसे अधिक प्रसिद्ध स्तम्भ सारनाथ में है जिसके ऊपर चार सिंह तथा धर्मचक्र बना हुआ है। मौर्यकालीन आकृतियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध दीदारगंज से प्राप्त यक्ष की मूर्ति है। इन मूर्तियों का सौन्दर्य इनकी कारीगरी की शुद्धता और इस तथ्य में हैं कि ये पूरे एक समूचे पत्थर से बनाई

गई है। स्तंभों के समान इन मूर्तियों पर भी अनुपम चमक है। जिसे मौर्य कालीन पालिश कहा जाता है। इन मूर्तियों की चमक इतनी सदियों के बाद आज तक कम नहीं हुई।

1.4.3 मौर्योत्तर काल में मूर्तिकला

मध्य एशियाई आक्रमणों से भारतीय कला और मूर्तिकला के क्षेत्र में और अधिक विकास हुआ। पश्चिमी दुनिया के साथ निकट सम्बन्धों के फलस्वरूप भारतीय कला में कई नई शैलियों का विकास हुआ। सबसे अधिक महत्वपूर्ण विकास गांधार स्कूल आफ आर्ट के रूप में हुआ। इस शैली ने रोम और यूनान दोनों की ही कलाकृतियों के लक्षणों को ग्रहण किया। कुषाण काल की बुद्ध की कई मूर्तियों में बुद्ध का चेहरा यूनानी देवता अपोलों से मिलता है। उनके बाल यूनानी रोमन शैली में बनाए गए हैं। और उनके वस्त्र भी रोमन 'टोगा' की शैली में व्यवस्थित किए गए हैं। कुषाण काल में विभिन्न शैलियों में प्रशिक्षित शिल्पकारों को एक साथ काम करने का अवसर मिला। भारतीय कला का केंद्र मथुरा भी था। यह भी आक्रमणों से प्रभावित हुआ। मिट्टी और लाल पत्थर की यहाँ से कई मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिन पर शक-कुषाण प्रभाव परिलक्षित होटा है। इनमे सबसे प्रसिद्ध मूर्ति है मथुरा की शीर्षरहित कनिष्क की मूर्ति जबकि पूर्वर्ती बौद्धधर्मियों ने बुद्ध को प्रतीकों के माध्यम से ही चित्रित किया था, मथुरा शैली ने प्रथम बार बुद्ध का चेहरा और आकृति बनाई। जातक जैसी लुक कथाओं को चट्टानों के बड़े फलकों पर चित्ररूप में उकेरा गया। बुद्ध की मूर्तियों के अतरिक्त जो उस समय बहुत बड़ी संख्या में बनाई गई और महावीर के बुत भी बड़ी संख्या में बनाए गए थे।

1.4.4 गुप्तकाल में कला एवं मूर्तिकला

प्राचीन भारतीय इतिहास का अंतिम चरण ई० पश्चात चौथी शताब्दी में आरंभ होता है और लगभग आठवीं शताब्दी में समाप्त होता है। गुप्तवंशीय शासकों ने एक बहुत सुदृढ़ और शक्तिशाली राज्य की स्थापना की। उनके द्वारा राज्य की एकता और राजकीय संरक्षण के कारण सांस्कृतिक गतिविधियों में कई गुणा वृद्धि हुई। यूनानी आक्रमण के कारण विभिन्न भारतीय कलाकृतियाँ यूनानी रोमन शैलियाँ से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हुई। यह कला अधिकतर बुद्ध और बौद्ध धर्म के विचारों को दर्शाती थी। गुप्तकाल में कला में अधिक सृजनात्मकता का विकास हुआ और देवी-देवताओं को भी प्रस्तुत किया गया। गुप्तकाल की कलात्मक अभिव्यक्ति का अनुमान गुप्तकाल में विभिन्न प्रकार के सिक्कों पर की गई। सामान्य योजना के अनुसार सिक्के के एक ओर राजा का चित्र होता था और दूसरों ओर किसी देवी-देवता को उससे सम्बन्धित प्रतीक के साथ चित्रित किया जाता था। राजा को चित्र में कई रूपों में कभी शेर या चीते का शिकार करते हुए या सिंहासन पर बैठकर कोई संगीत वाद्य यंत्र बजाते हुए दिखाया जाता था। सिक्के के दूसरी ओर धन की देवी लक्ष्मी या कुछ सिक्कों पर विद्या की देवी सरस्वती का चित्र अंकित होता था। गुप्तकाल की कला स्मारकों और मूर्तियों में भी आबहुव्यक्त हुई। इस युग के कुशल कारीगरों ने भारत के आदर्श और दार्शनिक परंपराओं को भी अपने औजारों के कौशल से विभिन्न कला रूपों में सृजन किया। उन्होंने धार्मिक स्थलों के कोने-कोने को देवी-देवताओं की मूर्तियों से सुसज्जित किया। देवी देवताओं की मूर्तियों को देवता का प्रतीक माना जाता था। देवताओं की चतुर्भुज एवं अष्टभुज मूर्तियों में एक-एक चिह्न या एक शस्त्र पकड़ा हुआ होता था यद्यपि वे मूर्तियाँ मानवाकार में ही होती थी। देवी देवताओं के मंदिर पत्थर, टेरेकोटा और अन्य सामग्री से बनाए जाते थे।

1.4.5 पूर्व मध्यकालीन मूर्तिकला (600 से 900 ई०)

पूर्व मध्यकाल में गुप्तकाल की अनेक विशेषताएँ विद्यमान हैं फिर भी इसका सबसे बड़ा निजस्व यह है कि इसमें घटनाओं के बड़े-बड़े दृश्य अंकित किये जाते हैं। जैसे – गङ्गा अवतरण के लिए भगीरथ की तपस्या, दुर्गा-महिषासुर युद्ध, रावण का कैलाश पर्वत उठाना, शिव का त्रिपुर- दाह आदि। इन दृश्यों में गति एवं अभिनय पाया जाता है। इन्ही कारणों से यह कुछ विद्वानों के मत से भारतीय मूर्तिकला का सर्वश्रेष्ठ काल है। इस काल के मुख्य तीन केंद्र माने जा सकते हैं –

क. पहला 'एलोरा' नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ पहाड़ काटकर पहाड़ी को मंदिर में परिवर्तितकर दिया गया है। यहाँ मंदिरों की संख्या पचीस-तीस से अधिक है।

इस काल का दूसरा प्रमुख मूर्ति केंद्र 'एलिफेंटा' के गुफ़ा मंदिर है। इन मंदिरों में सुंदर मूर्तियाँ हैं जैसे कि एक तो महेश्वर की प्रकांड त्रिमूर्ति जिसके मुख मंडलों पर बड़ी प्रशात गंभीरता है। विशाल जटा सुंदर मुकुट का काम कर रही है। इस काल की मूर्तियों में नीचे के ओढ़ को बहुत मोटा और निकला हुआ बनाया गया है। यहाँ की दूसरी मूर्ति शिव तांडव की है। यहाँ योगी राज शिव की मूर्ति भी हैं।

ख. इस काल के तीसरे मुख्य केंद्र दक्षिण मे काची के सामने समुद्रतट पर 'मामल्लपुरम्'में एक-एक चट्टानों से काटे हुए विशाल मंदिर है जिन्हे 'रथ' कहते हैं। ये संसार की अद्भुत वस्तुओं में से गिने जाते हैं। इनकी शैली छाजनदार वास्तु की है और इनका एक समूह, जिसमे ऐसे सात मंदिर हैं, जिन्हे सप्तरथम् कहा जाता है।

ग. इस काल की फुटकर मूर्तियाँ अपेक्षाकृत बहुत कम मिलती है। बंबई के परेल नामक भाग में, म्यूनिसिपैलिटी की एक नई सड़क बनाते हुए, 1931 में मजदूरों की जोगिया रंग के पत्थर की एक विशाल शिवमूर्ति मिली जो बारह फुट ऊंची और लगभग छः फुट चौड़ी है। यह मूर्ति अनोखी है, इसमें सात शिव-मूर्तियों का समूह है, जो मध्य के सबसे नीचेवाले शिवरूपी तने से शाखाओं की भाँति निकली हुई है। इन मूर्तियों की मुख-मुद्रा बड़ी शांत, भव्य और गंभीर है। इनके नीचे दो अनगढ़ मूर्तियाँ हैं जो संभवतः इसी परिवार की थी। उनके नीचे मूल शिव के चरणों की सतह में दो सङ्गीतक हैं जो शिवकीर्तन में मस्त हैं। इस प्रकार का शिव समूह और नहीं पाया गया।

1.4.6 उत्तर-मध्यकालीन मूर्ति एवं वास्तुकला कला (900 से 1300 ई०)

10 वीं शती के आरम्भ के साथ मध्यकाल का उत्तरार्ध चलता है। इसका सम्बन्ध उन राजवंशों से है जिनमे से कितने ही अब भी विद्यमान हैं, जैसे – चदेल, परमार और राठौर इत्यादि। यह समय मूर्ति एवं वास्तु कला के सौन्दर्य का नहीं, अपितु चमत्कार का समय था। इनकी कृतियों में कला नहीं, कलाभाष है। मंदिरों के आवरण में बनाई जाने वाली मूर्तियों का यह उद्देश्य कि वे देवताओं के आवास सुमेरु, कैलास आदि पर्वतों को सूचित करे। इस काल की मूर्तिकला का रसास्वादन करने के लिये इसका अन्य कालों की रचनाओं से तुलना नहीं करनी चाहिये। ये मूर्तियाँ स्वतः देखी जायँ तो निःसंदेह अपने चमत्कार से दर्शक पर बड़ा प्रभाव डालती है। मूर्ति एवं वास्तु कलाओं की दृष्टि से उत्तर-मध्य
कालीन भारत को हम मोटे तौर पर छः मंडलों में बाँट सकते हैं।

1. उड़ीसा मण्डल, जिसके मुख्य मंदिर भुवनेश्वर, कोणार्क और पूरी में हैं।

2. बंगाल-बिहार मण्डल, जहाँ की मूर्तियाँ पाल-वंश की संरक्षण में बनी हैं। इनमे अधिकांश महायानीय बौद्ध धर्म से सम्बन्ध रखती हैं और प्रायः सभी गया के काले पत्थर की बनी हैं।

3. बुंदेलखंड मण्डल, जहाँ उस समय चदेलों का राज्य था, इसके मुख्य उदाहरण खजुराह के मंदिर हैं।

4. मध्यभारत मण्डल, मुख्यतः मालवा के मंदिर, जा धारानगरी के परमारों के बनवाए हुए हैं। (जिस राजकुल में प्रसिद्ध भोज उत्तपन्न हुए थे) इसके अंतर्गत है। मध्य भारत के कच्चुरियों ने भी बड़े-बड़े भव्य मंदिर बनवाए।

5. गुजरात राजस्थान मण्डल, जिसमें मुख्यतः गुजरात के सोलकी और अजमेर के चौहनों के बनवाए हुए वा उनकी छत्रछाया में बने हुए मंदिर हैं।

6. नाभिल मण्डल, इस मण्डल का सम्बन्ध चोल तथा होयशल राजवंशों की मूर्ति औरवास्तु कला से है और

जिसके अंतर्गत उस युग के दक्षिण भारत के बड़े-बड़े मंदिर हैं। इस काल की कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण छतरपुर राज्य (बुंदेलखंड) में स्थित चंदेलों का बनवाया हुआ खजुराहो का मंदिर समूह है। वहाँ छोटे बड़े पचासों जैन और हिन्दू मंदिर हैं। इस काल में कलाकारों ने मूर्ति के मान (माप) तथा आयुध, वाहन इत्यादि अंगों पर विशेष ध्यान दिया। अधिकतर देवताओं के हाथ बहु संख्यक होते हैं। उन देवताओं का सामर्थ्य प्रदर्शित करने के लिए नाना प्रकार के आयुध दिये जाते हैं। इस काल की कला भवन में शिव पार्वती के वैवाहिक दृश्य की एक मूर्ति है। यह मटमैले गुलाबी पत्थर की है और इस काल की मूर्तिकला का एक बहुत अच्छा उदाहरण है। मूर्ति में आगे सद्यापरिणीत शिव पार्वती हैं। इनके मुह पर प्रसन्नता है। उके वस्त्र, आभूषण आदि बड़ी खूबी और बारीकी से गढे गए हैं। नाचते हुए गणपति की मूर्तियाँ इसकाल में बहुत बनती थी। इनका एक अच्छा उदाहरण भारत कला भवनकाशी में है। यह अष्टभुज मूर्ति चुनार पत्थर की है और अशत कोर कर बनाई गई है। इसमें गणेश का स्वरूप भावपूर्ण है। नाचने की प्रसन्नता उनके मुख पर झलक रही है।

1.4.7 अर्वाचीन काल की मूर्तिकला (14वीं शती)

13वीं शती के बाद उत्तर भारत की मूर्ति कला में कोई जान नहीं रह जाती। इसका मुख्य कारणयहथा कि मुसलमान विजेता मूर्ति कला के विरोधी थे।15वीं शती में महाराणा कुंभा बहुत बड़े वास्तु निर्माता हुए। उन्होंने अनेक विशाल मंदिर औरअपनी गुजरात विजय का स्मारक एक कीर्ति स्तम्भ बनाया जो एक सौ बाईस फुट ऊँचा है।उनके बनाए मंदिर में मुख्य कुम्भस्वामी विष्णु मंदिर हैं जिसे आज मीराबाई का मंदिर कहते हैं।16वीं शती के अंत में आमेर के महाराज मानसिंह ने वृंदावन में गोविंददेव का विशाल मंदिरबनवाया। औरंगजेब ने इसका समूचा एक खंड नष्ट कर दिया। अब इसके गर्भगृह और सभामण्डप मात्र बच गए हैं। फिर भी इतना कुछ होने के बाद भी इसकी कला की महत्ता आज भीप्रकट होती है। इसका अनोखापन यह है कि इसके किसी भी अलंकरण में मूर्ति नहीं बनाई गई है।देखा जाये तो उत्तर भारत में मूर्तिकला का ह्रासउत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।अकबर का बनवाया आगरे का महल, जिसे आज जहाँगीर महल कहते हैं तथा फतेहपुर-सीकरी के भवन कावास्तु सर्वथा भारतीय है। कतिपय कला मर्मज्ञों का उचित कथन है कि भारतीय मूर्तिकला केवल दो कृतियाँ निर्माण करनेमें समर्थ

हुई हैं । एक तो शांति और स्थिरता की अभिव्यक्ति – बुद्ध मूर्ति दूसरे, गति औरस्थिरता- नटराजमूर्ति । नटराज की मूर्ति तांबे की वा कभी-कभी पीतल की होती है एवं ढालकरबनाई जाती हैं। 15वीं, 16वीं शती से लेकर वर्तमान तक इनके उदाहरण मिलते हैं ।
मद्राससंग्रहालय, सिंहल के कोलंबो संग्रहालय तथा वोस्टन संग्रहालय (अमेरिका) में इनका उत्तमसंग्रह है । किन्तु सर्वश्रेष्ठ उदाहरण तामजोर के बृहदीश्वर-मंदिर में है । दक्षिण की अन्य 'कांस्य'मूर्तियों में शिव के अनेक रूपों की शिवभक्तों की, दुर्गा,लक्ष्मी,विष्णु,गणेश आदि देवी-देवताओंकी, तथा नृसिंह, राम, नृत्यगोपाल, वेणुगोपाल आदि अवतार संबंधीनी एवं हनुमानआदि की मूर्तियाँ प्रमुख हैं। इन सब मूर्तियों में अद्भुत विशेषताएं पाई जाती हैं।

इस काल में दक्षिण ने धातु की उत्कृष्ट व्यक्ति- मूर्तियाँ भी बनाई ऐसी मूर्तियों का एक बड़ाअच्छा उदाहरण उधर के लुप्त हिन्दू-राज्य विजयनगर के सबसे प्रतापी और सुसंस्कृत राजा कृष्णदेव राय (1509-1530 ई०) और उसकी दोनों रानियों की प्रतिमा हैं। यह विजयनगर राज्य 1326 ई० में तुंगभद्रा नदी के किनारे स्थापित हुआ और शीघ्र ही एक साम्राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया जिसके अंतर्गत कृष्णा नदी के उस पार का सारा दक्षिण भारत था । इसके अधिपति रायवंश ने विजयनगर नामक महानगर निवेशित किया जो प्रायः दो शातियों तकबनता रहा । इसमें अति अलंकृत दक्षिणी शैली के अनेक मंदिर और देवस्थान थे जिनमे विष्णु का विट्ठलस्वामी नामक तथा राम का हजारा रामस्वामी नामक मंदिर प्रमुख थे। इन मंदिर पर मूर्तियों में समस्त रामायण उत्कीर्ण है । किन्तु ये मूर्तियाँ अकड़ी-जकड़ी हुई हैं । पर इनका अलंकरण अद्भुत है।

1.5 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई में आपने चित्रकला एवं मूर्तिकला का अध्ययन किया। सर्वप्रथम आपने चित्रकला का अध्ययन किया। **'चित्र रति यत् चित्रम्'** अर्थात जो चित्र आनंदित करता है वही वस्तुतः चित्र है। और यह आनन्द रस से उत्पन्न होता है।उपनिषदों में कहा गया है **'रसो वै सः'** यह आत्मा का संस्कार करता है – **'आत्मानं संस्कुरुते'** यह आत्मा यदि पट, भित्ति अथवा फलक किसी पर भी चित्रित या अधिष्ठित रहता है तब एकमात्र वही चित्र है । आत्मा आत्मीयता के लिए व्याकुल रहती है। चारों ओर के वातावरण की आत्मीयता में अपने को प्रकट करने के लिए उसमें (आत्मा में) एक व्याकुलता के उदय होने पर उस चित्रकार की अभिव्यक्ति या रचना ही 'चित्र' है। यही रूप, प्रमाण, भाव लावण्य, सादृश्य, और वर्णिका भंग के द्वारा प्रकट होती है। चित्र रचना एक लम्बी साधना है। उसकी सिद्धि के मार्ग दुर्गम हैं, किन्तु परिणाम उतने ही श्रेष्ठ हैं।चित्र कला के प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक का आपने भली-भाँति अध्ययन किया । साथ ही आपने अलंकृत कला, मिथिलाचित्रकला, कलमकारी चित्रकला, वर्ली चित्रकला,कालीघाट चित्रकला का अध्ययन किया । इसके पश्चात आपने मूर्तिकला का अध्ययन किया। मूर्ति कला के अंतर्गत आपने जाना कि हमारे देश के अधिकांश निवासी मूर्ति पूजक हैं। मूर्ति पूजा के निमित कलाकार ने मूर्ति निर्माण किया। वह ब्रह्म को रस स्वरूप मानता है तथा **"रसों वैः सः"** वाक्य से अपने आंतरिक विचार अभिव्यक्त करता है। रस द्वारा कलाविद उपासकों के मन पर मानोवैज्ञानिक प्रभाव डालता है । अतएव सगुणोपासना के लिए मूर्ति की स्थिति परमावश्यक है। उपनिषद् में उल्लेख मिलता है-

सगुणब्रह्मविषयकमानसव्यापार उपासनम् ।

उपासकानां कार्यार्थे ब्रह्मणो रूपकल्पना ।।

उपासना हेतु योगी के लिए भी ध्यान को केंद्रित करने के लिए मूर्ति की आवश्यकता होती है । मूर्तियाँ सोना, चाँदी, तांबा, काँस, पीतल, अष्टधातु, आदि प्राकृतिक तथा कृत्रिम धातु, पारे के मिश्रण, रत्न, उपरत्न, काँच, कड़े, और मुलायम पत्थर, मसाले, कच्ची वा पक्की मिट्टी, मोम, लाख, गंधक, हाथीदाँत, शंख, सीप, अस्थि, सींग, लकड़ी एवं कागद के कुट आदि उपादानों को उनके स्वभाव के अनुसार गढ़कर, उभारकर खोदकर, पीटकर, हाथ से या औजार से डौलियाकर ठप्पा करके वा सांच छापके अर्थात जो प्रक्रिया जिस उपादान के अनुकूल हो और जिस प्रक्रिया में जो खिलता हो, उत्पन्न की हुई आकृति को मूर्ति कहते हैं । साथ ही आपने प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक की मूर्ति कला का अध्ययन भली-भाँति किया ।

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

- उपादान - सामग्री जिससे कोई वस्तु तैयार हो
- सादृश्य - समानता, तुल्यता, तुलना
- अभिव्यंजना - अभिव्यक्ति
- अपरिमित - जिसकी कोई सीमा न हो
- समन्वय - नियमित क्रम
- मनोभाव - मन का भाव
- आकृति - रूप , चेहरा
- शिल्प - हस्तकला, दस्तकारी
- आत्मीयता - अपनापन, स्नेह-सम्बन्ध
- शनै-शनै - धीरे-धीरे
- उल्लसित - अतिप्रसन्न
- सृजन - रचना, उत्पत्ति

अभ्यास प्रश्न 1

(1) निम्नलिखित प्रश्नों के उचित विकल्प का चयन कीजिये ।

1.वात्स्यायण के 'कामसूत्र' में कितनी कलाओं का वर्णन है ?

(क) 61

(ख) 62

(ग)63

(घ) 64

2. यशोधर पंडित ने चित्रकला के अंग बताये हैं ।

(क) दो

(ख) चार

(ग)छः

(घ) सात

3. भीमबेटका गुफा किस प्रदेश में है ?

(क) उत्तराखंड

(ख) मध्यप्रदेश

(ग)उत्तर प्रदेश

(घ) गुजरात

4. किस सभ्यता के अवशेषों में पत्थर, धातु एवं मृण्यमूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। ये मूर्तियाँ ढालकर या तराशकर बनायी गयी हैं।

(क) सिन्धुघाटी की सभ्यता

(ख) पूर्व मध्यकालीन सभ्यता

(ग)उत्तर मध्यकालीन सभ्यता

(घ) मौर्यकालीन सभ्यता

5. उड़ीसा मण्डल के अंतर्गत कौन सा मंदिर आता है ?

(क) द्वारिका

(ख) सोमनाथ

(ग)राम मंदिर

(घ) कोणार्क

(2) रिक्तस्थानों की पूर्ति कीजिये।

1. उपासना हेतु योगी के लिए ध्यान को केंद्रित करने के लिए----------की आवश्यकता होती है।

2. महराष्ट्र की----------की गुफाओं से चित्रों में चितकबरे हरिणों की खालों को सूखता हुआ दिखाया गया है।

3. मिथिला चित्रकला को----------लोक चित्रकला के नाम से भी जाना जाता है।

4. अशोक ने बुद्ध के जीवन की भिन्न-भिन्न घटनाओं की स्मृति में----------स्तूप बनवाए।

5. ---------- शती में महाराणा कुंभा बहुत बड़े वास्तु निर्माता हुए।

(3) सही गलत का चयन कीजिये।

1. हिन्दू और बौद्ध दोनों साहित्य कला के विभिन्न तरीकों और तकनीकों के विषय में संकेत करते हैं। ( )

2. 19 वीं शती के उत्तरार्ध में कलकत्ता, मुम्बई और मद्रास आदि प्रमुख भारतीय शहरों में यूरोपीय मॉडल पर कला स्कूल स्थापित हुए। ( )

3. 17वीं शती में महाराणा कुंभा बहुत बड़े वास्तु निर्माता हुए। ( )

4. बंगाल-बिहार मण्डल, जहाँ की मूर्तियाँ पाल-वंश की संरक्षण में बनी हैं। इनमे अधिकांश महायानीय बौद्ध धर्म से सम्बन्ध रखती हैं और प्रायः सभी गया के काले पत्थर की बनी हैं। ( )

5. कुषाण काल की बुद्ध की कई मूर्तियों में बुद्ध का चेहरा यूनानी देवता अपोलों से बिल्कुल नहीं मिलता । ( )

1.7अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1 घ, 2 ग, 3 ख, 4 क, 5 घ

2. 1 मूर्ति, 2 नरसिंहगढ़, 3 मधुबनी, 4 84000, 5 (15 वीं) शती

3. 1 सही, 2 सही, 3 गलत, 4 सही, 5 गलत

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.भारतीय चित्रकला का इतिहास, लेखक डॉ श्याम विहारी अग्रवाल

2. भारतीय चित्रकला, लेखक वाचस्पति गैरोला

3. भारतीय मूर्ति-कला, लेखक राय कृष्णदास

4. भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, डॉ रीता प्रताप

5.प्राचीन भारतीय मूर्ति-विज्ञान, लेखक डॉ वासुदेव उपाध्याय

6. भारतीय संस्कृति और विरासत

1.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. चित्र कला कावर्णनकीजिए।

2. मूर्ति कला कावर्णन कीजिए ।

3. उत्तर-मध्यकालीन मूर्ति एवं वास्तुकला कला का वर्णन कीजिए।

4. आधुनिक चित्रकला का परिचय दीजिए।

इकाई -3 वास्तुकला

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 वास्तु शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ
3.4 वास्तुकला के प्राचीन प्रवर्तक
3.5 वास्तुकला के प्राचीन ग्रन्थ
3.6 वास्तुकला के प्रमुख सिद्धांत
    3.6.1 दिक् या दिशा का निर्धारण
    3.6.2 भूमि चयन एवं परीक्षण
    3.6.3 भूखण्ड के प्रकार
    3.6.4 भूमि शोधन या शाल्योद्धार
    3.6.5 वास्तुपद विकल्पन
3.7 गृह-निर्माण
    3.7.1 नींव-निर्माण
    3.7.2 स्तम्भ-निर्माण एवं मुख्य द्वार निर्माण
    3.7.3 भित्ति एवं छत, सोपान निर्माण
    3.7.4 गृह सौन्दर्यीकरण
    3.7.5 विविध कक्ष निर्माण- बैठक, शयन, रसोई,पूजा, पुस्तकालय, भण्डार, शौचालय आदि का विचार
3.8 प्रासाद, नगर एवं दुर्ग-निर्माण
3.9 वास्तुकला का संस्कृत साहित्य में स्थान
3.10 वास्तुकला की आवश्यकता एवं वैज्ञानिकता
3.11सारांश
3.12 बोध-प्रश्न
3.13 शब्दावली
3.14 बोध प्रश्नों के उत्तर
3.15 सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची
3.16 उपयोगी पुस्तकें
3.17 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

ईश्वर की विवेकशील शक्ति से संपन्न मनुष्य में सौंदर्य की अभिव्यक्त करने की भावना जन्मजात रही है, उसी को विद्वानों ने कला कहा है। कं सुखं लाति ददाति इति कला इस व्युत्पत्ति के अनुसार कला सुखदायिनी होती है एवं सौन्दर्य की अव्यक्त भावना कला के रूप में अभिव्यक्त होती है। मनुष्य के जीवन को सुखमय बनाने में चित्र, मूर्ति, संगीत, नृत्य आदि कला के विविध रूपों में वास्तुकला का भी प्राचीन काल से ही महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आवासार्थक 'वस्' धातु से निष्पन्न वास्तु शब्द का भवन के अर्थ में प्रयोग वैदिक साहित्य में उपलब्ध हो जाता है। गृह कैसा होना चाहिए, उसकी रचना कैसी की जाए, गृह-निर्माण के लिए कैसी भूमि ग्राह्य है और कैसी त्याज्य - इत्यादि सभी का वास्तुकला में विचार किया जाता है।इस दृष्टी से इस इकाई के अंतर्गत हम वास्तु शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ, वास्तुकला के प्राचीन प्रवर्तक,वास्तुकला के प्राचीन ग्रन्थ, वास्तुकला के प्रमुख सिद्धांतों में- दिक् या दिशा का निर्धारण, भूमि चयन एवं परीक्षण,भूखण्ड के प्रकार एवं विविध भूमि, भूमि शोधन या शाल्योद्धार, वास्तुपद विकल्पन, गृह-निर्माण के अंतर्गत नींव-निर्माण, स्तम्भ-निर्माण एवं मुख्य द्वार निर्माण, भित्ति एवं छत, सोपान निर्माण, विविध कक्षों में बैठक, शयन, रसोई, पूजा, पुस्तकालय, भण्डार, शौचालय आदि का निर्माणएवं प्रासाद, नगर एवं दुर्ग निर्माण,वास्तुकला का संस्कृत साहित्य में स्थान, वास्तुकला की आवश्यकता एवं वैज्ञानिकता आदि विषयों का अध्ययन किया जाएगा।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप-

- वास्तु शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ के साथ ही वास्तुकला के पर्याय रूपों स्थापत्यकला एवं वास्तुशास्त्र को समझेंगे।
- वास्तुकला के प्रमुख प्राचीन ग्रन्थ एवं प्रमुख प्रवर्तकों के विषय में जानेंगे।
- वास्तुकला के प्रमुख सिद्धांतों के साथ ही वास्तुपद-विकल्पन एवं गृह-निर्माण के विविध तथ्यों से अवगत होंगे।
- नगर एवं दुर्ग-निर्माण के विषय में जानेंगे।
- वास्तुकला का संस्कृत साहित्य में स्थान, वास्तुकला की आवश्यकता एवं वैज्ञानिकता के विषय में जानेंगे।
- वास्तु संबंधी तथ्यों से अवगत होने के बाद आप अपने गृह की सुन्दर परिकल्पना स्वयं कर सकेंगे।

3.3 वास्तु शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ

आवासार्थक वस् निवासे धातु से **'वसेस्तुन्नागारे णिच्च 1.70'** इस उणादि सूत्र से तुन् प्रत्यय होने पर वास्तु शब्द निष्पन्न होता है। वास्तु में **वस् +तुन** का अर्थ है घर बनाने की जगह, भवन, भूखण्ड घर आवास, निवास भूमि। दूसरे शब्दों में वसन्ति प्राणिनो यत्र। अर्थात् जहाँ मनुष्य निवास करते हैं, **यास्काचार्य** ने भी अपने ग्रन्थ में वास्तु पद के निर्वचन किया है- **वस्तुर्वसतेर्निवासकर्मणः तस्य पाता वा पालयिता वा।** अर्थात् गृह की रक्षा करने वाली स्वास्थ्यवर्धक वायु। गृह वाचक वास्तु शब्द **निवासकर्मणः निवासार्थक वसतेः** वस् धातु से

बना हुआ है। **तस्य**-उस वास्तु का, **पाता वा**- रक्षा करने वाला, **पालयिता वा**-पालन करने वाला वास्तोष्पति कहा जाता है। **अमरकोश कार** ने गृह की भूमि को दो नामों से अभिहित किया है वेश्म तथा वास्तु। **वेश्मभूर्वास्तुरस्त्रियाम्** जिसमें वास्तु शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में कहा है कि **गृहरचनावच्छिन्नवास्तुभूमि सामानार्थक वेश्मभूवास्तु।** अर्थात् गृह निर्माण के आधार रूप अविच्छिन्न रूप से वेश्म का समानार्थक, भूमि ही वास्तु है। वामन शिव राम आप्टे वास्तु शब्द के अर्थ में **आवासार्थक वस्** धातु से रहना, बसना निवास करना, डटे रहना और वास करना इन अर्थों का ग्रहण करते हैं। इस प्रकार मकान, भवन, नगर एवं मंदिर आदि में निवास करने योग्य स्थान वास्तु नाम से अभिहित हैं।

3.4 वास्तुकला के प्राचीन प्रवर्तक

भारतीय वास्तुकला शास्त्रों में नगर, ग्राम भवन दुर्ग-निवेश आदि का योजना बद्ध रूप में वर्णन हुआ है, जहाँ वास्तुकला या स्थापत्य कला के क्षेत्र में स्थपति का प्रमुख स्थान बताया गया है। भवनादि-निर्माण के साथ-साथ जीवन को व्यवस्थित एवं कलात्मक बनाने में स्थपति का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। वामन शिवराम आप्टे **स्थपति** शब्द के अर्थ में-राजा, प्रभु, रथकार, बढ़ई, वास्तुकार को अङ्गीकार करते हैं। बुद्धचरितम् में शिल्पकार्य करने वाले कार्मिकों के लिये **उपतिष्य** शब्द का प्रयोग किया गया है। माघ श्री कृष्ण को तीनो लोकों का स्थपति कहते है-

निवेशयामासिथ हेलयोद्धतं फणाभृतां छादनमेकमोकसद्धः।
जगत्त्रयैकस्थपतिस्त्वमुच्चकैरहीश्वरस्तम्भशिरःसुभूतलम्।।

प्राचीन वास्तु प्रवर्तकों के विषय में विचार करें तो सर्वप्रथम आचार्य **विश्वकर्मा** एवं मय क्रमशः देवशिल्पी एवं मानुष शिल्पी कहे गए हैं।ऋग्वेद के दो सूक्तों में विश्वकर्मा का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। इन दोनों सूक्तों के ऋषि और देवता क्रमशः विश्वकर्मा भौवन एवं विश्वकर्मा कहे गये हैं। वस्तुतः यहाँ सर्वशक्तिमान परमात्मा के परमेष्ठी तथा त्वष्टा रूप को सूचित करने के लिये विश्वकर्मा शब्द का प्रयोग हुआ है। वह परमतत्व जगतरूप ब्रह्माण्ड का या समग्र विश्व का निर्माण करने के कारण विश्वकर्मा कहलाता है। ऋग्वेद में उसे महान आकाश और पृथ्वी से परे एवम् अज बताया गया है-**(परो दिवा पर एना पृथिव्या। ऋग्वेद 10.8.2.5, अजस्य नाभौ.....। वही 10.8.2.6)।** मानसारवास्तुशास्त्र में कहा गया है कि वही **विश्वकर्मा** ब्रह्माण्ड की रचना बार-बार करता है।साथ ही इन्हें इन्द्र नगरी अमरावती एवम् अन्य प्रसिद्ध भवनों का निर्माणकर्ता बताया गया है-

विश्वाभिसायिधीः सर्वं विश्वकर्मा करिष्यति,
राजन्नसौ महेन्द्रस्य विदधावमरावतीम्।
अन्या अप्यमुना रम्याः पूर्यो लोकभृतां कृताः
त्वया क्षेत्रीकृतां मूर्तिं दृष्ट्वा साद्रिदूमामसौ।।

वहीं दूसरी ओर वाल्मीकि द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि लङ्का के भवन उसकी सर्वाङ्गीणता में इतने अधिक विलक्षण थे मानो उसकी रचना स्वयं विश्वकर्मा ने अपने हाथों से की हो। विश्वकर्मा के अतिरिक्त मय नामक स्थपति का भी प्रमुख स्थान है। मानसार के अनुसार ब्रह्मा के पूर्व, पश्चिम, उत्तर से विश्वकर्मा मनु और तवष्टा की एवं इसकी उत्पत्ति ब्रह्मा के दक्षिण मुख से मानी गई है। मय ने सूत्र-ग्राहिता में विलक्षण निपुणता प्राप्त की थी, अत एव मय के पुत्र

को सूत्रग्राही कहा गया है। वाल्मीकि रामायण में किष्किन्धा काण्ड में 50-53वें सर्ग तक भू-गर्भ में रमणीय गिरी-दुर्गों वर्णन किया गया है, जिसकी रचना मय ने अपनी लोकोत्तर शक्ति से की है। महाभारत में भी दानवराज मय के वास्तुकौशल की भूरी-भूरी प्रशंसा की गई है। उसने ही पाण्डवों के विलक्षण सभाभवन का निर्माण किया था। इनके अतिरिक्त परवर्ती काल में विभिन्न वास्त्वाचार्य हुए हैं, जिनका उल्लेख हमें वास्तु एवं पौराणिक ग्रंथों में उपलब्ध होता है।मत्स्यपुराण में 18 स्थपतियों में-भृगु, अत्रि, वशिष्ठ, नारद, नग्नजित, विशालाक्ष, पुरन्दर, ब्रह्मा, कुमार, नन्दीश, शौनक, भर्ग, वासुदेव, अनिरूद्ध, शुक्र, बृहस्पति, विश्वकर्मा तथा मय का विवरण उपलब्ध होता है।

अग्निपुराण में पच्चीस वास्तुविद आचार्यों का परिगणन किया गया है, जिनमें हयशीर्ष, गालव, त्रिलाकमोहन, नारद, विभव, सम्प्रश्न, पुष्कर, शाण्डिल, प्रह्लाद, विश्वक, गर्ग, सत्य, शुनक, अत्रि, वशिष्ठ, नरसिंह, ज्ञानसागर, आनन्द, स्वयम्भू, अरूण, कपिल, बौद्धायन, तार्क्ष्य, ऋषि आर्ष तथा नारायण प्रमुख हैं। बृहत्संहिता में वशिष्ठ, गर्ग, पराशर, कश्यप, विश्वकर्मा, मय, मनु आदि का उल्लेख किया गया है। मानसार में 32 वास्तुशास्त्राचार्यों की सूची प्राप्त होती है, जिनमें-विश्वकर्मा, विश्वेश, विश्वसार, प्रबोधक, वृत्त, मय, त्वष्टा, मनु, नल, मानवित, मानकल्प, मानसार, प्रष्टा, मानबोध, विश्वबोध, नय, आदिसार, विशालाक्ष, विश्वकाश्यप, वास्तुबोध, महातन्त्र, वास्तुविद्यापति, पाराशरीयक, कालयूप, चैत्य, चित्रक, आवर्य, साधकसार सहित, भानु, इन्द्र, लोकग्य एवं सौर प्रमुख हैं।

विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में अगत्स्य, नन्दी, नारद, बृहस्पति, तिम्यलोक, काश्यप, लोकदर्शक, कात्यायन, मरीचि, चित्रतोयक, पालकाप्य, पुण्डरीक, दीर्घदर्शी, पुनर्वसु एवं योगसार आदि वास्तुविदों का उल्लेख किया गया है।

उपर्युक्त वास्तुशास्त्राचार्यों के सन्दर्भ में कुछ विद्वानों का मत है कि 'मत्स्यपुराणोक्त वास्तुशास्त्रोपदेष्टाओं की नामावली की अपेक्षा अग्निपुराण तथा मानसार की सूचियाँ भ्रष्ट तथा काल्पनिक हैं,जिनमें पुनरूक्ति दोष भी है। इन सूचियों में आचार्यों के कुछ ज्ञान-विज्ञान के देवता, कुछ वैदिक या पौराणिक ऋषि, कुछ असुर और कुछ सामान्य शिल्पज्ञ आचार्य हैं'।

3.5 वास्तुकला के प्राचीन ग्रन्थ

गृह एवं भवन-निर्माण सम्बन्धी वास्तुकला के विविध प्रसंग-वेदों, पौराणिक ग्रंथों, आर्षकाव्यों एवं नीतिपरक ग्रंथों में संकेत रूप में उपलब्ध होते हैं, किन्तु परवर्ती काल में कुछ मूल ग्रंथों का विकास हुआ, जिनमें गृह एवं भवन आदि के निर्माण संबंधी विभिन्न नियमोंव सिद्धांतों का उल्लेख उपलब्ध होता है। इनमें विश्वकर्माप्रकाश, मयमतम समरांगणसूत्रधार, मानसार,अपराजितपृच्छा,राजवल्लभवास्तुशास्त्र,वास्तुमण्डनम्आदि प्रमुख हैं-

1. विश्वकर्माप्रकाश- विश्वकर्माप्रकाशया विश्वकर्मावास्तुशास्त्र वास्तुविद्या का प्रतिनिधित्व करने वाला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके प्राचीन रचनाकार आचार्य विश्वकर्मा माने जाते हैं। इस ग्रन्थ में कुल 87 अध्याय हैं, जिसमें स्थापत्य विधि के विविधांगों का प्रतिपादन किया गया है, जिसमें इन्द्रादि देवताओं के द्वारा कैलाश पर भगवान शिव की स्तुति एवं नान्दीपाठ के द्वारा विश्वकर्मा को आमन्त्रित करने के साथ ही विभिन्न वर्णों के भवनों व देवालयों के निर्माण में स्तम्भ, वापी, तटाक आदि के निर्माण से पूर्व शंकु-स्थापन के द्वारा दिशा-निर्णय के विधान का वर्णन किया गया है।

2. मयमतम- मयतम वास्तुकला का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसकी रचना मय नामक मुनि ने की थी। इसे दक्षिण भारतीय वास्तु-परम्परा अथवा द्रविड़ रीति का मानक ग्रन्थ कहा जाता है। असुरराज मय शैव मत में अपनी पूर्ण अस्था रखते हैं। इस ग्रन्थ के प्रतिमा-लक्षण संज्ञक अध्याय में यद्यपि सभी देवी-देवताओं की प्रतिमायें लक्षणसहित वर्णित है तथापि शिव की प्रतिमाओं एवं शिवलिंगों के लक्षण एवं निर्माण आदि पर विशेष प्रकाश डाला गया है। डॉ0 शैलजा पाण्डेय द्वारा सम्पादित अनेक वैशिष्टयों से युक्त यह ग्रन्थ संग्रहाध्याय, वस्तुप्रकार, भू-परीक्षा, भू-परिग्रह, मानोपकरण, दिक्परिच्छेद, पदविन्यास आदि 36 अध्यायों में उपनिबद्ध है।

3. समरांगणसूत्रधार-धाराधिप भोजकृत यह ग्रन्थ भारतीय स्थापत्यशास्त्र में अप्रतिम स्थान रखता है। स्थापत्य कला के नानाविध विषयों के विवेचन से राजा भोज की उत्कृष्ट विद्वता का पता चलता है। इस ग्रन्थ में वास्तु शिल्प के सरल एवं सूक्ष्म रूप में सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों का वर्णन किया गया है। राजा भोज ने अपने इस स्थापत्य कृति को 83 अध्यायों में वर्गीकृत किया है। इन अध्यायों में विषय-प्रर्वतन एवं पृष्ठभूमि: अध्याय महासमागमन, विश्वकर्मा-पुत्र संवाद, प्रश्नाध्याय, महदादिसर्ग, भुवनाकोश, सहदेवाधिकार, वर्णाश्रमप्रविभाग, वास्तु विषय एवं आवश्यक सामग्री: अध्याय भू-परीक्षा, हस्तलक्षण,पुरनिवेश,वास्तुत्रयविभाग, नाड्यदि सिरादि विकल्पन, मर्मवेध पुरूषांग देवानिघण्टादि निर्णय,आवास नियोजन एवं काष्ठ संग्रह, उत्सवादि विषय: राजनिवेश, वनप्रवेश,इन्द्रध्वज निरूपण आदि प्रमुख हैं

4. मानसार-धाराधिप भोजकृत यह ग्रन्थ भारतीय स्थापत्यशास्त्र में अप्रतिम स्थान रखता है। स्थापत्य कला के नानाविध विषयों के विवेचन से राजा भोज की उत्कृष्ट विद्वता का पता चलता है। इस ग्रन्थ में वास्तु शिल्प के सरल एवं सूक्ष्म रूप में सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों का वर्णन किया गया है। इन अध्यायों को निम्न उपशीर्षकों में भी वर्गीकृत किया जा सकता है। यह ग्रन्थ विषय-प्रर्वतन एवं पृष्ठभूमि: अध्याय महासमागमन, विश्वकर्मा-पुत्र संवादप्रश्नाध्याय, महदादिसर्ग, भुवनाकोश, सहदेवाधिकार, वर्णाश्रमप्रविभाग, वास्तु विषय एवं आवश्यक सामग्री: अध्याय-भू-परीक्षाहस्तलक्षण, पुरनिवेश,वास्तुत्रयविभाग,नाड्यदि सिरादि विकल्पन, मर्मवेध पुरूषांग देवानिघण्टादि निर्णय। आवास नियोजन एवं काष्ठ संग्रह, उत्सवादि विषय: राजनिवेश, वनप्रवेश, इन्द्रध्वज निरूपण,नगरादि संज्ञा, चतुश्शालविधान आदि अध्यायों का समावेश किया गया है।

5.**अपराजितपृच्छा-** 12वीं-13वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध व उत्तरार्द्ध में विरचित यह ग्रन्थ भारतीय स्थापत्य विद्या में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस ग्रन्थ के शाब्दिक अर्थ में-जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि अपराजित के द्वारा पूछा हुआ। विश्वकर्मा के चार मानस-सुतों-जय, विजय, सिद्धार्थ में सबसे कनिष्ठ अपराजित थे। इस ग्रन्थ में जहाँ उनके द्वारा प्रश्न किया गया है। वहीं उनके पिता द्वारा उत्तर दिया गया है। यह ग्रन्थ 236 व 237 सूत्रों में उपनिबद्ध है इसलिये इसे सूत्रसन्तानगुणकीर्तिप्रकाश या सूत्र-सन्तान भी कहा गया है। इस ग्रन्थ में विश्वकर्मा विश्वकर्मा द्वारा अपनी कुटि का निर्माण, अपराजित द्वारा अपने पिता को स्थापत्य विद्या के ज्ञान हेतु पूछे जाने वाले प्रश्नों का प्रारम्भ आदि का वर्णन किया गया है।

6. राजवल्लभवास्तुशास्त्र- सूत्रधार मण्डन द्वारा विरचित यह ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से स्थापत्य कला में अपूर्व स्थान रखता है। सूत्रधार मण्डन महाराजाकुम्भकर्ण के प्रमुख स्थपतियों में जयता, नारद प्रभृति आदि के सदृश सूत्रधार मण्डन का राजदरबार में विशेष आदर था। महाराजाकुम्भकर्ण के प्रान्त में उनकी विद्वता के कारण विशिष्ट ख्याति थी एवम् अपनी इसी

विद्वता के बल पर वह कुम्भकर्ण के प्रियात्मन् बने रहे जैसा कि स्वयं राजवल्लभ में उल्लेख किया गया है-

श्रीमदपाटे नृपकुम्भकर्णस्तदङ्घ्रिराजीवपरागसेवी।
स मण्डनाख्यो भुवि सूत्रधारः पूर्वोदिते भूपतिवल्लभोऽयम्।।

डॉ0 श्री कृष्ण जुगनू द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ 14 अध्यायों में उपनिबद्ध है। प्रथम अध्याय से मिश्रकलक्षण, गृहनिर्माणप्रयोजन,गृहनिर्माणकाल, गृहारम्भचन्द्रमास, सौरमास, द्वारविचार दुर्गपरसंयन्त्र, जलाशय-निर्माण, राजगृहनिर्माण आदि तथ्यों, चतुर्दश अध्याय तक शकुनलक्षण, शकुनप्राशत्य, दुर्गाशकुन, पूर्वादिदिक्विचार आदि प्रसंग समाविष्ट किये गये हैं।

7. वास्तुमण्डनम्- भारतीय स्थापत्य शास्त्रीय ग्रन्थ-रचनाओं में सूत्रधारमण्डन भारद्वाज का रचनाकर्म अति महत्त्वपूर्ण माना जाता है। श्री मण्डन मेवाड़ के राजा महाराणाकुम्भा अथवा कुम्भकर्ण के आश्रयदाता थे, जिनका समय 1433-1468 ई0 पू0 माना जाता है। श्री कृष्ण जुगनू द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में उपनिबद्ध है, इसमें, गृहारम्भ का मूहूर्त, अमृत-सिद्धि आदि योग, नक्षत्रज्ञान, गृह-कार्य शुभ अयादिलक्षण में- वास्तु कार्य में अयादि विचार, आयकल्पन, गजस्थान, सिंहस्थान आदि, पुरदुर्गयन्त्रजलाशयादिलक्षण में- दुर्गप्रशंसा, दुर्गनिर्माण, प्राकारनिर्माण, पुरभेद राजगृहस्थान, पुरमार्ग, पुरप्रमाण, दुर्गरक्षणार्थ विविध विषयों का विवेचन किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त- शिल्परत्न, मनुष्यालयचन्द्रिका, रूपमण्डन, शिल्परत्न आदि तथा कतिपय आधुनिक ग्रन्थों में बृहद्वास्तुमाला, वास्तुशास्त्रविमर्श, वास्तुमंजरी, वास्तुरत्नाकर, वास्तुविद्या आदि प्रमुख ग्रन्थ हैं, जिनमें मनुष्य के जीवन को सुखमय बनाने वाले सभी वास्तु विषयक तथ्यों का वर्णन उपलब्ध होता है।

3.6 वास्तुकला के प्रमुख सिद्धांत

3.6.1 दिक् या दिशा का निर्धारण-

गृह के मुख्य द्वार एवं भीतरी कक्षों के उचित विन्यास हेतु दिशा-चयन सम्बन्धीपरम्परा परवर्ती वास्तुशास्त्र में सैद्धान्तिक रूप में विकसित हुई। इस पद्धत्ति में गृह या भवन विन्यास से पूर्व वास्तु-भूमि की दिशा निर्धारण अथवा दिक्-साधन अथवा दिक्-निर्णयादि किया जाता था। तथा प्रथमतः चारों दिशाओं में प्रातः कालीन सूर्योदय वाली दिशा **प्राची** दिशा मानी जाती थी, भारतीय जनमानस भावना के तहत प्रातःकालीन सूर्यरश्मियों का सेवन स्वास्थ्यप्रद माना गया है। अतः आवासीय भवन का विन्यास इस प्रकार से हो कि जहाँ सूर्य की रश्मियाँ निर्बाध रूप से संचरण करती हों एवं उसमें निवास करने वाले लोगों को अनायास ही प्रातःकालीन सूर्य का प्रकाश प्राप्त हो सके, ऋग्वेद का यह उदाहरण भारतीय वास्तुकला की वैज्ञानिकता को सिद्ध करता है- **ता वां वास्तून्युश्मासि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृंगा आयासः।**

प्राचीन समय में **शंकुस्थापन** द्वारा दिशा का ज्ञान प्राप्त किया जाता था। इसके लिये खदिर, तिन्दुक, क्षीरवृक्ष, कृतमाल, चन्दन, रक्तचन्दन, मौलश्री, सागौन आदि के अतिरिक्त सालवृक्षों से शंकु-निर्माण का निर्देश प्राप्त था तथा इस शंकु का व्यास शीर्ष पर एक अंगुल तथा मूल आधार पर पाँच अंगुल होता था। भवन विन्यास हेतु चयनित भू-खण्ड पर प्रातः काल में निर्मित शंकु के दुगुनी रस्सी से एक केन्द्र का निर्माण कर एक वृत्त का निर्माण किया जाता था। प्रातःकालीन सूर्यादय के कुछ कालोपरान्त शंकु की छाया, सांयकालीन छाया पड़ने वाले

चिह्नित स्थानों को क्रमशः **प्राची** एवं **पश्चिम** दिशा एवं पूर्व में छाया पड़ने वाले चिह्नित स्थानों को मिलाते हुए मत्स्याकृति सदृश शीर्ष भाग पर **उत्तर** तथा **दक्षिण** दिशा की परिकल्पना की जाती थी। इस दृष्टि से प्रत्येक दिशा-विदिशाओं का अपना महत्त्व था, जिसमें उत्तर एवं पूर्व दिशाएं ईशानकोण, पूर्व एवं दक्षिण दिशा आग्नेयकोण, पश्चिम एवं उत्तर दिशाएं वायव्यकोण, दक्षिण एवं पश्चिम दिशाएंनैर्ऋत्यकोण कहा जाता है।-

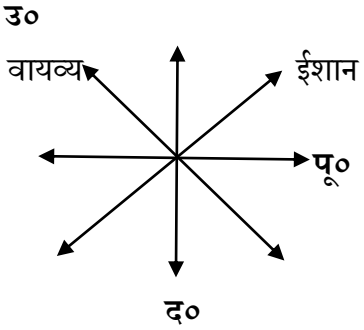

ग्राम, नगर, गृहादि के उपयुक्त विन्यास के लिये दिशा एवं उपदिशाओं का ज्ञान कितना आवश्यक था इस कथन की सूचना इस उपरोक्त काष्ठ-विशेष से निर्मित शंकुस्थापन द्वारा दिशा-निर्धारण से मिलती है- प्राचीनकाल में आधुनिककाल की भॉति दिशा का निर्धारण करने वाले यन्त्रों का आविष्कार नहीं हुआ था तब भी तत्कालीन स्थपतियों अथवा वास्तुविद्याविशारदों द्वारा वास्तुविन्यास में दिग्ज्ञान के लिये की स्थापना कर सूर्य की छाया या ध्रुव तारे के आधार पर उसका निश्चय किया जाता था। आाधुनिक समय में शंकु-प्रकल्पन एवं उसका स्थापन अनावश्यक प्रतीत होता है, तथापि जो मौलिक सिद्धान्त है, वह अपनी जगह स्थिर है भले ही उसके साधन परिवर्तित हो गये हों। अतः दिक्ज्ञान, वास्तुपदविन्यास और वास्तुपुरूष विकल्पन के अनन्तर ही तदानुकूल गृह, ग्राम, खेट, खर्वट, जनपद, तथा नगरादि का उनके पृथक-पृथक अंगों-उपांगों एवं विविध दिशाओं में उसके द्वार, मन्दिर, उपवन, मार्गरथलों या वाहन-स्थान आधुनिक दृष्टि से रेलवे स्टेशन, बस स्टैण्ड आदि, औषधालय, चिकित्सालय, शास्त्रागार, राजकीय, भोजनशाला, कर्मशालाएँ, मनोरंजनस्थल, राजकोषभवन, विभिन्न प्रशासनिक अधिकारियों के कार्यालयी भवन, वसति-विन्यास अर्थात् विभिन्न व्यवसाय तथा कार्य से सम्बधित जनों के आवासित भवनों एवं नानाविध पदार्थों के क्रयविक्रय-स्थल आदि का विन्यास करना हो दिक्ज्ञान के अनन्तर तदनुकूल उपयुक्त स्थानों पर उन्हें मूर्तरूप दिया जा सकता है।

3.6.2 भूमि चयन एवं परीक्षण

भूमि चयन-

गृह, भवन, नगर-निर्माण के आधार रूप में प्रथम एवं अनिवार्य तत्त्व भूमि है। यह भूमि जितनी निर्दोष, सुदृढ़ तथा विभिन्न प्रकार के शुभ लक्षणों से युक्त होगी, उस पर बनने वाले भवन, नगर, आदि उतने ही सुदृढ़, स्थाई तथा सुखप्रद होंगे। प्राचीनकाल से ही मानव गृह या भवन सन्निवेश से हेतु ऐसे स्थान का चयन करते आए हैं जो उपयुक्त जलवायु, सुगन्धित, स्वच्छ वातावरण, नदी एवं पर्वत उपत्यकाओं से युक्त हो।विश्वकर्माप्रकाश में कहा गया है कि जिस भूमि में अपने वर्ण का गन्ध हो तथा जो सुन्दर स्वाद से युक्त हो उस भूमि पर वास करने से धन-धान्य और सुख की प्राप्ति होती है। अतः गृहादि निर्माण से पूर्व भूमि का परीक्षण अवश्य करना चाहिए।

वर्ण के गन्ध से तात्पर्य है कि चारों वर्णों के लिए पृथक्-पृथक् गन्ध-युक्त भूमि होनी चाहिए, जिसमें सुन्दर गन्ध वाली भूमि ब्राह्मणी, रक्त गन्ध वाली क्षत्राणी, मधुगन्ध वाली वैश्या तथा मदिरा गन्ध वाली भूमि शूद्रा कही गई है।इसी प्रकार बृहद्वास्तुमाला में वर्णित प्रशस्त औषधि वाले वृक्षलतादि से युक्त मधुर, सौम्य, सुगन्धित, समतल व सुख देने वाली तथा कोलाहल से दूर जहाँ श्रम से थका हुआ व्यक्ति भी आकर विगत श्रम से आनन्दित हो जाता है। ऐसी भूमि में भवन-निर्माण होने पर वह धनादिसुख क्यों प्रदान नही करेगी अर्थात् अवश्य करेगी। भूमि चयन के सन्दर्भ में शुक्रनीति में भी स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि राजा को अपनी राजधानी-निर्माण करने से पूर्व ऐसी भूमि या स्थान का चयन करना चाहिए जहाँ नानाप्रकार की लतायें व वृक्ष, पशु और पक्षियों के गुणों से युक्त स्थान हों और जिसमें अधिक अन्न उत्पन्न होने के साथ-साथ पर्याप्त मात्रा में जल हो, जिसमें काष्ठ और तृण का सुख हो और समुद्रपर्यन्त आवागमन का साधन (नाव आदि) हो-ऐसी रमणीक और समतल भूमि में सन्निवेश करना चाहिए। कौटिलीय अर्थशास्त्र में वास्तु विद्या के विद्वानों द्वारा बताई गई प्रशस्त भूमि- किसी नदी के संगम पर, बड़े-बड़े तालाबों के किनारे, अथवा कमलयुक्त जलाशयों के तट पर स्थित भूमि को नगर-सन्निवेश हेतु उपयुक्त बताया गया है।

वास्तुकप्रशस्ते देशे नदी सङ्गमे ह्रदस्थ वा विशेषस्यङ्क
सरसस्तटाकस्य वा वृतं दीर्घ चतुरश्रं वा वास्तुकवशेन
प्रदक्षिणोदकं पण्यपुटभेदनंसवारि पथाभ्यामुपेतम्।।

भूमिपरीक्षण-

व्यक्ति जिस भूखण्ड पर गृह या भवन आदि का निर्माण करना चाहता है, वहाँ की भूमि का परीक्षण अवश्यंभावी माना गया है। इस सन्दर्भ में वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में भूमि चयन हेतु भूमि-परीक्षा शब्द उपलब्ध होता है।भूमि-परीक्षण के लिए उनमें अनेक सरल विधियों का वर्णन प्राप्त होता है, जिनसे भूमि की दृढ़ता का ज्ञान प्राप्त होता था। इन विधियों में जल द्वारा भूमि परीक्षण तथा गड्ढा खोदकर भूमि-परीक्षण प्रमुख है-

जल द्वारा भूमि परीक्षण-

जिस भूमि पर गृह या भवन सन्निवेश करना हो वहाँ खात बनाकर बुद्धिमान स्थपति को प्रथमतः जल द्वारा परीक्षण करना चाहिए, इसके लिये गृहस्वामी स्थपति के एक हस्त प्रमाण का अर्थात् एक हाथ लम्बा एक हाथ चौड़ा तथा एक हाथ गहरा गड्ढा खोदकर रात्रि में उसे जल से आपूरित कर देना चाहिये। प्रातःकाल स्थपति को इस गड्ढे का परीक्षण करना चाहिए। यदि खात(गड्ढे) में जल शेष हो तो सभी प्रकार की सम्पत्तियों के लिए उस भूमि को गृह-निर्माण-कार्य हेतु ग्रहण करना चाहिए, परन्तु यदि गड्ढे में नमी रहे तो गृह का विनाश कहा गया है। तथा शुष्क रहने पर धन-धान्य की हानि कही गई है। इसके अतिरिक्त उस गड्ढे के मध्य में यदि दाहिनी ओर घूम कर जल बहे तो इस प्रकार की सुरभि की मूर्ति के सदृश वाली भूमि सर्वसम्पत्तिकारक होती है। तथा इस प्रकार की भूमि को गृह या भवन निर्माण कार्य हेतु ग्रहण करना चाहिए। समराङ्गणसूत्रधार में भी लगभग इसी प्रकार से भूमि परीक्षण के सम्बन्ध में कहा गया है कि भवन निर्माण हेतु चयनित भू-स्थल पर गड्ढा खोदकर उसे जल से भरकर सौ पग चलकर लौट आवें, एवं गड्ढे को देखें, यदि उसमें उतना ही जल शेष रहे तो उस भूमि को सर्वकामिकी अर्थात्

सब कामनाओं को पूर्ण करने वाली जानना चाहिए। यदि पानी कम हो जाय तो उसे मध्यम श्रेणी की भूमि और उससे भी कम हो जाए तो वह अधम भूमि कहलाती है-

भृत्वाद्धिः खातमापूर्णे तस्मिन् पदशतं व्रजेत्
तावच्चेदागमेऽम्भः स्याद् तदा भूः सार्वकामिकी।
मध्यमात्रप्रहीणे स्यात् ततो हीनतरेऽधमा।।

अपराजितपृच्छा में खुदे हुए गड्ढ़े में जल भरकर शिल्पी का सौ पद चलने तथा पुनः लौटकर आने पर आने पर गड्ढ़े में जल की अवशिष्ट मात्रा के आधार पर भूमि को उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ की संज्ञा दी गई है। यदि गड्ढ़े में उतना ही जल रहे तो वह भूमि उत्तम जल यदि एक अंगुल कम हो जाय तो वह भूमि मध्यम तथा जल के दो अंगुल कम हो जाने पर उसे कनिष्ठ भूमि जानना चाहिए। भूमि में जल की मात्रा अल्प होने पर उसे अतिहीन मानते हुए त्याग देना चाहिए।

गड्ढा खोदकर भूमि-परीक्षणया मृत्तिका परीक्षण-

समराङ्गणसूत्रधार में उल्लेख उपलब्ध होता है कि गृह एवं भवन निर्माण से पूर्व चयनित भू-खण्ड के मध्य भाग में एक हस्त प्रमाण में गड्ढ़ा खोदना चाहिए और वहाँ से मृत्तिका को निकालकर पुनः उस गड्ढ़े को भर देना चाहिए। यदि वह मिट्टी गड्ढ़े के भरने से अधिक रह जाए तो उसे उत्तम भूमि, और यदि मिट्टी बराबर अर्थात् गड्ढ़ा पूर्ण भर जाने पर अवशेष न रहे तो मध्यम तथा यदि गड़ढा मिट्टी से पूर्ण न भरे तो उसे अधम भूमि जानना चाहिए।इसी प्रकार मृत्तिका-परीक्षण की अन्य विधियों में चयनित भू-खण्ड के मध्य में गड्ढ़ा खोदकर ब्राह्मणादि चारों वर्णों के अनुरूप क्रमशः श्वेत, रक्त, पीत तथा कृष्ण वर्ण की पुष्पमालायें रख देनी चाहिए और जिस वर्ण की माला न मुर्झाये उस वर्ण वाले व्यक्ति के लिए उस भूमि को प्रशस्त जानना चाहिए। बृहद्संहिता में-चारों वर्णों के प्रतीक रूप में भिन्न-भिन्न वर्णों के पुष्पों को सांयकाल में गड्ढ़े में डालने तथा द्वितीय दिवस में वर्णानुरूप पुष्पों के म्लान न होने का निरीक्षण करने की बात कही गई है। साथ ही, व्यक्ति को प्रसन्नमनाकूल निवास करने का निर्देश दिया गया है-

स्वध्रोषितं न कुसुमं यस्य प्रम्लायतेऽनुवर्णसमम्।
तत्तस्य भवति शुभदं यस्य च यस्मिन् मनो रमते।।

प्राचीन समय में मृत्तिका-परीक्षण दीपक जलाकर भी किया जाता था। भोज ने इस सन्दर्भ में कहा है कि चयनित भू-भाग में खात का कार्य कर उसकी उत्तरादि दिशाओं में दीप जलाकर रख देना चाहिए। जिस दिशा का दीपक अधिक समय तक जलता रहे उस दिशा के लिए निश्चित वर्ण हेतु उस भूमि को प्रशस्त जानना चाहिए। बृहतसंहिता में भी खात में चार अलग-अलग बातियों को प्रज्वलित करने का निर्देश देते हुए ब्राह्मणादि वर्णों के लिए उत्तरादि दिशाओं के क्रम से जिस दिशा में प्रज्ज्वलित बातियों में जो देर तक प्रज्वलित रहे उस भूमि को उस वर्ण के अनुकूल जानकर प्रशस्त बताया गया है। वराहमिहिर के अनुसार जिस भूमि में गृह बनाना हो, प्रथम उसको हल से जोतकर उसमें बीप वपन करना चाहिए, जब वह बीज पक चुके हों तो फिर एक रात्रि उस भूमि में गौ बैठे, ब्राह्मण उस भूमि की प्रशंसा में पाठादि करें, ऐसी भूमि में गृह बनाने की इच्छा करने वाला पुरूष ज्योतिषी के बताये हुए पुष्प और धूप करके क्षेत्रपाल आदि देवताओं पूजन करके शिल्पियों द्वारा गृह सन्निवेश का कार्य प्रारम्भ करवाना चाहिए। बीजाङ्कुर निकलने के आधार पर वास्तुविद् विश्वकर्मा ने सन्निवेश हेतु भूमि को तीन भागों- उत्तम-भूमि, मध्यम-भूमि तथा अधम-भूमि में वर्गीकृत किया। जिस भूमि पर बीज वपन कर तीन

रात्रियों में अंकुर आए उसे उत्तम भूमि, पांच रात्रियों में अंकुर आने वाली भूमि को मध्यम, तथा जिस भूमि पर अंकुरों का स्फुरण बहुत मन्द था उसे अधम भूमि की संज्ञा दी है।

3.6.3 भूखण्ड के प्रकार एवं विविध भूमि-

गृह या भवन आदि निर्माण के आधार तत्त्व भू-खण्ड के चयन एवं परीक्षण के पश्चात् भूखण्ड की आकृति विशेष में अवनत, उन्नत, वर्गाकार, आयताकार, वृत्ताकार आदि विषय पर विचार किया जाता है क्योंकि भू-खण्ड की आकृति से गृह या भवन की संरचना प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।गृह या भवन सन्निवेश हेतु अवनत भूखण्ड तथा उन्नत भूखण्ड के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के भूखण्डों में गजपृष्ठप्लववास्तु, कूर्मपृष्ठप्लववास्तु, दैत्यपृष्ठप्लववास्तु, नागपृष्ठप्लवास्तु आदि का वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में विवेचन मिलता है-

गृह या भवन सन्निवेश हेतु अवनत भूखण्ड तथा उन्नत भूखण्ड के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के भूखण्डों में गजपृष्ठप्लववास्तु, कूर्मपृष्ठप्लववास्तु, दैत्यपृष्ठप्लववास्तु, नागपृष्ठप्लवास्तु आदि का वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में विवेचन मिलता है-

गजपृष्ठभूखण्ड-

दक्षिण, पश्चिम, नैर्ऋत्यकोण व वायव्ययकोण में उन्नत(ऊँचा) भूखण्ड गजपृष्ठ भूखण्ड कहा गया है। इस प्रकार के भूखण्ड में निवास करने से धन एवम् आयु में निरन्तर वृद्धि होती है। इसी प्रकार वास्तुरत्नावली में दक्षिण-पश्चिम, नैर्ऋत्य और वायव्यकोण की ओर से उन्नत एवम् अन्य दिशाओं में अवनत भूखण्ड को गजपृष्ठ भूखण्ड की संज्ञा दी गई है। इस भूखण्ड को सन्निवेश हेतु अत्यन्त शुभ माना गया है-

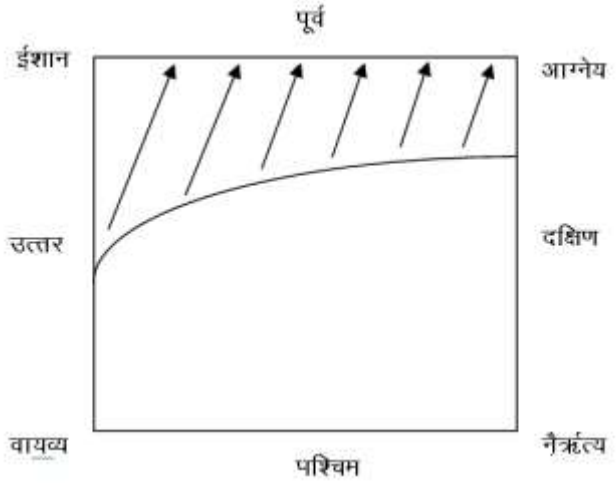

गजपृष्ठभूखण्ड चित्र

कूर्मपृष्ठभूखण्ड-

जिस भूखण्ड में बीच का भाग अधिक उन्नत (ऊँचा) तथा चारों दिशायें व चारों ओर की भूमि अवनत हो, उसे कूर्मपृष्ठ भूखण्ड कहा गया है। इस प्रकार के भूखण्ड पर निवास करने से शरीर में नित्य उत्साह एवं स्फूर्ति का संचार रहता है एवं सुख तथा धन-धान्य की भी वृद्धि होती है-

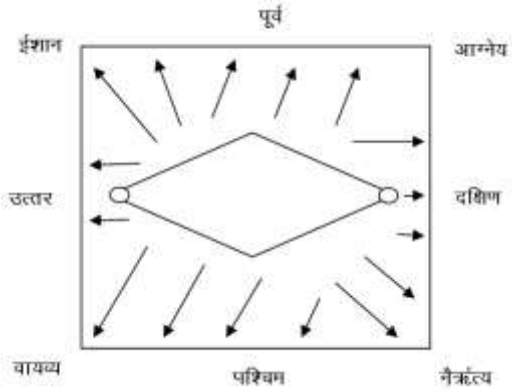

कूर्मपृष्ठभूखण्ड चित्र।

प्राचीन समय में राजा के रक्षा के साधनों में विभिन्न प्रकार के दुर्गो में मही, नृ, वृक्षादि दुर्गो में गिरि दुर्ग के निर्माण हेतु उपर्युक्त प्रकार के भूखण्ड का आश्रय लिया जाता था क्योंकि वह दुर्ग धन-धान्य, शास्त्रादि तथा प्राकृतिक सम्पदाओं से युक्त होता था-यत्पुरं दुर्गसम्पन्नं धान्यायुधसमन्वितम्।

दैत्यपृष्ठ भूखण्ड-

भवन सन्निवेश हेतु जिस भूखण्ड में पूर्व, आग्नेय एवम् ईशानकोण वाले भाग अधिक ऊँचे तथा पश्चिम दिशा वाला भाग नीचा हो उसे दैत्यपृष्ठ भूमि कहा गया हैं। दैत्यपृष्ठभूखण्ड में निवास करने से घर में लक्ष्मी का आवागमन न होने की बात कही गई है एवं इससे निस्सन्देह निवास कर्ता को धन, पुत्र, पशु आदि की हानि कही गई है-

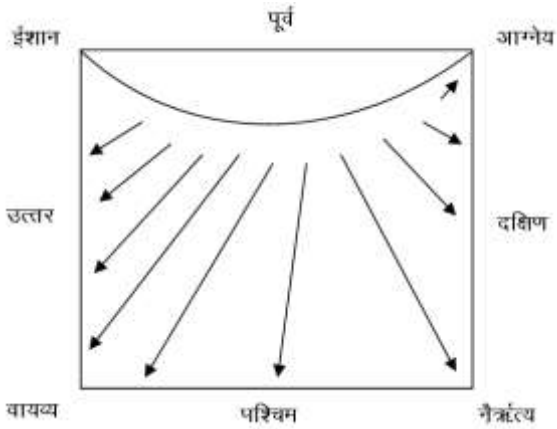

दैत्यपृष्ठ भूखण्ड चित्र।

वास्तुशास्त्रविमर्श में भी कहा गया है कि जो भूखण्ड ईशान, पूर्व तथा आग्नेय ऊँचा हो और अन्य दिशाओं में अवनत हो वह भूमि दैत्यपृष्ठवास्तु कहलाती है। अत एव दैत्यपृष्ठ भूखण्ड पर वास करने वाले गृहस्वामी को दरिद्रता, पुत्र एवं पशु की हानि एवम् अन्यान्य कष्ट होते रहते हैं। यह भूखण्ड निवास हेतु उपयुक्त नहीं होता। इसका परित्याग करना ही श्रेयस्कर होता है।

नागपृष्ठभूखण्ड-

पूर्व-पश्चिम दिशाओं में लम्बा और उत्तर-दक्षिण में ऊँचा भूखण्ड नागपृष्ठभूखण्ड कहलाता है। ऐसे भूखण्ड पर निवास करने वाले का मन उच्चाटित रहता है, निवासकर्ता की मृत्यु हो जाती है, वह अपने जीवनकाल में पत्नी पुत्रादि से हीन हो जाता है तथा पग-पग पर उसके शत्रुओं की संख्या में वृद्धि तथा स्त्री, धन एवं सन्तान की हानि होती है

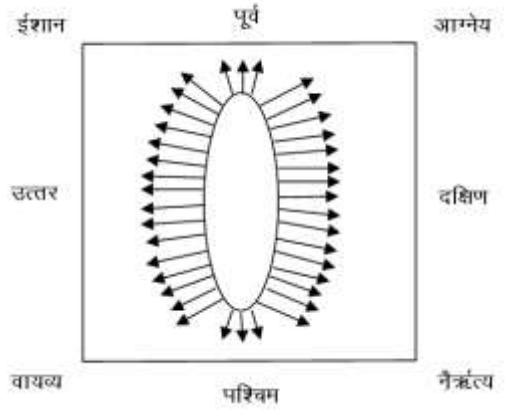

नागपृष्ठभूखण्ड चित्र

आयताकार भूखण्ड-

ऐसा भूखण्ड जिसकी आमने-सामने की भुजा बराबर हो, लम्बाई-चौड़ाई भिन्न हो, किन्तु चारों कोण समकोण हो आयताकार भूखण्ड कहलाता है। गृह-निर्माण हेतु यह भूखण्ड अत्यन्त श्रेष्ठ कहा गया है। इस भूखण्ड पर निवास करने वाले गृहस्वामी द्वारा मांगलिक कार्यो का आयोजन किया जाता है तथा वह धन-धान्य से परिपूर्ण रहता है। परन्तु गृहस्वामी स्मरण रखे कि सन्निवेश हेतु भूखण्ड की द्विगुणित चौड़ाई से अधिक लम्बाई नहीं होनी चाहिए, अन्यथा अत्यधिक हानि उठानी पड़ती है। कहा भी कहा गया है-**विस्तराद् द्विगुणं भूमि (गेहं) गृहस्वामिविनाशनम्।** अर्थात् गृहस्वामी द्वारा यदि गृह-भूखण्ड की चौड़ाई 20 फीट रखी गई हो तो उसे लम्बाई अधिक से अधिक 40 फीट ही रखनी चाहिए। आयताकार भूखण्ड यदि सड़क मार्ग के किनारे किसी आपण से सम्बन्धित है तो इस भूखण्ड का भौतिक महत्व भी बढ़ जाता है।

वर्गाकार भूखण्ड-

जिस भूखण्ड की चारों भुजाएँ बराबर हो अर्थात लम्बाई और चौड़ाई बराबर हो तथा जिसके चारों कोण समकोण हों, वह भूखण्ड वर्गाकार भूखण्ड कहलाता है। गृह-निर्माण हेतु यह भूखण्ड सर्वोत्तम माना गया है।

त्रिकोणाकार भूखण्ड-

ऐसे भूखण्ड जो तीन ओर से आयी सीधी भुजाओं से सम्पृक्त हों, त्रिभुजाकार या त्रिकोणाकार क्षेत्र कहलाता है। इस प्रकार के भूखण्ड को वास्तुकारों के द्वारा अशुभ कहा गया है। उपर्युक्त आयताकार भूखण्ड, वर्गाकार भूखण्ड तथा त्रिकोणाकार भूखण्ड पर नाट्यशास्त्र में विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्रयस्र नाट्यमण्डपों का विधान किया गया है। यह गृह सन्निवेश हेतु नहीं, अपितु नाट्य की दृष्टि शुभ माने गये हैं।

वृत्ताकार भूखण्ड-

जो भूखण्ड पूर्णवृत्ताकार अर्थात् गोल हो वह भूखण्ड वृत्ताकार भूखण्ड कहलाता है। यह भूखण्ड गृह-निर्माणार्थ श्रेष्ठ तो अवश्य कहा गया है-'वृत्ते पुष्टि विवर्धनम्' किन्तु इस भूखण्ड में बनने वाला भवन भी वृत्ताकार होना चाहिए, तभी गृहस्वामी के धन, ज्ञानादि से पुष्ट होने की बात

कही गई है। इसके विपरीत यदि वृत्ताकार भूखण्ड में भवन का निर्माण इसके अनुरूप न हो तो गृहस्वामी को सभी प्रकार से हानि कही गई है। ग्राम, पुरादि में चबूतरों के निर्माण हेतु वृत्ताकार भूखण्ड का अन्वेषण किया जाता है। उपर्युक्त भूखण्डों वास्तुशास्त्रीय ग्रंथों में पितामहप्लवास्तु, सुपथप्लवास्तु, अपथप्लवास्तु, दीर्घायुप्लवास्तु, अर्गलप्लवास्तु, ब्रह्मप्लवास्तु आदि विभिन्न प्रकार के भूखण्डों का भी उल्लेख उपलब्ध होता है।

3.6.4 भूमि शोधन या शाल्योद्धार-

गृह एवं भवन निर्माण में भू-परीक्षा, भूखण्ड विचार तथा भूमि के प्रकार, प्रशस्त एवं त्याज्य भूमियों के विषय में विचार करने के अनन्तर निर्माण हेतु चयनित भूमि का शोधन करना आवश्यक होता है। भूमि में शल्यादि पदार्थो के मिलने से, गृहस्वामी के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है, दोषयुक्त भूमि का किस प्रकार शुद्धीकरण किया जा सकता है, इस सम्बन्ध में वास्तु ग्रन्थों में विशद् विवेचन उपलब्ध होता है। महर्षि मनु का भूमि शोधन के विषय में कथन है कि गृह एवं भवन-निर्माण से पूर्व सम्मार्जन अर्थात् झाड़ू देने से, गोबर आदि के लेपन से, पंचगव्यादि के सिञ्चन से, भूमि की ऊपर की कुछ मिट्टी को खोदकर फेंकने से तथा एक दिन-रात गायों के निवास करने से-इन पाँच प्रकारों से भूमि की शुद्धि होती है-

सम्मार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखेन च।
गवां च परिवासेन भूमिः शुद्धयति पञ्चधा।

याज्ञवल्क्य स्मृति में भू-शुद्धि के विषय में कहा गया है कि पृथ्वी की शुद्धि झाड़ने, जलाने, समय बीतने, गाय के पैर पड़ने, दूध, गोमूत्र, और जल छिड़कने, खोदने, से होती है तथा उस पर बना गृह झाड़ने तथा लीपने से शुद्ध होता है। बृहद्वास्तुमाला में शल्यज्ञान परीक्षण के विषय में वर्णन किया गया है कि 6 गुने सूत्र से भूमि का शोधन करना चाहिए। भूमि-शोधन के समय यदि कोई भी सूत्र को लांघे तो पुरूषप्रमाण अर्थात् साढ़े तीन हाथ नीचे उस अस्थि रूपी शल्य को जानें। जिस स्थान पर सूत्र अभ्यक्त अर्थात् उधड़ा हुआ सा दिखाई दे तो उस स्थान पर 70 अंगुल नीचे तथा सूत्र को विस्तृत करते समय यदि कुत्ता सूत्र के ऊपर खड़ा हो जाए तो वहाँ से 60 अंगुल नीचे तथा सूत्र को विस्तृत करते समय यदि उन्मत्त व्यक्ति वहाँ आकर खड़ा हो जाए तो उस स्थान पर दो हाथ नीचे अस्थि रूपी शल्य को जानें। सूत्र को विस्तृत करते समय यदि सूत्र टूट जाए अथवा घड़ा फूट जाए तो क्रमशः दम्पत्ति का मरण जानना चाहिए अर्थात् सूत्र भङ्ग पर पतिमरण एवं घड़ा फूटने पर पत्नीमरण जानना चाहिए।

शल्य ज्ञान हेतु एक अन्य विधि भी वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राप्त होती है। इसके अनुसार भू-खण्ड को नौ बराबर भागों में विभक्त करके पूर्व-आग्नेय-दक्षिण-नैर्ऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान आदि दिशाओं एवं मध्य भाग में प्रदक्षिण क्रम से व,क,च,त,ए,ह,श,प तथा मध्य में य-इन नौ अक्षरों को स्थापित करना चाहिए। शल्य-ज्ञान हेतु प्रश्न के समय गृहपति द्वारा उच्चारित पुष्पादिकों का प्रथम अक्षर जिस दिशावाले भू-भाग का प्रतिनिधित्व करता है उसी भू-भाग में शल्य समझना चाहिए। इस विधि को निम्न चक्र के अनुसार भी समझा जा सकता है-

शल्य-बोधक-चक्र

ईशानपूर्व **आग्नेय**

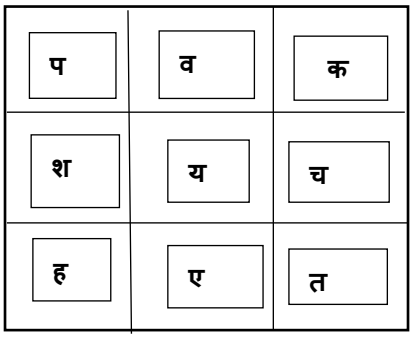

उत्तर **दक्षिण**

वायव्यनैर्ऋत्य पश्चिम

इसी प्रकार राजवल्लभवास्तुशास्त्र में उल्लेख मिलता है कि भवन निर्माण किये जाने वाले भूखण्ड को चारों दिशा, कोण तथा मध्य में वर्ग के आद्य के अक्षर के आधार पर शल्य के लिये लिखें जाएं। इसके लिए भूखण्ड को 09 भाग कल्पित कर स्थपति/गृहपति द्वारा किसी देव, फल, वृक्ष के नाम के साथ जो उच्चारण किया गया हो उसका 9 कोष्ठों में मिलान किये जाने पर प्रथमाक्षर जिस वर्ग में मिले वहीं शल्य मानना चाहिए। केश, कोयला, लकड़ी, लोहा, अस्थि आदि निकालने के लिए भूमि पर पूर्व दिशा से सृष्टि मार्ग की ओर 09 कोष्ठ बनाकर उनमें अ,क,च,ट,श,प और य वर्ग के आद्य अक्षर लिखकर परीक्षण किया जाना चाहिए। जिस भूमि में गाय की अस्थि विद्यमान हो वहाँ निवास करने पर राजा का भय सताता है। इसी प्रकार अश्व की अस्थि मिलने पर रोग, कुत्ते की अस्थि मिलने पर क्लेश एवं नाश, गधे या ऊँट की अस्थि प्राप्त होने पर आगजनी की आशंका रहती है।

बृहतसंहिता में वर्णित है कि होम अथवा प्रश्न के समय गृहपति अपने जिस अंग में खुजलावे (भूमि पर स्थापित वास्तु चक्र में निर्देशित वास्तु देवता के उसी अंग के कोष्ठ में) उसी अंग में शल्य होता है तथा अग्नि आदि देवताओं की आहुति देते समय छींक या रोना आदि अशुभ शकुन हो, अग्नि में विकार उत्पन्न हो तो वह देवता वास्तुपुरूष के जिस अंग में हो उस अंग को शल्य युक्त जानना चाहिए। कोष्ठ का शल्य होने से धनहानि, अस्थियों का शल्य होने से पशुपीड़ा और रोगभय होता है। लोहे के शल्य से शत्रुभय, कपाल और केशों के शल्य से मृत्यु होती है-

समराङ्गणसूत्रधार में कहा गया है कि भूमि में हल चालाने से काष्ट-लकड़ी आदि निकले तो अग्निकाण्ड होने का भय जानना चाहिए, किन्तु यदि ईंटें निकलती हैं तो धनागम जानना चाहिए। यदि खोदने से पाषाण निकले तो उस भूमि को कल्याणप्रद जानें, अस्थियाँ निकलें तो कुल का विध्वंश जानना चाहिए एवं समस्त प्रकार के सरीसृपादि निकले तो वहाँ निवास पर चोरों, तस्करों का भय माना गया है।

क्रम सं	प्रश्न का प्रथम अक्षर	दिशा	शल्यस्थिति	शुभाशुभफल
1.	अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ	पूर्व	नर-अस्थि, डेढ़ हाथ नीचे	मृत्यु
2 .	क, ख, ग, घ, ङ	आग्नेय(दक्षिण-पूर्व)	गधे-अस्थि, दो हाथ नीचे	राजदण्डभय
3.	च, छ, ज, झ, ञ	दक्षिण	नर-अस्थि, कमर पर्यन्त नीचे	लम्बी बीमारीके बाद मृत्यु
4.	ट, ठ, ड, ढ, ण	नैर्ऋत्य (दक्षिण-पश्चिम)	कुत्ते-अस्थि, डेढ़ हाथ नीचे	घर में उत्पन्न बच्चें के लिये मृत्युकारक
5.	त, थ, द, ध, न	पश्चिम	पश्चिमशिशु-अस्थि, डेढ़ हाथ नीचे	प्रवास
6.	प, फ, ब, भ, म	वायव्य (पश्चिम-उत्तर)	भूसी, कोयला, आदि, चार हाथ नीचे	मित्रनाश व दुःस्वप्न

7.	य, व, र, ल	उत्तर	विप्र-अस्थि, कमर पर्यन्त नीचे	निर्धनता
8.	श, स, ष, ह	ईशान (उत्तर-पूर्व)	गो-अस्थिडेढ़ हाथ नीचे	गोधननाश
9.	प, य और ह	मध्यभाग	मानव-कपाल व केश, भस्म लोहा आदि, वक्ष पर्यन्त नीचे	कुलनाश

3.6.5 वास्तुपद विकल्पन-

पुर या भवन आदि निर्माण की प्रथम प्रक्रिया, जिसमें गृह एवं भवन सन्निवेश हेतु चयनित एवं परिष्कृत किये गए भूखण्ड को विभिन्न भागों में वर्गीकृत कर निर्माण कार्य आरम्भ किया जाता है, इसे ही प्राचीन समय में वास्तुपदविन्यास या वास्तुपदविकल्पन अथवा वास्तुपुरूष विकल्पन कहा जाता था। वास्तुपदविकल्पन या वास्तुपदविन्यास वस्तुतः निर्माण सम्बन्धित सन्निवेश हेतु भूमि का नाना भागों में विभाजन है, जिसमें गृह एवं भवन हेतु चयनित एवं परिष्कृत भूखण्ड के वर्गीकृत कोष्ठकों में वास्तुपुरूष के अंगों एवं विभिन्न अन्य देवताओं की संज्ञा प्रदान की जाती है एवं प्रत्येक विभाजित वर्ग में एक अधिष्ठातृ देव प्रकल्पित किया जाता है। डॉ विद्याधर के मत में 'वास्तुपद योजना को आधुनिक भाषा में siteplansकहा जा सकता है जिस प्रकार आधुनिक समय में किसी Engineerया Architectसे भवनादि का रेखाचित्र बनवाना पड़ता है, उसी प्रकार प्राचीन काल में भवन अथवा पुर निवेश से पूर्व वास्तुविदों से उसकी योजना बनाना अनिवार्य था' एवं यही वास्तुपद विन्यास स्थपति की कसौटी मानी जाती थी।

वास्तुपुरूष समस्त पद का स्वामी होता है अत एव वास्तुपदविन्यास से पूर्व सन्निवेशार्थ भूखण्ड पर वास्तुपुरूष के स्वरूप की योजना की जाती है। वास्तुपुरूष भूमि पर औंधा लेटा हुआ है इसका सिर उत्तर एवं पूर्व दिशाओं के मध्य ईशान कोण में, कोहनी एवं घुटने(दाईं एवं बाईं ओर) पूर्व एवं पश्चिम दिशाओं के मध्य आग्नेय कोण तथा उत्तर एवं पश्चिम दिशाओं के मध्य वायव्य कोण में तथा दक्षिण एवं पश्चिम दिशाओं के मध्य नैर्ऋत्य कोण में अवस्थित है। जिस प्रकार मानव शरीर की कल्पना की जाने पर उसके पुरूषाङ्गों में-मूर्धा, शीर्ष, मुख, हृद्, कटि, जानु, सिरा, अनुसिरा, वंश, नाड़ी, आदि की कल्पना स्वाभाविक ही आ जाती है उसी प्रकार वास्तुपुरूष-विकल्पना में भी इनकी उद्भावना की जाती है। इसे चित्र के माध्यम से भी समझा जा सकता है-

वास्तुपुरुष स्वरूप चित्र

अपराजितपृच्छा में चतुष्षष्टिपदवास्तु, एकाशीतिपदवास्तु, शतपदवास्तु का प्रयोग ग्राम, खेट, पुर, कर्वट, राजनिवेश आदि; गृह, तृण से निर्मित छत वाले गुहादि एवं विविध प्रकार के देवभवनों की रचना में विहित है।वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में गृह एवं भवन सन्निवेश हेतु भूखण्ड पर वास्तुपुरूष की संकल्पना के पश्चात चतुष्षष्टिपदवास्तु, एकाशीतिपदवास्तु, शतपदवास्तु आदि के विकल्पन का चित्र रूप में निम्नवत है-

चतुष्षष्टिपदवास्तु चित्र

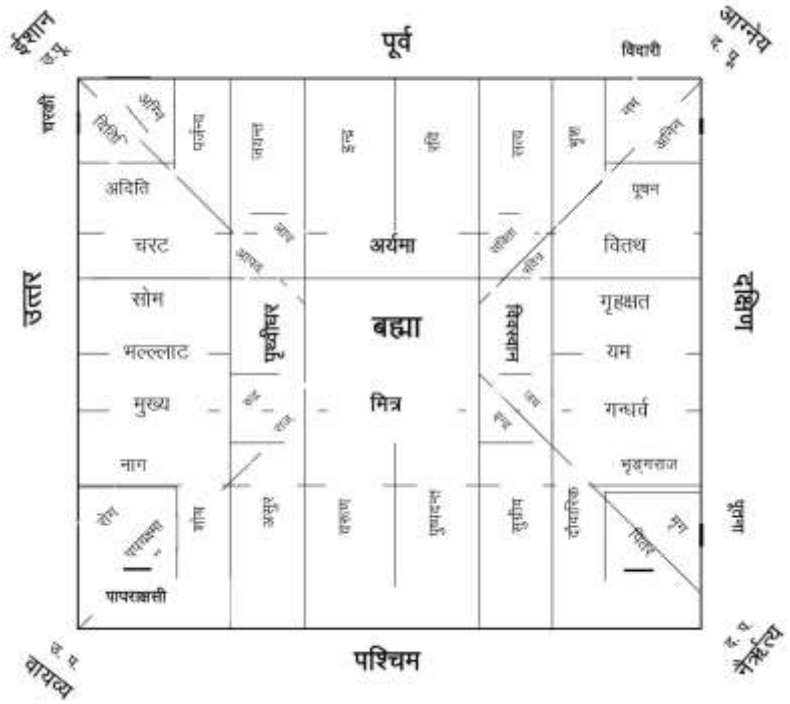

एकाशीतिपदवास्तु चित्र

उपर्युक्त वास्तुविकल्पनों के अतिरिक्त वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में 49 पदवास्तु, 144 पदवास्तु, 169 पदवास्तु, 196पदवास्तु एवं 1000पदवास्तुविकल्पनों का भी विधान उपलब्ध होता है।

3.7 गृह-निर्माण

भारतीय स्थापत्य कला की मूलतः रोचक एवम् आकर्षात्मक अभिव्यक्ति का प्रारम्भ गृह-निर्माण की कला से होता है। मानव के अस्तित्त्व के विकास के साथ-साथ गृह निर्माण कला का इतिहास जितना प्राचीन है उतना अर्वाचीन भी। प्रारम्भ में मानव ने अपने शरीर को भौगोलिक वातावरण में ग्रीष्म, शीत, वर्षा आदि से रक्षण हेतु सर्वप्रथम जिस वस्तु की संकल्पना की, वह गृह था। इस हेतु उसने पर्वतों पर, बृहद् वृक्षों पर गृह के रूप गुफा की संकल्पना की तथा शनैः-शनैः वह उसमें सुविधानुसार सुन्दर एवं आकर्षक परिवर्तन करता चला गया।राजवल्लभवास्तुशास्त्र में स्त्री-पुरूष के सुख का स्थान, धर्म एवं काम की सिद्धि प्रदान करने वाला, प्राणी मात्र का विश्राम स्थल, सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि में सुरक्षा प्रदान करने वाला तथा बावड़ी व कुएँ का सुख तथा मन्दिर का पुण्य प्राप्ति का स्थल गृह कहा गया है। अतः पंडित एवं देवता गृह की आकांक्षा करते हैं-

स्त्रीपुत्रादिभोगसौख्यजनकं धर्मार्थकामप्रदम्
जन्तुनामयनं सुखास्पददिं शीताम्बूघर्मापहम्।
वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात् समुत्पद्यते
गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विवुधाः श्रीविश्वकर्मादयः।।

गृह या भवन निर्माण के अंतर्गत उसके विभिन्न आंगोपांगों का वर्णन निम्नवत है-

3.7.1 खात कर्म या नींव-निर्माण-

वास्तु विधान के अनुरूप गृह अथवा भवन निर्माण हेतु प्रारम्भिक कर्तव्य- भूमि चयन, भूमि परीक्षण तथा वास्तुपद्विकल्पन(विविध कक्षों की परिकल्पना)के पश्चातभूमि का पूजन एवं नींव निर्माण का कार्य शुभ माना गया है।वास्तु पूजन हेतु उत्तर या पूर्व दिशा शुभ मानी गई है। चयनित भूखण्ड के ईशान कोण से खात कर्म करते हुए नींव का प्रारम्भ कर,तत्पश्चात वायव्य, नैर्ऋत्य, आग्नेय कोण में करना चाहिए। ईशान कोण में खात कर्म करते समय एक कछुए के ऊपर चंडी या तांबे की कलश की स्थापना कर उसमे नाग-नागिन युगल, चार लौह कील, हल्दी की पांच गाँठे, तुलसी की पत्तियाँ, नीम के पत्ते, मिटटी के दीपक, छोटे आकार के पांच अस्त्र, फलों में- आम, केला, सेब तथा नारियल, गुड़, चौकोर पत्थर, पञ्चरत्न एवं धातु से युक्त वस्तुओं को रखना चाहिए।

3.7.2 स्तम्भ- निर्माण एवं मुख्य द्वार निर्माण-

वास्तुशास्त्र में स्तम्भ निर्माण करते समय, कुछ महत्वपूर्ण बातों का ध्यान रखना चाहिए, जैसे कि स्तम्भों की दिशा, उनकी स्थिति और उनकी ऊंचाई, ताकि गृह में सकारात्मक ऊर्जा का प्रवाह बना रहे एवं वास्तु दोष से बचा जा सके।**दिशा**-वास्तुशास्त्र के अनुसार, घर के **उत्तर-पूर्व दिशा (ईशान कोण)** में स्तम्भों को कम से कम रखना चाहिए, क्योंकि यह दिशा जल तत्व का प्रतिनिधित्व करती है एवं यहाँ अधिक भार होने से वास्तु दोष हो सकता है। **दक्षिण-पूर्व (आग्नेय कोण)** इस दिशा में स्तम्भों को मजबूत और भारी रखना चाहिए, क्योंकि यह अग्नि तत्व का प्रतिनिधित्व करती है एवं यहाँ अधिक भार होने से घर में स्थिरता आती है। **पश्चिमोत्तर दिशा (वायव्य कोण)**में स्तम्भों को हल्का और खुला रखना चाहिए, क्योंकि ये दिशाएँ वायु

एवं आकाश तत्व का प्रतिनिधित्व करती हैं। **दक्षिण एवं पश्चिम (नैर्ऋत्य कोण)**- इन दिशाओं में स्तम्भों को मजबूत और भारी रखना चाहिए, क्योंकि ये दिशाएँ पृथ्वी तत्व का प्रतिनिधित्व करती हैं। **स्थिति-ब्रह्म स्थान-** घर के केंद्र (ब्रह्म स्थान) में स्तम्भों को बिल्कुल भी नहीं रखना चाहिए, क्योंकि यह ऊर्जा का केंद्र होता है एवं यहाँ स्तम्भ होने से वास्तु दोष हो सकता है।कक्ष के मध्य में स्तम्भों को नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि इससे कक्ष में ऊर्जा का प्रवाह बाधित होता है। **दरवाजे एवं खिड़कियों** के सम्मुख स्तम्भों का निर्माण नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे ऊर्जा का प्रवाह बाधित होता है।**ऊंचाई-**सभी स्तम्भों की ऊंचाई समान होनी चाहिए, ताकि घर में ऊर्जा का प्रवाह संतुलित रहे। कम ऊंचे स्तम्भों को उत्तर-पूर्व दिशा में रखें, क्योंकि यह दिशा जल तत्व का प्रतिनिधित्व करती है। अधिक ऊंचे स्तम्भों कोदक्षिण-पश्चिम दिशा में रखें,क्योंकि यह दिशा अग्नि तत्व का प्रतिनिधित्व करती है। **मुख्य द्वार निर्माण**-वास्तु शास्त्र के अनुसार मुख्य द्वार चारो दिशाओ मे किया जा सकता है किन्तु महत्वपूर्ण यह है कि मुख्य द्वार किस पद मे है। जिस दिशा मे मुख्य द्वार का निर्माण करना है उस दिशा की लम्बाई को नौ बराबर भागो मे विभाजित कर वास्तु पद के अनुसार निम्नवत प्रकार से मुख्य द्वार का निर्माण करना चाहिए -

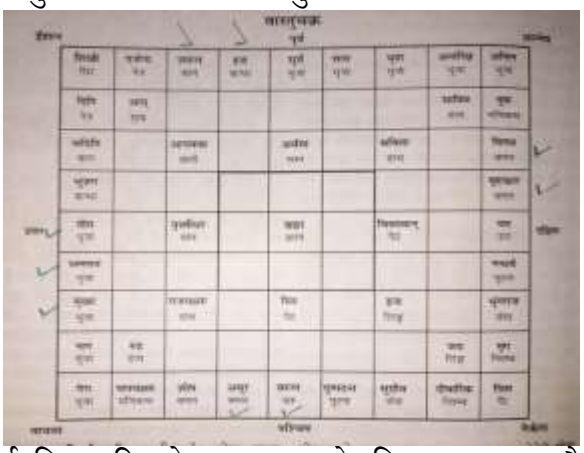

पूर्व दिशा द्वार - यदि पूर्व दिशा की ओर मुख्य द्वार के लिए अनुकूलता है तो चित्र के अनुसार तृतीय पद जयन्त एवं चतुर्थ पद इन्द्र पद मे मुख्य द्वार का निर्माण करना चाहिए।**दक्षिण दिशा द्वार**-यदि मुख्य द्वार के लिए दक्षिण दिशा मे अनुकूलता है तो चित्र के अनुसार एकादश पद वितथ एवं द्वादश पद बृहत्क्षत पद मे मुख्य द्वार का निर्माण करना शुभ माना गया है।

पश्चिम दिशा द्वार-यदि पश्चिम दिशा मे मुख्य द्वार के लिए अनुकूलता है तो चित्र के अनुसार बीसवाँ पद वरुण तथा एक्कीसवे पद असुर पद मे मुख्य द्वार का निर्माण करना उचित माना गया है।**उत्तर दिशा द्वार** -यदि उत्तर दिशा मे मुख्य द्वार के लिए अनुकूलता है तो चित्र के अनुसार सत्ताइसवे पद मुख्य , अट्ठाइसवे पद भल्लाट एवं उन्नतीसवे पद सोम पद को मुख्य द्वार के लिए वास्तु शास्त्र के अनुसार शुभ माना गया है।

3.7.3 भित्ति एवं छत, सोपान निर्माण-

गृह विन्यास हेतु भूखण्ड पर विकल्पन एवं खात कर्म (नींव-निर्माण)के पश्चात स्तंभों को सन्निबद्ध करते हुए यह **भित्ति** कर्म ईशान कोण एवं आग्नेय कोण से प्रारम्भ करते हुए तत्पश्चात वायव्य एवं नैर्ऋत्य कोण में करना चाहिए, इसके पश्चात भूखण्ड पर कल्पित कक्षों के अनुरूप प्रत्यक कक्ष का भित्ति कर्म करना चाहिए। गृह में भित्तियों का निर्माण सुदृढ़ सामग्री से करना चाहिए। वास्तुशास्त्र के अनुसार, **छत** का ढलान उत्तर-पूर्व दिशा की ओर होना चाहिए और सोपान (सीढ़ियाँ) उत्तर से दक्षिण या पूर्व से पश्चिम दिशा में बनानी चाहिए, जिससे घर में

सकारात्मक ऊर्जा का प्रवाह हो, छत का ढलान हमेशा उत्तर-पूर्व दिशा की ओर होना चाहिए, ताकि पानी इस दिशा में बह सके, छत पर उत्तर-पूर्व दिशा में खुली जगह छोड़नी चाहिए, पानी की टंकी को दक्षिण-पश्चिम दिशा में रखना चाहिए, छत पर उत्तर-पूर्व और पूर्व दिशा में छोटे पौधे, जैसे तुलसी, गेंदा, आदि लगा सकते हैं, छत पर कबाड़ या फालतू सामान नहीं रखना चाहिए। छत को हमेशा साफ-सुथरा रखना चाहिए। **सोपान** अर्थात सीढ़ियों का निर्माणउत्तर से दक्षिण या पूर्व से पश्चिम दिशा में करना चाहिए,सीढ़ियों की संख्या विषम होनी चाहिए, जैसे 5, 7, 9, आदि। चढ़ते समय मुख पश्चिम या दक्षिण दिशा की ओर होना चाहिए। उतरते समय चेहरा उत्तर या पूर्व दिशा की ओर होना चाहिए। खुली सीढ़ियां वास्तुसम्मत नहीं मानी गई हैं।इसलिए इनके ऊपर गुमटी का निर्माण अवश्य करना चाहिए। साथ ही सीढ़ियों के नीचे का स्थान स्वच्छ एवं खुला रखना चाहिए।

3.7.4 गृह सौन्दर्यीकरण-

सौन्दर्य योजना की दृष्टी से गृह के अन्तः एवं बाह्य संरचना के आधार पर विचार कियाजाताहै बाह्य रूप में गृह में विभिन्न प्रकार के पौधों का रोपण किया जाता है। इन पौधों तथा वृक्षों को वास्तु नियमानुसार स्वास्थ्यवर्धक माना जाता है।यहां कुछ और शुभ पौधों के बारे में जानकारी दी गई है। **तुलसी-**तुलसी को धार्मिक और वास्तु दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण माना जाता है, इसे घर में लगाने से सकारात्मक ऊर्जा आती है और घर में सुख-शांति बनी रहती है। **शमी-**शमी का पौधा धन और समृद्धि के लिए शुभ माना जाता है, इसे घर के मुख्य द्वार के पास लगाने से घर में सकारात्मक ऊर्जा आती है और नकारात्मक ऊर्जा दूर होती है। **मनी प्लांट-** मनी प्लांट को धन और समृद्धि का प्रतीक माना जाता है, इसे घर में लगाने से धन की वृद्धि होती है। **केला-** केले के पौधे को घर के पूर्व या उत्तर-पूर्व दिशा में लगाने से घर में सुख-समृद्धि आती है। **आंवला-** आंवला का पौधा भी घर के लिए शुभ माना जाता है, इसे घर में लगाने से घर में सकारात्मक ऊर्जा आती है। **गेंदा-**गेंदा के पौधे को घर के पूर्व या उत्तर-पूर्व दिशा में लगाने से घर में खुशहाली आती है। **हरी दूब-**हरी दूब को घर में लगाने से घर में सकारात्मक ऊर्जा आती है और वास्तु दोष दूर होते हैं। **धनिया-**धनिया के पौधे को गृह में लगाने से गृह में धन की वृद्धि होती है। **हल्दी-** हल्दी के पौधे को घर में लगाने से घर में सकारात्मक ऊर्जा आती है और वास्तु दोष दूर होते हैं- **लिली-**लिली के पौधे को घर में लगाने से घर में सकारात्मक ऊर्जा आती है और वास्तु दोष दूर होते हैं। **पुदीना-**पुदीना के पौधे को घर में लगाने से घर में सकारात्मक ऊर्जा आती है और वास्तु दोष दूर होते हैं। **अशोक-** अशोक के पेड़ को घर के आसपास लगाने से वहां रहने वालों की उम्र बढ़ती है। **कटहल-** कटहल के पेड़ को घर के आसपास लगाने से वहां रहने वालों की उम्र बढ़ती है। **पारिजात-**पारिजात के पौधे घर की समृद्धि बढ़ाने वाले होते हैं। **अपराजिता-** अपराजिता का पौधा माता लक्ष्मी से संबंधित माना जाता है, इसे घर में लगाने से मां लक्ष्मी स्वयं घर में विराजमान होती हैं। इसी प्रकार गृह के अन्तः सौन्दर्य वृद्धि की दृष्टी से मूर्तियों को ईशान आदि कोण में स्थापना करना, घर के द्वार पर **विंड चाइम** अथवा **वृत्ताकार सूर्य** लटकाना, बैठक कक्ष में **लाफिंग बुद्धा**, **तीन टांगों वाला मेंढक**तथा **भगवान बुद्ध की छोटी प्रतिमा**रखना, **सात अश्वों** युक्त चित्र आदि। ये सभी वास्तु दोष के निवारक एवं सुख-समृद्धि प्रदाता कहे गए हैं।

3.7.5 विविध कक्ष निर्माण- रसोईघर, शयनकक्ष, संग्रहण कक्ष या स्टोररूम, अध्ययन कक्ष, भोजनकक्ष (आधुनिक डाइनिंग रूम), पूजाकक्ष, स्नान, शौचालय आदि का विचार

रसोईघर-

वास्तुसिद्धान्त के अनुरूप पाकशाला व रसोईघर का निर्माण आग्नेय दिशा अर्थात् दक्षिण पूर्व दिशा में करना चाहिए। आग्नेय कोण का स्वामी अग्नि है एवं वह तेज, प्रकाश, दाहकत्व शक्ति, पकाने, पचाने आदि गुणों से युक्त है। अत एव वास्तुविदों ने भोजन पकाने हेतु रसोईगृह की व्यवस्था-आग्नेय पाकसदनम् कहकर, आग्नेय दिशा में पाक सदन का सन्निवेश श्रेष्ठ बताया है। वास्तु नियमानुसार-दिशाजन्य शुद्धि से वहाँ रखे भोजन सामग्रियों की शुद्धि हो जाती है एवं उनसे तैयार किये गये भोजन के आहार से गृह स्वामी के व्यावहारिक, आन्तरिक आचार संस्कार एवं सत्वादि में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। गृहस्वामी को आग्नेय कोण के अतिरिक्त अन्य किसी भी दिशा में पाकसदन की स्थापना नहीं करनी चाहिए। पाकसदन में चूल्हे की व्यवस्था के पूर्व दीवार से सटे परन्तु आग्नेय-पूर्व दिशा से कुछ दूर स्थान छोड़कर बनाना चाहिए साथ ही यह ध्यान रखना चाहिए कि रसोईगृह के द्वार ठीक सम्मुख चूल्हे आदि को नहीं बनवाना चाहिए। पाकसदन में भोजन बनाने वाले स्त्री या पुरूष का मुख उत्तर की ओर होना चाहिए। इससे पाक-विज्ञान-ज्ञान में उत्तरोंत्तर वृद्धि तथा भोजन बनाने में अनुसन्धानात्मक शक्ति का विकास होता है। यदि पाकसदन में व्यवस्थानुसार पूर्वाभिमुख भोजन पकाने में असुविधा हो तो पश्चिमाभिमुख होकर भोजन बनाया जा सकता है। इससे भिन्न होकर भोजन बनाना सर्वथा त्याज्य कहा गया है ऐसा वास्तुविदों का मत है। पाकसदन में उत्पन्न धुएँ के निस्तारण हेतु पूर्व-पश्चिम दिशा में खिड़कियों की स्थापना करनी चाहिए। पाकसदन में सदा शुद्धान्न पकाना चाहिए क्योंकि आहार से मनुष्य के शरीर का निर्माण होता है।

शयनकक्ष

वास्तुविदों द्वारा निर्देश दिया गया है कि गृहस्वामी को गृह व भवन निर्माण के अन्तर्गत शयन हेतु शयनकक्ष का निर्माण सदैव दक्षिण दिशा में बनवाना चाहिए। यदि गृह स्वामी द्वारा गृह व भवन बड़ा बनाया जा रहा हो तो उसमें शयनकक्ष नहीं अपितु शयनकक्षों का निर्माण होगा परन्तु ऐसी स्थिति में मुख्य दक्षिणतम् तक गृहस्वामी को अपने लिए रखना चाहिए। इस दिशा में शयन करने वाले गृह स्वामी में वंश वृद्धि की क्षमता, कार्यकुशलता में प्रवीणता एवं बलवृद्धि होती रहती है। शयनकक्ष की व्यवस्था मुख्य रूप से गृहस्वामी हेतु दक्षिण दिशा में होनी चाहिए। शयन के समय व्यक्ति को तकिया या सिरहाना दक्षिण, पश्चिम या पूर्व भाग में रखना चाहिए। यद्यपि पश्चिम एवं उत्तर भाग में सिर रखकर शयन करना वास्तुविदों द्वारा अशुभ बताया गया-

प्राक्शिरः शयने विद्याद् दक्षिणे सुखसंपदः।
प्रश्चिमे प्रबलां चिन्तां हानिं मृत्युं तथोत्तरे।।

अर्थात् पूर्व में सिर कर शयन करने से विद्या लाभ और दक्षिण में सिर कर शयन करने से सुख और सम्पत्ति का लाभ होता है। परन्तु पश्चिम में सिर कर शयन से मनुष्य को प्रबलचिन्ता और उत्तर में सिर कर शयन से गृहस्वामी को मृत्यु भय एवं हानि होती हैं। गृहस्वामी को कभी भी उत्तर दिशा की ओर सिर कर शयन नहीं करना चाहिए। इसके पीछे वैज्ञानिक तथ यह है कि उत्तरी

धुरव चुम्बकीय शक्ति क्षेत्र का सबसे शक्तिशाली धुरव है। उत्तरी ध्रव के तीव्र चुम्बकत्व के कारण मस्तिष्क के ध्रव से समन्वय होने पर विशेष प्रकार का विकर्षण उत्पन्न होता है, या यह कह सकते हैं कि चुम्बकीय विद्युत प्रवाह की दिशा दक्षिण से उत्तर की ओर होती जो उत्तरस्थित सिर करके शयन से धुरवाकर्षण के कारण संकट की स्थिति है जिसमें व्यक्ति की मस्तिष्क की शक्ति क्षीण होने लगती है एवं मनुष्य उद्धत् स्वभाव का हो जाता है। अत एव उत्तर दिशा की ओर सिर कर शयन नहीं करना चाहिए। शयन कक्ष में यदि शय्या-पलंग आदि का प्रकार की हो तो गृहस्वामी को पलंग की लकड़ी पर सिर रखकर कभी शयन नहीं करना चाहिए। इससे शिरोवेदना हो सकती है। व्यक्ति को अपने गृह के अन्तर्गत् सोते समय व्यक्ति को पूर्व की ओर सिर कर शयन करना चाहिए। वास्तुकारों के द्वारा यह दिशा सर्वोत्तम बताई गई है। यदि व्यक्ति को श्वसुर के गृह में दक्षिण की ओर, परदेश में पूर्व एवं दक्षिण की ओर, ऐसा न होने पर परदेश में व्यक्ति पश्चिम की ओर सिर कर सो सकता है, इससे पश्चिम दिशा शयन का दोष नहीं लगता परन्तु उत्तर की ओर सिर करके कभी भी नहीं करना चाहिए-

स्वगेहे प्राक्षिराः सुप्याच्छवाशुरे दक्षिणा शिरः।
प्रत्यक्छिराः प्रवासे तु नोदक्यसुप्यात्कदाचन्।।

शयन कक्ष का नैर्ऋत्य कोण खाली नहीं रखना चाहिए अपितु इस कोने को आालमारी, ट्रंक आदि भारी वस्तुओं से युक्त रखें। शयनकक्ष से सम्बद्ध शौचालय बाथरूम हो तो इसका निर्माण कक्ष से पश्चिम या उत्तर दिशा में पूर्व कथित नियमानुसार ही करें। यदि शयन कक्ष में ही गृहस्वामी धन स्म्पदा संरक्षण (जितोरी आदि) का मन बना लें तो इसके लिए पृथक रूप से सटे नैर्ऋत्य कोण में उसकी व्यवस्था करनी चाहिए या दक्षिण-पश्चिम दिशा स्थित कोण भाग ही उपयुक्त माना गया है। इस भाग में सेफ, आलमारी व तिजोरी रखने से पूर्वोत्तर की तरफ़ की खुलेगी जो दोषावह न होकर धन वृद्धिकारक होता है। शयन कक्ष और पूजा स्थान एक ही कक्ष में नहीं रखना चाहिए, ऐसा वास्तुकारों का मत है। किन्तु पूजा गृह हेतु ु स्थान का यदि आभाव की समस्या हो तो ऐसी स्थिति में विकल्पस्वरूप शयन कक्ष में उचित स्थानानुरोध से पूजा स्थान की व्यवस्था करनी चाहिए। स्थानाभाव के कारण या जहाँ के लोग तन्त्रमार्गी या दक्षिणेश्वरी काली माँ के उपासक हैं, वे लोग अपने रसोईघर के आग्नेय कोण में ही पूजा स्थल का निर्माण कर कुल देवी की पूजा करते हैं, जो कि शास्त्रानुरूप ही है। अतः शुद्ध शुभदिन में शय्या बनवाकर उसे दक्षिणास्थित गृह में स्थापित कर रात को शयन करें। यदि रात में गहरी निंद्रा, अच्छे-अच्छे स्वप्न दिखाई दे तो गृह स्वामी को यह समझ लेना चाहिए कि यह कक्ष उसके शयन हेतु सर्वथा उपयुक्त एवं शुभफलदायक है-

शुद्धे शुभे दिने चैव कृत्वा तां निशि विन्यसेत्।
शयीत दक्षिणे गेहे सुस्वप्न सुबन्धः भवेतः।।

संग्रहण कक्ष या स्टोररूम

वास्तुपदविकल्पन में संग्रहण कक्ष या स्टोर रूम की अवस्थापना की स्थिति वास्तुविशेषज्ञों द्वारा नैर्ऋत्य कोण में बताई गई है। इस दिशा में बनाये जानेवाले कक्ष में ऐसी वस्तुओं का संगहण बताया गया है जिनका गृह सम्बन्धी कार्यों में उपयोग कम होता हो, तथा ऐसी वस्तुएँ भी जो लगातार उपयोगी हाने के कारण अब अनुपयोगी हो गई हों। इस प्रकार की वस्तुओं का नैर्ऋत्य कोण में संग्रहण उपयुक्त माना गया है। वास्तुशास्त्राचार्यों का कहना है कि

यदि गृहस्वामी को इस कक्ष की स्थापना करने पर अन्य कक्षों हेतु स्थान कम प्रतीत हो तो इस कक्ष को साफ व स्वच्छ तथा उसे एक सुन्दर कक्ष का रूप देकर उसे परिवार के वृद्ध जनों के सन्निवेश हेतु बनाना चाहिए। हालाँकि यह कक्ष क्रोधी, आलसी एवं कलहप्रिय लक्षणों को सूचित करता है परन्तु फिर भी यह वृद्ध जनों के लिये यह अपकारक नही होता है। क्योंकि उनका वृद्ध शरीर शारीरिक मानसिक आदि क्रियाओं से निष्क्रिय होकर वृद्धावस्था तक पहुँचता है अत एव वे प्रभावित नही होते।

अध्ययन कक्ष

गृहस्वामी को अपने गृह व भवन निर्माण क अन्तर्गत अध्ययन कक्ष का निर्माण अवश्य कराना चाहिए जिसमें नाना प्रकार की पुस्तकें आदि रखी हों, साथ ही वह कक्ष अन्य अध्ययन सहायक सामग्रियों से युक्त हो, ऐसा करने पर गृह का वातावरण विद्याभूषित सा प्रतीत होता है एवं उस कक्ष में गृहस्वामी विश्रान्ति का अनुभव करता है। वास्तुविदों ने वास्तुपदविकल्पन में नैर्ऋत्य कोण के मध्य भाग में अध्ययन कक्ष की अवस्थापना बताई है।

नैर्ऋत्याम्बुपयोर्मध्ये विद्याभासस्य मन्दिरम् अर्थात् विद्याभ्यास या अध्ययनकक्ष के निर्माण हेतु श्रेष्ठ कहा गया है। उदयास्तादि शुभ-चन्द्र, बुद्ध, गुरू एवं शुक्र ग्रहाश्रित यह दिशा अपने प्रत्येक प्रभाव के क्षेत्र में विद्याध्ययन करने वालों को प्रखर बुद्धि, अध्यवसायी, महान् चिन्तक् ज्ञानी, प्रतिभावान्, समदर्शी, कल्पनाशील एवं यशस्वी बनाती है। गृहस्वामी को चाहिए कि वह अध्ययन कक्ष की की भित्तियों को सफेद रंग से पुतवाना चाहिए इससे अध्यावसायी व्यक्ति की बुद्धि स्थिर बनी रहती है क्योंकि ये रंग आध्यात्मिक एवं मानसिक शक्ति को उद्भासित करने के सूचक होते हैं। इस रंग के अतिरिक्त कुछ अन्य रंग-फीका हरा, क्रीम (बदामी) शुभदायक कहे गये हैं।

अध्ययन कक्ष के ईशान कोण में माता सरस्वती का चित्र लगाकर पहले उनका स्मरण-पूजन कर तत्पश्चात अध्ययन हेतु बैठना चाहिए। इस कक्ष में महान चिन्तकों व विचारकों, महापुरूषों एवं वैज्ञानिकों के चित्र भी लगाने चाहिए। ये सभी वातावरण को उद्दीप्त करने वाले उपकारक होते है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य भी है। अध्ययनकक्ष को इस प्रकार बनाना चाहिए कि उसमें वायु और प्रकाश का संचरण समुचित रूप से हो सके। अध्ययन के समय अध्ययनकर्त्ता का मुँह पूर्व या उत्तर दिशा की ओर होना चाहिए। पुस्तकों की अलमारी या रैक उत्तर-पूर्व की दीवार से सटे रखें या उसी में स्थिर करवा देना चाहिए। वास्तु विदों के अनुसार वायव्यकोण में कभी पुस्तक नहीं रखनी चाहिए अन्यथा उस पुस्तक कहीं खोने व चोरी होने का भय सम्बन्धी विचार अध्ययन कर्ता को परेशान करते हैं। इसके अतिरिक्त पुस्तक को कभी गीले फर्श पर नहीं रखना चाहिए अन्यथा गीलेपन के प्रभाव से वह खराब हो सकती है।

भोजनकक्ष (आधुनिक डाइनिंग रूम)

मनुष्य के निरन्तर विकास के फलस्वरूप उसके खान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा आदि में भी परिवर्तन होता रहा है। पहले मनुष्य अपने गृह में पाकसदन को मिट्टी, गोबर आदि से लीपकर स्वच्छ करके उसमें भोजन पकाकर वहीं किसी स्थान पर अपने परिवार के साथ समूह में भोजन किया करता था। परन्तु आधुनिक समय में पाकसदन से पृथक रूप से भोजनकक्ष की परिकल्पना की जाती है। या सामान्य शब्दों में कहें तो भोजनकक्ष वह कक्ष होता है जो पाकसदन से बाहर बरामदे की ओर या उसी बरामदे को विसतृत कर उसमें कुर्सी टेबल आदि लगाकर व्यवस्था की जाती है जिसे आधुनिक डाइनिंग रूम की संज्ञा दी गई है। वास्तुविदों के द्वारा

डाइनिंग रूम में गृह स्वामी को पूर्वाभिमुख होकर भोजन करना एवं गृहस्वामी के परिवार के अन्य सदस्यों हेतु उत्तर एवं पश्चिमाभिमुख होकर भोजन करना शुभदायक बताया गया है। भोजन कक्ष में गृहस्वामी को वर्गाकार एवं चौकोर डाइनिंग टेबल की व्यवस्था करनी चाहिए। साथ ही भोजन कक्ष का द्वार दक्षिण दिशा में स्थापित करना चाहिए। गृहस्वामी द्वारा पूर्वाभिमुख होकर भोजन करने से आयु की वृद्धि, दक्षिणाभिमुख भोजन करने से यश की प्राप्ति, पश्चिमाभिमुख भोजन करने से श्री की वृद्धि तथा उत्तराभिमुख होकर भोजन करने से ऋत अर्थात् सत्य फल की प्राप्ति होती है-

आयुष्य प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युपङ्मुख।।

पूजाकक्ष

वास्तुविदों के मत में वास्तुपदविकल्पन में परिकल्पित ईशान कोण की ओर ही गृहस्वामी को पूजा कक्ष का निर्माण करना चाहिए। पूजा करते समय गृहस्वामी या पुजारी को उत्तर या पूर्व की ओर मुख करके बैठना चाहिए। पूर्वोत्तराभिमुख होकर पूजा करने से पुजारी-व्रती के घर में धन-धान्य की वृद्धि, ज्ञान का विकास तथा प्रगति का मार्ग प्रशस्त होता है। पूजा कक्ष में देवी-देवताओं की मूर्तियाँ उत्तर-पूर्वी दिवार से सटे दक्षिण-पश्चिमाभिमुख लगाना चाहिए। गृहस्वामी ध्यान दें कि पूजा कक्ष में कटि-फटि या खण्डित तस्वीर न लगायें। पूजाकक्ष में लम्बी मूर्ति या प्रतिमा लगानी चाहिए परन्तु ध्यान रहे कि मूर्ति अधिक लम्बी न हो। कतिपय वास्तुकारों का मानना है कि गृह में पत्थर की मूर्तियों का या देवमन्दिरनुमा गुम्बदादि से युक्त किसी मन्दिर का होना सर्वथा अशुभ होता है। अपने गृह में कभी भी शिवलिंग की स्थापना नहीं करनी चाहिए। पूजाकक्ष में पूजन युक्त सामग्री को उत्तर-ईशान कोण के मध्य रखना चाहिए। पूजाकक्ष को प्रतिदिन साफ व स्वच्छ रखें तथा इससे सटे शौचालयादि का निर्माण कभी नहीं करना चाहिए। पूजाकक्ष में आधुनिक गाढ़े हरे रंग, काले रंग के अतिरिक्त किसी भी रंग की टाइल्स आदि को लगाया जा सकता है। पूजा कक्ष से बाह्य आँगन में वास्तुपदविकल्पन में निर्धारित ईशान-आग्नेय कोण में तुलसी का पौधा लगाना चाहिए।

स्नानकक्ष

वास्तुविदों के द्वारा गृह व भवन निर्माण हेतु वास्तुपदविकल्पन के अनुसार द्योतित पूर्व दिशा की ओर अर्थात् ईशान व आग्नेय विदिशाओं में स्नानगृह बनाने का निर्देश दिया गया है। इस दिशा में स्नानगृह की अवस्थापना से गृहस्वामी को शुभदायक ईष्टों की प्राप्ति होती है। इसके पीछे वैज्ञानिक तथ्य भी है। ध्यातव्य है कि प्रातःकालीन सूर्य की किरणें अन्य दूषित विकिरणों से रहित शुद्ध एवं शक्तिवर्धक होती हैं। अत एव प्रातः कालीन स्नान के समय जब ये किरणे स्नानगृह की ओर पड़ती हैं, तब उसमें स्नान करने वाले गृहस्वामी की देह को शक्ति-संवर्धन, त्वचा को कान्तियुक्त व रोग रहित करने में समर्थ होती है। अत एव पूर्व दिशा की ओर स्नान गृह का सन्निवेशन करना चाहिए। आधुनिक समय में गृहस्वामी गृह या भवन निर्माण करते समय शयन कक्ष में स्नानगृह को सम्बद्ध करने की परिकल्पना करते हैं, यदि ऐसा हो तो शयनकक्ष से सम्बद्ध स्नानकक्ष तथा शौचालय आदि की व्यवस्था वास्तुविदो द्वारा निर्दिष्ट की गई दिशादि क्रम से करनी चाहिए। यथा- ईशानकोण में नल बेसिन, आग्नेय कोण में पानी की टंकी जिसमें गर्म जल हेतु (गीजर आदि तक पहुँचने हेतु) नल लगे हों, आदि का ध्यान रखना आवश्यक है। वास्तुसिद्धान्त के अनुरूप केवल स्नानघर ही बनता है तो उसमें पूर्व दिशा से पूर्ण रोशनदान या

खिड़की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए जिससे सूर्य का प्रकाश उस कक्ष मे निर्बाध रूप से संचरित हो सके। स्नानगृह से बाह्य स्थान में गंदे पानी के बहाव या भण्डारण हेतु टंकी आदि का उपकरण उत्तर-पूर्व या ईशान कोण की ओर अवनत बनाना चाहिए।

शौचालय

वास्तुसिद्धान्त के अनुसार वास्तुपदविकल्पन के अन्तर्गत गृहस्वामी को शौचालय की व्यवस्था दक्षिण और नैर्ऋत्य कोण के मध्य भाग में करनी चाहिए। वास्तुविदों द्वारा गृहस्वामी को कुछ निर्देश भी दिये गये हैं-शौच हेतु बैठने के लिए कुण्डी को उत्तर या दक्षिण में, शौच हेतु बैठने वाले मुँह उत्तर या दक्षिण की ओर होना चाहिए, अर्थात् पूर्व-पश्चिम में पृष्ठाग्र नहीं रखना चाहिए। जैसा कि महर्षि मनु द्वारा कहा भी कहा है-

मूत्रोच्चरसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः।
दक्षिणाभिमुखो रात्रौ संध्ययोष्च तथ दिव्या।।

3.8 प्रासाद, नगर एवं दुर्ग-निर्माण

प्राचीन काल से ही राजवेश्मों राजभवन, राजगृह, राजहर्म्य, राज-सभा, देवालय आदि को सामूहिक रूप से इंगित करने वाले प्रासाद-निर्माण राजा के भव्यता एवं समृद्धि का सूचक रहे है। प्रासाद शब्द का दो अर्थों में प्रयोग भवन एवं देवालय-निर्माण के अर्थ में किया जाता है। संस्कृत-हिन्दी शब्द कोश के अनुसार प्रासाद शब्द, **प्रसीदन्ति अस्मिन्-प्रसद्+घञ्** प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ महल, भवन, गगनचुम्बी विशाल भवन एवं एक विशिष्ट आकार के मन्दिर व देवालय जो चार कंगूरों से युक्त एक मिनार या शिखर से सन्निबद्ध है। वास्तु शास्त्रीय ग्रंथों में प्रासाद-निर्माण के सन्दर्भ में विभिन्न निर्देश उपलब्ध होते हैं- बृहद्वास्तुमाला मे उत्तम प्रासाद की चौड़ाई 108 हाथ एवं अन्य चार भवनों की चौड़ाई 08-08 हाथ कम अर्थात् द्वितीय भवन 100 हाथ, तृतीय भवन 92 हाथ, 84 हाथ चतुर्थ भवन की चौड़ाई कही गई है। एवं लम्बाई-प्रधान भवन 135 हाथ, द्वितीय भवन 125 हाथ, तृतीय भवन 115 हाथ, चतुर्थ 105 एवं पंचम भवन की लम्बाई 95 हाथ बताई गई है। इसी प्रकार सेनापति का प्रासाद पाँच मंजिला भवनों में प्रथम प्रधान भवन की चौड़ाई 64 व लम्बाई 74 हाथ, द्वितीय भवन की लम्बाई एवं चौड़ाई 58 एवं 67 हाथ, तृतीय भवन की लम्बाई एवं चौड़ाई 52 एवं 60 हाथ, चतुर्थ भवन की लम्बाई एवं चौड़ाई 46 एवं 53 हाथ, पंचम भवन की लम्बाई एवं चौड़ाई 40 एवं 46 हाथ होनी चाहिए। युवराज के लिये भी पाँच भवनों का निर्माण करना चाहिए-जिसमें प्रथम गृह की चौड़ाई 80 हाथ अन्य चार भवनों 06-06 हाथ कम क्रमशः 74, 68, 62, 58 होनी चाहिए एवं चौड़ाई के तृतीयांश जोड़ने पर इनकी लम्बाई का माप कहा गया है। ग्रन्थकार आगे कहते हैं कि राजा और सचिव के गृहों के अन्तर तुल्य सामन्त एवं प्रमुख राज पुरूषों के लिये भी भवनों का निर्माण करना चाहिए। राजा और युवराज के 05-05 गृहों के अन्तर के समान कंचुकी और वेश्या का भवन एवं गोशाला, अश्वशाला, गजशाला, आदि के अध्यक्षों हेतु कोषगृह अथवा रतिगृह के समान भवनों का निर्माण करना चाहिये। कर्मचारियों के अध्यक्ष और दूतों आदि के लिये युवराज और मन्त्री के गृहों के अन्तरतुल्य प्रमाण के अनुरूप गृह बनवाने चाहिए। विश्वकर्माप्रकाश में राजा को निर्देश दिया गया है कि राजा को गृह-निर्माण के करते समय प्रधान गृह की चौड़ाई 108 हस्त एवं अन्य गृहों की चौड़ाई क्रमशः 8-8 हस्त कम रखनी चाहिए। सभी गृहों की लम्बाई-चौड़ाई, विस्तार के चौथाई से युक्त होनी चाहिये। इस प्रकार से राजा 05 पृथक-पृथक गृहों का

निर्माण करना चाहिए। इसी प्रकार 64 हाथ के गृह में छटे भाग से हीन पाँच गृह अर्थात् चौड़ाई और लम्बाई के छटे भाग से युक्त पाँच प्रकार के गृहों होते हैं। और हाथ में 04 घटाने से 60 हस्त का मन्त्री का गृह कहा गया है। इसकी लम्बाई का विस्तार के षष्ठांश युक्त अथवा आधा युक्त ऐसे पाँच गृह मंत्री के भी कहे गये हैं। राजाओं की स्त्रियों के भी 80 हस्त आरम्भ कर 06 हस्त घटाने पर पाँच प्रकार के होते हैं। रानियो के गृह के लम्बाई से 30 हाथ अधिक राजकुमार के गृह की लम्बाई होती है एवं राजकुमार अथवा युवराज के गृह से 50 हाथ अधिक इनके भाइयों का गृह होता है। राजा और मन्त्री के गृह के अन्तर के बराबर सामन्त के राजपुत्रों एवं प्रवरों का, राजा एवं युवराज के गृह के अन्तर के बराबर कांचुकी वेश्या आदि कलाकारों का, राजकुमार और मन्त्री के गृह के अन्तर के समान अध्यक्ष और दूतों के, गृहों का निर्माण करना चाहिए। अध्यक्ष और अधिकारी के अन्तर तुल्य रति और कोश का गृह कहा गया है।

वास्तुमण्डनम् में प्रासाद या गृह के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुये कहा गया है कि देश का दीपक पुर या राजधानी में एवं पुर का दीपक प्रासाद या गृह में होता है। इस दृष्टि से प्रासाद का निर्माण करना चाहिए। इसमें राजप्रासाद का प्रमाण 108 हाथ पर्यन्त तक हो सकता है ऐसा ग्रन्थकार का मत है, एवं सम्पूर्ण क्षेत्रफल के 16वें अंश पर परकोटा बनाना चाहिए एवं इसी के मध्य में महाराजा के लिये महल बनवाकर उसे कलश, ध्वज आदि से अलंकृत किया जाना चाहिए-

नगर-निर्माण-मावन जीवन को सुव्यवस्थित, सुरक्षित एवं सुविधामय बनाने हेतु प्राचीन काल से ही नगरों का सन्निवेश किया जाता रहा है। प्राचीन ऐतिहासिक सन्दर्भों में नगरों के नाना स्वरूपों का दर्शन होता रहा है।

नगर: अर्थ एवं परिभाषा-नगरहेतु प्राचीन समय से ही पुर, पुरी, आदि शब्द पर्याय रूप उपलब्ध होते हैं। **नग इव प्रासादा: सन्त्यत्र** इस व्युत्पत्ति के अनुसार दीवारों से युक्त पाषाणों एवं पक्की ईंटों से निर्मित गृहों, भवनों से प्रकीर्ण समृद्ध क्षेत्र को विद्वानों के द्वारा नगर की संज्ञा दी गई है। जहाँ जल की सुविधा, हरी-भरी उपजाऊ भूमि, वनस्पतियों का आधिक्य हो ऐसे स्थानों पर नगर-निर्माणकार नगर की सीमा का निर्धारण करते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि किसी क्षेत्र विशेष की संसाधनों से सम्पन्न भौगोलिक इकाई के अन्तर्गत मनुष्यों के रहने के स्थान, पुर या नगर कहलाते हैं। समरांगणसूत्रधार में पुर के पर्याय रूप में नगर मन्दिर, दुर्ग, पुष्कर, साम्परायिक, निवास, सदन, सद्म, शय और शितिलय आदि अंगीकृत किये गये हैं। इस प्रकार पत्तन, पुरी, नगर, स्थानीय, पुटभेदन, निगम आदि सभी पुर के पर्याय हैं, जो अपनी उत्पत्ति, विकास और इतिहास पर समग्र रूप से प्रकाश डालते हैं।

नगर-मापनमेंनगर निर्माण के अन्तर्गत उपर्युक्त वर्णित विभिन्न स्थानों की अवस्थापना किस-किस स्थान पर की जाय इस हेतु चयनित भूमि का विभाग किया जाता था। महाभारत के आदि पर्व में परिखा, प्रकार, राजमार्ग, राजप्रसाद, गोपुर एवं चत्वर वीथि आदि के उपयुक्त स्थान पर सन्निवेशार्थ नगरमापन कहा गया है। परिखा, प्राकार, राजमार्ग आदि के यथास्थान के लिये शिल्पकार अपनी योजनानुसार नगर हेतु चयनित समस्त भूमि में कीलें गाड़ देता था। एवं मजबूत धागों से एक-दूसरे को मिला देता था। इन धागों के सहायता से वह नगर-भूमि को रेखांकित कर देता था। इस प्रकार खींची गई रेखाओं को अपराजित पृच्छा में नगर चिन्हानि कहा गया है। इस प्रकार पुरभाग राजमार्ग और पुर की रथ्या आदि आवश्यक अंगों का स्थान शिल्पियों द्वारा निर्दिष्ट किये जाते थे।

राजधानी

प्राचीन समय में राजा द्वारा अपने राज्य में किसी ऐसे उपयुक्त स्थान का चयन किया जाता था जो साधन सम्पन्न हो, सुरक्षा की दृष्टि से जिसमें अपार सम्भावनायें हों एवं नगरवासियों के सन्निवेशार्थ उपयुक्त स्थान के साथ-साथ जहाँ पर्याप्त सुविधायें व्याप्त हों। उस नगर को राजधानी हेतु चयन किया जाता था। सामान्यतः किसी प्रान्त विशेष के समुन्नत नगरों में किसी एक नगर को, जिसमें सबसे बड़ा जन समुदाय निवास करता हो, एवं राजा के प्रधान आवास को ही विद्वानों द्वारा राजधानी कहा गया है। राजधानी शब्द का प्रयोग राजा के प्रधान आवासार्थ नगर के अर्थ में हुआ है। महाकवि कालिदास ने राजधानी को मातृकार्य निष्पादन का केन्द्र माना है। भोज के मत में जिस नगर में राजा रहता है वह नगर राजधानी कहलाती है।

द्रोणमुख- नगर-राजधानी के पश्चात द्रोणमुख वह आपणक नगर है जो व्यापार आदि की दृष्टि से नदी तट एवं संगम पर अवस्थित है। **पुटभेदन-**प्राचीन समय में भारत के बड़े व्यापारिक केन्द्रों को विद्वानों के द्वारा पुटभेदन की संज्ञा दी गई।

निगम-प्राचीन भारतीय वैदिक ग्रन्थों तथा नीतिशास्त्रों आदि में निगम शब्द का प्रयोग वृहद् व्यापारिक समितियों के साथ-साथ नगर के लिये भी हुआ है। अरकोश में निगम को एक प्रकार का नगर कहा गया है।

पत्तन-प्राचीन भौगोलिक दृष्टिकोण के आधार पर पत्तन शब्द का उपयोग समुद्र तट के उस स्थान विशेष के लिये किया जाता था जिसमें जलमार्ग से आने वाले विभिन्न जहाजों में व्यापारिक उद्देश्य से अत्यधिक मात्रा में वस्तुएँ उतारी एवं चढ़ाई जाती थी एवं जिसे प्राचीन ग्रन्थों में समुद्री बन्दरगाह की संज्ञा दी गई है।

खर्वट-सामान्यतया ग्राम समूहों को विद्वानों ने खर्वट की संज्ञा दी है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में दो सौ गामों के मध्य के प्रतिष्ठत अधिष्ठान को खर्वट कहा है। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह जन सन्निवेश का प्रधान भाग होता था, जो ग्रामों के रक्षार्थ दुर्ग के रूप में निविष्ट होता था।

खेट व खेटक-नगर की अपेक्षा थोड़ा कम एवं ग्राम से अधिक विस्तृत जनसन्निवेशित स्थान खेट कहा गया है। भोज के मत में खेट का विस्तार नगर से आधा होता है।

मार्ग-निर्माण-पुर निवेश में मार्गों की योजना, उनका निवेश स्थापत्य का परम कौशल माना जाता है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने के लिये भू-पृष्ठ पर निर्मित प्राकृत या कृत्रिम रचना को मार्ग कहते हैं परन्तु जब पुरान्तर्गत पथ, रथ्या सड़क, मार्ग, तथा राजमार्ग के निर्माण के विषय में विचार किया जाता है तब कृत्रिमरूप से अनुशीलन की आवश्यकता होती है।

राजमार्ग-मार्गों में प्रथम स्थान राजमार्ग का माना गया है। राजमार्ग से तात्पर्य राजा का मार्ग नहीं अपितु मार्गों का राजा है। इसका निवेश वास्तुपद के मध्यवंश पर बताया गया है। पुरक्षेत्र के चौकोर हो जाने पर पूर्व तथा उत्तर तक चार-चार भाग के तीन-तीन वंश स्थापित करने चाहिए और इन 6 वंशों में पुंरपद के विभक्त हो जाने और 16 पदो से युक्त होने पर मध्यम वंश का अवलम्बन कर केन्द्रीय पथ अर्थात् राजमार्ग का निर्माण करना चाहिए।

मार्ग एवं राजमार्ग संख्या-नगर-निर्माण के अन्तर्गत कितने विभिन्न स्थानों को जोड़ने वाली मार्गों की संख्या कितनी होनी चाहिए इस सम्बन्ध में स्थापत्यशास्त्रों में विस्तृत विवेचन मिलता है। मयमत में पुर में सम संख्या में 10-10, 12-12, 08-08, 06-06, 04-04, 02-02 तथा विषम संख्याओं में 11-11, 9-9, 7-7, 5-5, 3-3, औ 1 मार्ग की संख्या विहित है।

रथ्याएँ यानमार्ग एवं घण्टामार्ग-नगर निर्माण के अन्तर्गत रथ, यान आदि के सुविधापूर्ण संचार के लिए बनाये जाने वाले मार्गों को प्रचीन समय में रथ्या कहा गया है। इसके अन्तर्गत स्थापत्यशास्त्रियों ने रथ्यायें एवं उपरथ्यायें, महारथ्याओं, ये दो प्रभाग बताये हैं। समरांगण सूत्रधार में नगर के आन्तरिक भाग में एक बस्ती को दूसरे बस्ती से जोड़ने वाले, जहॉ रवि की रश्मियों की निर्बाध प्राप्ति हो, वायु के उपभोग एवं यातायात की सुविधा और सरलता आदि की दृष्टि से उपरथ्याओं एवं रथ्याओं का विनिवेश भी अनिवार्य माना है।

दुर्ग-निर्माण

दुर्ग शब्द से तात्पर्य ऐसे किले से जहाँ पहँचना कठिन हो, मयमत में वर्णित दुर्लंघ्य, दुर्गम, एवं दुरवगाह क्षेत्र को दुर्ग कहा गया है। अर्थात् शत्रु द्वारा अभेद्य वह क्षेत्र जो धरातलीय पृष्ठभूमि की नाना दशाओं में भी उपयुक्त एवं जो शस्त्र, अन्नादि एवं जिसमें प्रजा के सन्निवेश की समस्त सम्भावनायें उपलब्ध हो, वह क्षेत्र दुर्ग कहलाता है।राजवल्लभवास्तुशास्त्र में दुर्ग की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए वर्णन किया गया है कि सभी को सुख प्राप्ति होने के साथ ही शत्रु के भय से संरक्षित करने वाले ऐसे किले का निर्माण करने से राजा को कुएँ, तालाब, मन्दिर, बाग आदि के पुण्यों का फल मिलता है, यहाँ तक कि ऐसे कार्य से राजा को तीर्थ स्नान व कन्यादान का पुण्य भी प्राप्त होता है, जिस प्रकार पर्वत की गुफा में सिंह किसी शत्रु का नाश करता है, उसी प्रकार सैन्य बल से युक्त शत्रु का दुर्गपति राजा नाश कर सकता है। यही मानकर पार्वती की रक्षा के लिए महादेव जी ने कैलाश पर्वत पर नगर, पश्चिमी सागर में भगवान विष्णु ने किला बनवाया था । इसी ग्रन्थ में चार प्रकार के दुर्गों में भूमिदुर्ग, जलदुर्ग, गिरीदुर्ग एवं गुहा दुर्ग का वर्णन करते हुये तृतीय प्रकार के दुर्ग को उत्तुंग पर्वत के श्रेष्ठ पर निर्माण करना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार के दुर्ग में शत्रु का प्रवेश कठिन ही नहीं असंभव होता है। राजा को निर्देश है कि वह दुर्ग में जीवनोपयोगी अन्न, घी, पानी, नमक, ईंधन, घास और युद्ध सामग्री अवश्य रखे। मयमतम में सात प्रकार के दुर्ग बाताये गए हैं-(गिरी, वन, जल, पंक, इरिण, मिश्रित, दैव) ।**गिरी दुर्ग** पर्वत के मध्य अथवा शिखर पर, **वनदुर्ग** जलविहीन स्थान पर सघन वन में, गिरी एवं वन। इन दोनों दुर्गों के मध्य में**मिश्रित दुर्ग,** सुरक्षा की दृष्टी से प्राकृतिक रूप से निर्मित स्थान**दैवदुर्ग**, पंक अर्थात कीचड से युक्त स्थान **पंकदुर्ग**, चरों ओर नदी अथवा समुद्र से घिरा स्थानजलदुर्ग तथा जल से रहित स्थान **इरिणदुर्ग** कहलाता है।

3.9 वास्तुकला का संस्कृत साहित्य में स्थान

ग्रह अथवा भवन निर्माण की कला वास्तुकला का अध्ययनवास्तुशास्त्र के अंतर्गत किया जाता है, वास्तुशास्त्र का विकास संस्कृत साहित्य के अंतर्गत न रहकर स्वतंत्र रूप में हुआ है, किन्तु संस्कृत साहित्य के अनुशीलन से अवगत होता है कि वास्तुशास्त्रीय ग्रंथों में उपनिबद्ध नियम एवं सिद्धांतों का नियमन संस्कृत साहित्य में उपलब्ध प्रसंगों के अनुरूप ही हुआ है।आवासार्थक 'वस्' धातु से निष्पन्न वास्तु शब्द का भवन के अर्थ में प्रयोग वैदिक साहित्य में ही उपलब्ध हो जाता है। वस्तुतः वास्तुकला से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री हमें वैदिक संहिताओं में प्राप्त हो जाती है। ऋग्वेद में निवासस्थानीय, समस्त जगत् के स्वामी वास्तोष्पतिदेव की स्तुति की गई है, जो परवर्ती काल में वास्तुपुरूष कहलाया। **ऋग्वेद संहिता** का सम्पूर्ण **सप्तम मण्डल** वास्तुदेवता को समर्पित है। **त्वष्टा एवं ऋभु** उस युग के कुशल शिल्पी थे। इसी प्रकार **यजुर्वेद** में यज्ञ की वेदी बनाने के लिए ईंटो के प्रयोग की बात एवं कुशल शिल्पियों की विविधता आदि,

सामवेद में गृह आदि में जल तत्त्व की आवश्यकता तथा अथर्ववेद के, विशेष रूप से, दो शाला सूक्तों में वास्तुकला सम्बन्धी विविध सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। शतपथ, ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों, कल्पसूत्र- निरूक्त आदि वेदाङ्गों तथा वैदिक वाङ्मय में अन्यत्र भी यत्र-तत्र वास्तुकला सम्बन्धी ज्ञान उपलब्ध होता है। इसके साथ ही मत्स्यपुराण, स्कन्दपुराण, अग्निपुराण, श्रीमदभागवतपुराण, वराहपुराण, कल्किपुराण, लिङ्गपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण आदि पौराणिक वाङ्मय, आर्षकाव्यों- रामायण-महाभारत, कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामसूत्र, बृहत्संहिता, शुक्रनीति आदि प्राचीन ग्रन्थ तत्कालिक वास्तुकला पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। इसी का परिणाम है कि परवर्तीकाल में मयमतम्, विश्वकर्माप्रकाश, समराङ्गणसूत्रधार, वास्तुमण्डनम्, अपराजितपृच्छा आदि पूर्णतः वास्तुकला को समर्पित ग्रन्थों का प्रणयन हुआ।वेदों में ग्रह के अर्थ में गृह शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द उपलब्ध होते हैं-**शर्म, शरणम् धाम, दम सदन हर्म्य, पत्स्य, शाला** आदि। रामायण में आवास हेतु **गृह, प्रासाद, भवन, विमान** आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। महाभारत में भी गृह सन्निवेश में वर्णित-**गृह, वेश्म, सभा, प्रासाद, सौध** आदि शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है। इसी प्रकार परवर्ती लौकिक साहित्यि ग्रन्थों में भी आवास हेतु **भवन या गृह , आश्रम , आवास, प्रासाद एवं सभामण्डप** आदि शब्दों के प्रयोग के साथ ही गृह को गृहस्थ-जीवन के सम्पूर्ण कार्यों को करने हेतु श्रेष्ठ बताया गया है। अथर्ववेद के शाला सूक्त में वैदिक द्रष्टा प्रार्थना करता है कि हम ऐसी शाला का निर्माण करते हैं कि जो घृतादि सम्पूर्ण आवश्यक तत्त्वों का चिन्तन करती हुई हमारे कल्याण के लिये स्थिर रहे एवं हम आपके चारों ओर अनिष्टों से मुक्त होकर तथा श्रेष्ठ सन्तानों से सम्पन्न होकर विराजमान रहें-

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेत्रे तिष्ठति घृतमुक्षणा।
तां त्वा शाले सर्ववीराः अरिष्टवीरा उप सं चरेम।।

वास्तु सिद्धांतों में प्रथम **भूमि परीक्षण, शल्य निवारण, वास्तुपद्विकल्पन** आदि के विषय में मत्स्यपुराण आदि में वर्णन उपलब्ध होता है, इसी प्रकार **प्रासाद** संबंधी सन्दर्भ रामायण, महाभारत तथा परवर्ती काव्यों, कथाओं, रूपकों आदि में तथा **नगर, ग्राम, राजगृह, राजधानी,दुर्ग-निर्माण** संबंधी तथ्य मनुस्मृति, शुक्रनीति, अर्थशास्त्र आदि ग्रंथो में उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार वास्तुकला संबंधी बृहद सामग्री संस्कृत साहित्य में यत्र-तत्र प्रकीर्ण है, जिससे साहित्य में वास्तुकला का अपूर्व स्थान द्योतित होता है।

3.10 वास्तुकला की आवश्यकता एवं वैज्ञानिकता

गृह की अवधारणा मनुष्य के विकासशील प्रकिया में प्राचीन से अर्वाचीन है, वास्तुविदों द्वारा मनुष्यों के सभी क्रिया-कलाप का आधार या धमार्थ चतुष्टय की सिद्धि का मुख्य केन्द्र उसके अनुपम आवास स्थल को बताया गया है। गृह कैसा होना चाहिए?,किस प्रकार का इसका भूखण्ड हो?, इन सभी तथ्यों के ज्ञान हेतु वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों का अनुशीलन करना चाहिए। आधुनिक समय में किसी भी प्रकार के आवास- गृह, भवन, प्रासाद आदि- के निर्माण से पूर्व उसकी प्राक्कल्पनाकी जाती है। वास्तुकला में इसी वास्तुयोजना को वास्तुपदविन्यास अथवा वास्तुपुरूषमण्डल अथवा वास्तुपुरूषविकल्पना कहा गया है। प्राचीन भारतीय वास्तुकला में इस प्राक्कल्पना का आधार वैदिक एवं दार्शनिक दोनों रहे हैं, जिसके फलस्वरूप वास्तुपुरूष की परिकल्पना में कला एवं दर्शन- दोनों का समन्वय दिखाई पड़ता है। प्रायः देखा जाता हैं जिन स्थानों पर शीतकाल में धूप नहीं आती अथवा जहाँ की भूमि रेतीली अथवा भराव

से बनी होती है, ऐसे भूखण्डों का मूल्य कम होता है और वे सरलता से उपलब्ध हो जाते हैं। इसके विपरीत जिन स्थानों में शीतऋतु में सूर्य की किरणें पर्याप्त मात्रा में पड़ती हैं, जहाँ की भूमि ठोस होती है तथा जहाँ का आस-पास का वातावरण पर्यावरणीय दृष्टि से उत्तम होता हैं, वे भूखण्ड मँहगे तथा कठिनाई से प्राप्त होते हैं। उत्तम भूखण्ड का चयन ही उत्तम निर्माण का मुख्य आधार होता है। भूमि-परीक्षण हेतु अनेक सरल विधियों का वर्णन प्राप्त होता है। जल, खातकर्म, बीजवपन आदि रूप विधियों से भूखण्ड के मृदा के घनत्व का परीक्षण तथा भूखण्ड एवं समीपवर्ती क्षेत्र के वातावरण का परीक्षण सरलता से किया जा सकता है। वर्तमान में भी किसी भी प्रकार के निर्माण हेतु उस स्थान का भूगर्भीय परीक्षण तथा पर्यावरणीय दृष्टि से निरीक्षण करना श्रेष्ठ माना जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तम भूमि का चयन तथा भूमि परीक्षण हेतु-विविध उपायों का विधान वर्तमान में भी किया जाता हैं।

वास्तुशास्त्र में भूमि-चयन, भूमि-परीक्षण आदि के साथ ही भूखण्ड का आकार एवम् उसके आस-पास का क्षेत्र, ऊँचाई तथा ढलान, निर्माण-कार्य हेतु उचित दिशा-निर्धारण आदि पर पर्याप्त विचार किया गया है, जिससे भवन आदि पञ्चमहाभूतों के साथ समुचित सामञ्जस्य बना रहे तथा समस्त दिशाओं से सकारात्मक ऊर्जा का वहाँ भली भाँति प्रवेश हो सके। ऐसा होने पर वहाँ निवास करने वाले व्यक्ति स्वस्थ, सुखी व प्रसन्नचित रहते हैं।

वास्तुकला में दिग्ज्ञान अत्यन्त आवश्यक माना गया है। प्राचीन काल में सूर्यादय, सूर्यास्त, शङ्कुछाया, ध्रुव नक्षत्र के द्वारा तथा रात्रि में नक्षत्रवेध के द्वारा दिग्ज्ञान प्राप्त किया जाता था। प्राङ्गण, गृहद्वार, कक्ष, झरोखे आदि सभी निर्धारित दिशा में बनाए जाते थे, अन्यथा किसी न किसी प्रकार की हानि की सम्भावना जताई जाती थी। यह सत्य है कि उचित दिशा में निर्माण-कार्य आदि होने से सूर्य की किरणों का पर्याप्त प्रवेश, चुम्बकीय आदि शक्तियों का उचित प्रभाव आदि होने से वहाँ निवास करने वालों पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है, जिससे व्यक्ति स्वस्थ, निरोग, प्रसन्नचित एवम् ऊर्जावान बने रहते हैं। वर्तमान में दिग्ज्ञान हेतु चुम्बक यन्त्र का प्रयोग होता है, जिससे दिशा निर्धारित करना सरल हो गया है, परन्तु भवन आदि के निर्माण-कार्यों में दिग्ज्ञान की अनिवार्यता आज भी स्वीकार की गई है, जिससे भवन आदि तथा वहाँ के निवासियों को सूर्य का प्रकाश आदि पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो सके तथा स्वच्छ वायु का सञ्चरण सभी को स्वस्थ एवं स्फूर्तिवान रख सके।

वास्तुशास्त्र में यदि आवसीय गृह- भवन आदि अनुकूल प्रभाव वाले न हों तो वहाँ कतिपय आन्तरिक एवं बाह्य परिवर्तन कर, स्वस्तिवाचन तथा वास्तुदेवताहोम द्वारा वास्तुशान्ति के उपाय भी बताये गये हैं। वर्तमान में भी हम देखते हैं कि कुछ लोग, जो अपने आवासीय अथवा व्यावसायिक गृहों-भवनों आदि से सन्तुष्ट नहीं रहते, अपने शयनकक्ष, अध्ययन-कक्ष, कार्यालय-कक्ष अथवा वहाँ पर बैठने आदि की दिशा में वास्तु के अनुरूप परिवर्तन कर सन्तुष्टि का अनुभव करते हैं। यही कारण है कि वास्तुशास्त्र में पूर्व प्रतिपादित सिद्धान्तों का परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन कर खण्डन-मण्डन भी होता रहा है।

3.11 सारांश

गृह निर्माण की कला को ही वास्तुकला कहा जाता है एवं इस कला के सैद्धांतिक रूप की व्याख्या करने वाला शास्त्र वास्तुशास्त्र कहलाता है, जिसे स्थापत्यशास्त्र, स्थापत्यकला आदि पर्याय रूपों में जाना जाता है एवं इसे प्राचीन वास्तु विदों ने अपने-अपने मतानुसार परिभाषित

कर मानव जीवन को सुखमय बनाने वाले विविध विषयों का प्रतिपादन किया।वेदों में गृह हेतु **शर्म, शरणम् धाम, दम, सदन हर्म्य, पत्स्य, शाला** आदि। रामायण में आवास हेतु **गृह, प्रासाद, भवन, विमान** आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। महाभारत में भी गृह सन्निवेश में वर्णित-**गृह, वेश्म, सभा, प्रासाद, सौध** आदि शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार परवर्ती लौकिक साहित्यिक ग्रन्थों में भी आवास हेतु **भवन या गृह , आश्रम , आवास, प्रासाद एवं सभामण्डप** आदि शब्दों के प्रयोग के साथ ही गृह को गृहस्थ-जीवन के सम्पूर्ण कार्यों को करने हेतु श्रेष्ठ बताया गया है। इस दृष्टी से संस्कृत साहित्य में वास्तु का भी अपूर्व स्थान है।प्रस्तुत इकाई में वास्तु शब्द की व्युत्पत्ति, उसका स्वरुप एवं उसको अभिव्यक्त करने वाले विविध विषयों में-गृह, भवन, ग्राम, नगर, राजधानी, दुर्ग आदि का अध्ययन किया। साथ ही वास्तुशास्त्र के विवध सिद्धांतों में-भूखण्ड का चयन एवं परीक्षण- जल द्वारा परीक्षण, मृतिका परीक्षण आदि, भूखण्ड के प्रकार, प्रशस्त एवं त्याज्य भूमि, वास्तुपद्विकल्पन (मैपिंग) जैसे विविध विषयों से अवगत हुए हैं।

3.12 बोध-प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1.निम्नलिखित में से एक गृह का पर्यायवाची शब्द नहीं है-

क.हर्म्य ख. सदन ग. उत्स्य घ.शाला

2. वास्तु नियमानुसार गृह में पाकशाला का निर्माण किस दिशा में करना चाहिए?

क.पूर्वोत्तर ख.दक्षिणपूर्व ग.पश्चिमोत्तर घ. दक्षिणपश्चिम

3.बृहदसंहिता के रचनाकार हैं-

क. मय ख.विश्वकर्मा ग.भोज घ.वरहामिहिर

4.वास्तु ग्रंथो में कितने प्रकार के भूमि परीक्षणों का मुख्यतः उल्लेख है-

क.तीन ख.चार ग.पांच घ.दो

5.**इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेत्रे तिष्ठति घृतमुक्षणा।**
तां त्वा शाले सर्ववीराः अरिष्टवीरा उप सं चरेम।।गृह से सम्बंधित प्रस्तुत मन्त्र किस वेद से लिया गया है?

क.सामवेद ख.अथर्ववेद ग.ऋग्वेद घ.यजुर्वेद

6. निम्नलिखित में से नगर सुरक्षा के साधनों में से एक नहीं है-

क.वप्रख.परिखाग.उद्यान घ.प्राकार,

7. निम्न में से किस भूखण्ड को गृह सन्निवेश हेतु अत्यंत शुभ माना गया है-

क.नागपृष्ठप्लवास्तु ख. कूर्मपृष्ठप्लववास्तु ग.दैत्यपृष्ठप्लववास्तु घ.गजपृष्ठप्लववास्तु

रिक्त स्थान-

1.स्त्रीपुत्रादिभोगसौख्यजनकं .....जन्तुनामयनं सुखास्पददिं शीताम्बूघर्मापहम्।

2.**ऋग्वेद संहिता** का सम्पूर्ण .....वास्तुदेवता को समर्पित है।

3."प्राचीन भौगोलिक दृष्टिकोण के आधार पर .....शब्द का उपयोग समुद्र तट के उस स्थान विशेष के लिये
किया जाता था, जिसमें जलमार्ग से आने वाले विभिन्न जहाज व्यापारिक उद्देश्य से ठहरते हैं।

4.अपराजितपृच्छा में ..... सूत्र हैं।

सत्य/असत्य

1.खेट, खर्वट, पुट तथा रथ्या का निर्माण भवन निर्माण के अंतर्गत किया जाता है। ( )

2.वास्तुशास्त्र के प्रमुख प्राचीन प्रवर्तकों में विश्वकर्मा तथा मय प्रसिद्ध शिल्पी माने जाते हैं। ( )

3.वास्तुविदों ने वास्तुपदविकल्पन में नैर्ऋत्य कोण के मध्य भाग में अध्ययन कक्ष की अवस्थापना बताई है। ( )

4.मयमतम में दस प्रकार के दुर्ग बाताये गए हैं। ( )

3.13 शब्दावली

शाला- घर, भवन आदि।

दिक् साधन- दिशा का निर्धारण करने वाले साधन व उपाय ।

पत्तन- समुद्र तट के वह स्थान जहाँ जहाज ठहरते हैं।

गजपृष्ठप्लववास्तु- गज की आकृति का भूखण्ड।

वास्तुपदविन्यास- चयनित भूखण्ड पर विविध कक्षों की परिकल्पना।

खर्वट - ग्रामों का समूह।

प्राक्शिर शयन - पूर्व दिशा की ओर शिर करके शयन करना।

3.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बहुविकल्पीय प्रश्न

1.ग. उत्स्य

2.ख. दक्षिणपूर्व

3.घ.वरहामिहिर

4.घ.दो

5.ख.अथर्ववेद

6.ग.उद्यान

7.घ. गजपृष्ठप्लववास्तु

रिक्त स्थान

1. धर्मार्थकामप्रदम्

2.सप्तम मण्डल

3.पत्तन

4. 236 व 237

सत्य/असत्य

1.असत्य

2. सत्य

3. सत्य

4. असत्य

3.15 सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

1. ऋग्वेद- चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी-221001

2. यजुर्वेद- चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, यू0 ए0 बंग्लो रोडजवाहर नगर, दिल्ली-110007

3. अथर्ववेद-चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, यू0 ए0 बंगलो रोड नगर, दिल्ली- 11000
4. वाल्मीकि रामायण-गीताप्रेस गोरखपुर उत्तरप्रदेश, गोविन्दभवन कार्यालय सन् 2019
5. महाभारत- गीताप्रेस गोरखपुर, उत्तर प्रदेश
6. मत्स्यपुराण-गीताप्रेस गोरखपुर, उत्तर प्रदेश
7. अग्निपुराण-द्विवेदी आचार्य शिवप्रसाद, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान संस्करण 2009
8. अर्थशास्त्र- गैरोला वाचस्पति, चौखम्बा विद्याभवन वाराणासी संस्करण 2009

3.16 उपयोगी पुस्तकें

1. विश्वकर्मा प्रकाश व विश्वकर्मावास्तुशास्त्र-जुगनु श्रीकृष्ण, परिमल पब्लिकेशन दिल्ली, संस्करण सन् 2015
2.माय प्रणीत 'मयमतम्'-पाण्डेय श्रीमती शैलजा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी संस्करण 20011
3. भोज प्रणीत 'समरांगणसूत्रधार'-जुगनू डॉ0 श्रीकृष्ण, शर्मा प्रो0 भँवर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी 2017
4. सूत्रधार मंडन विरचित 'राजवल्लभवास्तुशास्त्र'-जुगनू डॉ० श्री कृष्ण, परिमल पब्लिकेशन दिल्ली संस्करण 2005
5. वृहद्वास्तुमाला- थपलियाल डॉ० अशोक,अमर ग्रन्थ पब्लिकेशन नई दिल्ली संस्करण 2013
6. टोडरमल प्रणीत 'वास्तुसौख्यम्- जुगनू डॉ० श्री कृष्ण, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी।

3.17 निबंधात्मक प्रश्न

1. वास्तुशास्त्र में "भूमि परीक्षण" सिद्धान्त की विवेचना कीजिये।
2. वास्तुशास्त्र के प्राचीन प्रवर्तकों की सूची बनाइये।
3. भूखण्ड में शल्य-दोष प्रकरण का विवेचन कीजिये।
4. गृह अथवा भवन निर्माण प्रक्रिया का विवेचन कीजिये।
5. प्राचीन से अर्वाचीन तक सुरक्षा के साधनों का वर्णन करते हुए दुर्ग निर्माण प्रक्रिया को समझाइए।

खण्ड- तीन (Section-C)
नृत्य एवं संगीत

इकाई-1 अभिनय का स्वरूप एवं भेद

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 अभिनय का अर्थ, स्वरूप एवं गुण
1.4 अभिनय के प्रकार
    1.4.1 आंगिक अभिनय
    1.4.2 वाचिक अभिनय
    1.4.3 आहार्य अभिनय
    1.4.4 सात्विक अभिनय
1.5 सारांश
1.6 पारिभाषिक शब्दावली
1.7 बोध प्रश्नों के उत्तर
1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियो !

भारतीय ज्ञान परम्परा में प्रमाण-पत्र कार्यक्रम (CCIKS-24) कला एवं संस्कृति (Indian Art and Culture) नामक पाठ्यक्रम के खण्ड तृतीय से सम्बन्धित यह प्रथम इकाई है। इस खण्ड में नृत्य एवं संगीत के अन्तर्गत **अभिनय का स्वरूप एवं भेद** का वर्णन किया गया हैं। प्रस्तुत इकाई में आप अभिनय का अर्थ एवं स्वरूप, अभिनय के तत्व एवं उनके भेदों का अध्ययन करेंगे।

"दृश्यकाव्य होने के कारण नाटक की सफलता का सबसे प्रबल प्रमाण उसकी अभिनेयता अथवा मंचीय प्रस्तुति में निहित है। आचार्य भरत के अनुसार "अभि" पूर्वक " णीञ् " धातु के योग से "अभिनय" शब्द निःसृत होता है। उनके अनुसार "अभिनय" शब्द का अर्थ हे सम्मुख ले जाना। नाटक के प्रसंग में शाखा, अंग, उपांग सहित जो प्रक्रिया कवि के अभिप्रेत को पाठक के समक्ष व्यक्त कर देती है, उसे अभिनय कहते हैं। अभिनय की इस प्रक्रिया के कर्ता को अभिनेता कहते हैं। **"अभिनवति हृदयगत भावान प्रकाश्यति इति"** "अंतरंग के रागद्वेषादि भाव प्रकाशित करना ही अभिनय है" इस प्रकार से इसकी परिभाषा करना उचित लगता है। वाणी, शारीरिक चेष्टा, मुखमुद्रा एवं वेशभूषा आदि द्वारा मानसिक भाव व्यक्त करना, उसी प्रकार प्रमाता को रस की अनुभूति करा देना यही मुख्य रूप से अभिनय के उद्देश्य है।"

कला एवं संस्कृति नामक तृतीय खण्ड के 'अभिनय का स्वरूप' से परिचय प्राप्त हो उसके भेदों की सामान्य जानकारी हो, इस उद्देश्य से प्रस्तुत इकाई में अभिनय के स्वरुप पर प्रकाश डाला जा रहा है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- आंगिक अभिनय का सामान्य परिचय जानने में समर्थ हो सकेंगे।
- वाचिक अभिनय का सामान्य परिचय जानने में समर्थ हो सकेंगे।
- आहार्य अभिनय की प्रमुख विधाओं को जानेंगे
- नाट्य में आहार्य अभिनय की उपयोगिता को समझने में समर्थ हो सकेंगे।
- सात्त्विक अभिनय का स्वरूप का ज्ञान हो पायेगा।
- सात्त्विक अभिनय के अन्तर्गत अलंकार आदि को जान पायेगें।
- इन्द्रियों के संकेतों द्वारा भावों का अभिनय का ज्ञान हो सकेंगा।
- अभिनय में प्रयुक्त तकनीकि शब्दावली का ज्ञान हो पायेगा।

1.3 अभिनय का अर्थ, स्वरूप एवं गुण

अभिनय का अर्थ—

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के अष्टम अध्याय में अभिनय की परिभाषा एवं उसके भेदों पर प्रकाश डाला है। अभिनय शब्द की व्याकरण शास्त्र के अनुसार निष्पत्ति के विषय में प्राप्त होता है कि अभि उपसर्ग पूर्वक णीञ् धातु के साथ एरच् सूत्र से अच् प्रत्यय करने पर यह शब्द सिद्ध होता है जिसका अर्थ है आभिमुख्य अर्थात् नाटक में नट आदि के द्वारा जब सामाजिकों के

सम्मुख कथा में स्थित पात्रों उनके आचरण, व्यवहार तथा अवस्थाओं का अनुकरण किया जाता है तब वह अभिनय कहलाता है। यथा—

''अभिपूर्वस्य णीञ्धातुरभिमुख्यार्थनिर्णये।
यस्मात् प्रयोगं नयति तस्मादिभिनयः स्मृतः।।'' (नाट्यशास्त्र, 8/6)

अभिनय के माध्यम से नट आदि सामाजिकों के समक्ष विविध अर्थों की विशिष्ट भावनाओं का प्रदर्शन करते है। अभिनय के विविध प्रकार होने के कारण इसके अंग एवं उपांगों का भी वर्णन प्राप्त होता है। अभिनय मुख्य चार प्रकार का होता है - आंगिक, वाचिक, सात्त्विक, आहार्य। भरत मुनि ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में अभिनय के चार भेदों को मान्यता प्रदान करते है जिसमें प्रथम भेद के अन्तर्गत आंगिक, द्वितीय भेद के अन्तर्गत वाचिक, तृतीय भेद के अन्तर्गत सात्त्विक और चतुर्थ भेद के अन्तर्गत आहार्य भेद को मानते हैं । यथा— **आंड़्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्य सात्विकस्तथा।**

अभिनय का स्वरूप—

जगत् स्रष्टा ब्रह्मा जी के आदेश पर भरत मुनि ने देव रंजन एवं लोक रंजन के निमित्त नाट्यशास्त्र नाम के एक ग्रन्थ की रचना की। इस महान ग्रन्थ में नाट्य सम्बन्धि सम्पूर्ण तत्त्वों का विवेचन एवं वर्णन सूक्ष्म और विस्तार पूर्वक किया गया है। यद्यपि अभिनय अवस्था का अनुकरण मात्र है— **'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'** परन्तु जब वही अनुकरण रंगस्थल पर किया जाता है तब वह अनुकरण पूर्ण व्यवस्थित नियमावलि एवं मर्यादाओं कों ध्यान में रखकर शास्त्रीय पद्धति से किया जाना चाहिए इसलिए शास्त्र का निर्माण किया गया। तब शास्त्रीय पद्धति से किस प्रकार अभिनय किया जाय इसके लिए शास्त्र निर्देश प्रस्तुत करते है। इसी प्रकार काव्य आदि में जिस कथा को प्रस्तुत किया जाता है उस कथावस्तु की परिभाषा एवं उनके भेदों का उदाहरण सहित बोध शास्त्र के माध्यम से होता है। यहाँ पर अभिनय की परिभाषा, उसके भेदों को तथा अधिकारिक कथावस्तु के स्वरूप को जानने का प्रयास करेंगे।

मूलतः काव्य दो रूपों में विभाजित हैं। एक दृश्यकाव्य के रूप में और दूसरा श्रव्यकाव्य के रूप में। दृश्यकाव्य उसे कहते हैं, जो आंखों द्वारा देखा जाय और कानों से सुना भी जाय। दृश्यकाव्य का पठन और दर्शन भी कर सकते है। इसका आस्वादन समूह परम है जब कि श्रव्यकाव्य का आस्वादन व्यक्तिपरक है। श्रव्य काव्य का तो केवल पठन, श्रवण होता है। इसे दृश्य रूप में प्रेक्षकों के सामने प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। दृश्य काव्य में नाटक विधा आती है, तो श्रव्यकाव्य में उपन्यास, कहानी, निबन्ध, रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, आत्मकथा आदि विधाएँ आती हैं। नाट्य विधा दृश्य रूप तभी धारण करती है जब उसमें अभिनय हो। नाटक के पात्रों को अभिनीत करने वाला अभिनेता कहलाता है। अभिनेता स्वयं को नाटक के पात्रानुरूप ढालकर रंगमंच पर प्रस्तुत करता है जिससे प्रेक्षकों को रसानुभूति होती है। नाटक के रंगमंच और अभिनय, वे दो स्वतंत्र तत्व हैं। अन्य विधा में इन तत्व का पालन नहीं किया जा सकता। अतः नाटक अन्य साहित्यिक विधाओं से अलग है। उपन्यास, कहानी, महाकाव्य, गीति-काव्य और निबन्ध का मूल्यांकन केयल साहित्यिक प्रतिमानों से किया जा सकता है परन्तु नाटक का नहीं। अतः नाट्यकला मात्र साहित्यिक प्रतिमानों अथवा मानदंडों तक ही सीमित नहीं है। अभिनय के कारण वह अन्यविधाओं से अलग और महत्त्वपूर्ण हैं।

पाणिनी ने "नाटक" शब्द नट् (नाचना, अभिनय करना) धातु ते माना है। नट से तात्पर्य अभिनय कर्ता का कृत्व से है। श्री बेबर और मोलियर विलियम्स इनके मतानुसार "नट्" यह धातु

नृत् (नर्तन करना) का प्राकृत रूप है। मार्कंड के मतानुवार "नृत्" धातू प्राचीन होकर "नट्" धातु इसकी तुलना में नजदीकी कला है। अन्य लोगों के मतानुसार ये दोनों धातु ऋग्वेदकाल से प्रचलित है। सायण ने अपने ऋग्वेद भाष्य में "नट्" धातू का अर्थ "व्याप्ति" और "नृत्" इस धातु का अर्थ "गात्र विक्षेप" (अवयव संचालन) ऐसा दिया है। लेकिन कातान्तर से "नट्" धातु का अर्थ अधिक व्यापक और "नूत्" धातु के अर्थ के समीप होनेवाला "अभिनय" यह अर्थ उसको प्राप्त हुआ। तात्पर्य, गात्र विक्षेषण और अभिनय इन दोनों अर्थ से "नट्" धातु प्रचलति हो गया। आगे नाचना, अभिनय करना, रूप बदलना, विकार प्रदर्शन, अपस्थाओं का अनुकरण, जीवन चित्रण आदि अनेक अर्थ-रूप उसे प्राप्त हुए।

भरतमूनि—"त्रेलोक्यस्थास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनंम्।" अर्थात "नाट्य" अर्थात् इस सभी त्रैलोक्य के भावभावनाओं का अनुकीर्तन (अनुकरणात्मक प्रकटीकरण) है।

धनिक के अनुसार— "काव्य में नायक की वो धीरोदत्त इत्यादि अवस्थाएँ बातलाई गई है। उनकी एकरूपता जब नट अभिनय के द्वारा प्राप्त कर लेता है, तब वही एकरूपता की प्राप्ति "नाट्य" कहलाती है।"

अभिनय के गुण—

"अभिनयदर्पण" में अभिनय के चार गुणों का उल्लेख किया है।

(1) अनुकरण— (नैपुण्य)

अनुकरण करना मानव की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। यह अनुकरण स्वाभाविकता के जितना अनुरूप होगा उतना ही अधिक आनन्द प्रदान करेगा । नाटक में शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार के भावों का अनुकरण करना पडता है। शोक न होते हुए भी अश्रु प्रवाहित करने पडते हैं तथा शोकातुर व्यक्ति के सदृश अनुभाव व्यक्त करने पड़ते हैं।

(2) दृश्य सौष्ठव—

नाटक अभिनेय होता है अतः दर्शकों के अन्तःकरण में आनन्द का संचार करने के लिए दृश्य सौष्ठव अनिवार्य हैं। गुणों के सृदृश आधार देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है अन्यथा रंग में भंग भी पड़ सकता है। अतः अभिनेताओं का रूपवान होना तथा दृश्य के अनुरूप मंच पर सुन्दर कलात्मक सज्या का विधान अनिवार्य है।

(3) श्रुति—(माधुर्य)

दृश्य सौष्ठव के होते हुए भी यदि श्रुति-माधुर्य का अभाव हो तो अभिनय दर्शक की आनन्द प्रदान नहीं कर सकता। तथा भाव श्रुति-माधुर्य के लिए अपेक्षित है। अभिनेताओं में स्वर-संयम एवं शुद्ध आचरण की क्षमता होनी चाहिए।

(4) परिहास—

"नाटक में दर्शकों का मनोरंजन करने के लिए तथा मनोरंजन के माध्यम से अपना अभिप्रेत सम्प्रेषित करने के लिए परिहास तथा हास्य-व्यंग्य आदि का आश्रय लिया जाता है। परिहास का शिष्ट एवं अभिजात्य स्वरूप है, वाचिक अभिनय में व्यंग्य, वक्रोक्ति तथा कुतूहल प्रधान सुचनाओं की आश्चर्यजनक परिणति । वेशभूषा की विकृति द्वारा भी सामाजिकों का मनोरंजन किया जाता है किन्तु वह उतना स्तरीय सिद्ध नहीं होता है।

पाश्चात्य अभिनय का स्वरूप—

कला का निर्माण विभिन्न युगों की नाट्य-शैली के अनुरूप हुआ। यूनानी तथा रोमी नाटकों में भारतीय नाटयकला की भाँति एक विशिष्ट नियमितता एवं रूपात्मकता थी क्योंकि मुखोटे का प्रयोग होता था तथा संपूर्ण प्रदर्श न ही धार्मिक होने के कारण रूढ़ हो गया था।
सोलहवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में अभिनय-कला ने महत्त्वपूर्ण विकास किया। शेक्सपियर का इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान है। नाट्यलेखक तथा अभिनेता दोनों ही होने के कारण उन्होंने अपने नाटकों को अभिनय एवं रंगकला की दृष्टि से एक नई दिशा प्रदान की। बींसवीं शताब्दी में योरोप में अनेक नाट्य-विद्यालयों, संस्थाओं तथा प्रेक्षागृहों में अभिनय-सम्बन्धी अनेक प्रयोग हुए तथा सिद्धांत बनाए गए। वर्तमान समय में योरोप में चीन, जापान एवं भारतीय की भाँति प्रतीकवादी अभिनयकर्ताओं को अधिक महत्त्व दिया जात है। योरोपीय अभिनय-प्रणाली के पांच अंग हैं

1. मुख अभिनय
2. शारीरिक भंगिमा
3. गति
4. वेग
5. वाणी

पाश्चात्य विद्वानों ने अभिनय के दो प्रकार माने हैं- सक्रिय और मौन। रंगमंच पर उपस्थित कई व्यक्तियों में से सभी सक्रिय अभिनय नहीं करते। कुछ बोलते हैं, कुछ सुनते हैं, प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। पं॰ सीताराम चतुर्वेदी ने भारतीय तथा पाश्चात्य अभिनय-प्रणाली का विश्लेषण करते हुए अभिनय-प्रकार निर्धारित किए हैं-

1. अनुकरणात्मक
2. व्यक्ति परक
3. भाषणात्मक
4. तथ्यवादी
5. युगगत
6. उदातवादी
7. अभिव्यंजनावादी
8. प्रभाववादी
9. कल्पनावादी
10. भड़ैतपूर्ण
11. प्रहसनात्मक

अभिनय के चार प्रकार आंगिक, वाचिक आहार्य और सात्त्विक का विवरण अग्रलिखित है-

1.4 अभिनय के प्रकार

आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में अभिनय के चार प्रकार बतलाए हैं—

अंगिको वाचिकश्चैव आहार्यः सात्त्विकस्तथा।
ज्ञेयस्त्वभियो विप्राश्चतुर्धा परिकल्पितः।।

आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। आचार्य नन्दिकेश्वर के अनुसार ये चारों प्रकार के अभिनय नटराज शिव के चार रूप हैं और वे ही उसके अधिष्ठता हैं—

आंगिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम्।

आहार्य चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम्।।

(1) आङ्गिक अभिनय—

आचार्य भरतमुनि ने नाट्य के लिए वस्तु, नेता एवं रस को आवश्यक तत्त्व माना, और इन तत्त्वों को रंगमंच पर प्रदर्शित करने का माध्यम अभिनय को माना है। अभिनय के माध्यम से पात्र (नेता) वस्तु और रस को रंगमंच पर प्रदर्शि त करते हैं, जिससे प्रेक्षक आनन्दित होते हैं। नाट्य के लिए अभिनय एक महत्त्वपूर्ण कला है, और इस कला को आचार्य भरतमुनि ने विस्तार पूर्वक वर्णित किया है—

अभिनय का अर्थ— अभिनय शब्द अभि उपसर्ग पूर्वक णीञ् प्रापणे (नी) धातु से अच् प्रत्यन के योग से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है- 'नाट्य प्रयोग के अर्थों को प्रक्षकों के समक्ष प्रत्यक्षतः प्रदर्शित करना है।—

''अभिपूर्वस्य णीञ्धातुरभिमुख्यार्थनिर्णये।
यस्मात् प्रयोगं नयति तस्मादिभिनयः स्मृतः।।''

अभिनय इति कस्मात् अत्रोच्यते- अभित्युपसर्गः। णीञित्ययं धातुः प्रापणार्थः। अस्या अभिनीत्येवं व्यवस्थितस्य एरजित्यच्प्रत्ययान्तरस्याभिनय इति रूपं सिद्धम्।

आचार्य भरतमुनि ने कहा है कि जिस प्रयोग के द्वारा नाट्य के विविध अर्थों का सामाजिक अर्थात् प्रक्षकों को रसास्वादन कराया जाए, उसे अभिनय कहते हैं—

विभावयति यस्माच्च नानार्थानिह प्रयोगतः।
शाखाऽगोपाऽगसंयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः।।

आचार्य विश्वानाथ के अनुसार— अवस्थानुकार को अभिनय कहते हैं, अर्थात् जिसमें अभिनेता द्वारा शरीर, मन एवं वाणी से अभिनेय (रामादि) की अवस्थाओं का अनुकरण होता है, उसे 'अभिनय' कहते हैं— **भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः।** अभिनय वह कला है जिसके द्वारा नट अभिनेय रामादि के क्रिया-कलापों, वेश-भूषा, विविध चेष्टाओं एवं भाव-भंगिमाओं को रंगमंच पर घूम-घूम कर भाव-मुद्राओं का प्रदर्शन करता हैं, संयम के साथ उचित स्थल पर काकु, यति आदि का संयोजन कर उचित ढंग से वाक्याभिनय करता है, पात्रों के अनुरूप देशकालोचित वेश-भूषा एवं साज-सज्जा का संयोजन करता है और अभिनय पात्रों के मानसिक भावों का प्रकाशन करता है।

अभिनय की पूर्ण सफलता के लिए चार गुण आवश्यक माने गए हैं- नैपुण्य, दृश्य-सौष्ठव, श्रूति-माधुर्य एवं परिहास। जो कला दर्शक का ध्यान केवल रंगमंच पर उपस्थित होने वाले दृश्य की ओर सतत् आकृष्ट किए रहे, वह अभिनय है।

''अभिशब्दे नाभिमुख्य न शब्दे न निषेधः य शब्देन यदर्थोलक्ष्यते। तेन स्वपारवर्तीन्मुख देशागमनेन अभिमुख्यं आभिमुखत्वम्। पार्श्वक्षेत्रेषु रेचन पूर्व अधोमुखोत्तान परिवर्त्तनेन च यच्छब्दार्थनभिनयेत्।।''सामाजिकानामाभिसुखेन साक्षात्कारेण नीयते प्राप्यतेऽर्थोऽनेतेति अभिनयः' अर्थात् अभिनय वही हैं जिसके द्वारा दर्शकों के समक्ष नाटकीय विषय साक्षात् रूप से प्रस्तुत किया जाता है। अतः कह सकते हैं कि अभिनेता द्वारा रामादि अभिनेय की गयी अनुकृति ही अभिनय है, जिसके द्वारा प्रेक्षक आनन्दित होते हैं।

आचार्य भरत ने आंगिक अभिनय के तीन प्रकार बताए गए हैं- शरीरज, मुखज और चेष्टाकृत।

''त्रिविधस्त्वांगिको ज्ञेयः शारीरो मुखजस्ताथ।
तथा चेष्टाकृतश्चैव शाखाङ्गोपाङ्गसंयुतः।।''

इसमें शरीरज अभिनय शाखा, अंग और उपांग युक्त होता है। उपांगों द्वारा किया गया अभिनय मुखज कहलाता है, और चेष्टा द्वारा किया जाने वाला अभिनय चेष्टाकृत कहा जाता है। इस प्रकार अंग, प्रत्यंग एवं उपांगों द्वारा किए जाने वाले अभिनय को आंगिक अभिनय कहते हैं— **'तत्राङ्गिकोऽङ्गोपाङ्गप्रत्यङ्।'**

आचार्य भरतमुनि ने आंगिक अभिनय छः प्रकार के बताए हैं- शिर, हस्त, वक्ष-स्थल, पार्श्व, कटि और पाद। प्रत्यंग छः प्रकार के बताए हैं दोनों स्कन्ध दोनों बाहु, पीठ, उदर, दोनों उरू और दोनों जंघाएँ। कुछ आचार्य ग्रीवा को प्रत्यंगों में गिनते हैं। नाट्यशास्त्र में छः प्रकार के उपांग निर्दिष्ट किए हैं- नेत्र, भ्रु, नासिका, उधर, कपाल और चिबुक।

तत्रशिरो हस्तोरः पार्श्वकटीपादतः षर्डगानि।

नेत्र-भू-नासाधार-कपोल-चिबुकान्युपांगानि।।

आंगिक अभिनय के भेद—

आंगिक अभिनय के अन्तर्गत आने वाले अभिनय-भेदों का विवेचन नाट्यशास्त्र में इस प्रकार प्राप्त होता है -

1. शिरोऽभिनय - शिर द्वारा किया जानेवाला अभिनय शिरोभिनय है। यह 13 प्रकार का होता है - आकम्पित, कम्पित, धुत, विधुत, परिवाहित, आधूत, अवधूत, अंचित, निहंचित, परावृत, उत्क्षिप्त, अधोगत और लोलित। अभिनय दर्पण में शिरोऽभिनय के नौ प्रकार बताए गए हैं। भरतार्वण में शिरोभिनय के 19 भेद बताए गए हैं। अध्येय नाटकों शिरोऽभिनय द्वारा पात्रों ने अभिनय किया है। सीताभ्युदयम् नाटक राम गुरू वसिष्ठ को प्रणाम करते हैं जिसमें वह शिर को झुकाकर प्रणाम करते हैं, यहाँ राम का अंचित शिरोऽभिनय है- **रामः- अभिवादये महामुनिं रघुवंश-प्रथप्रदर्शनम्।**

इसी प्रकार सैरन्ध्री नाटक में द्रौपदी शिरोऽभिनय द्वारा सुदेष्णा को प्रणाम करती है। इसी नाटक में सुधाकर नामक प्रवेशक अपने भाग्य के विषय में स्वयं से बात करता है जिसमें अक्षिप्तशिरोऽभिनय द्वारा आकाश में देखते हैं—**''सुधाकरः अहो आकाशचरिन् ! सखे ! सुधाकर ! त्वद्भाग्यं विलोक्यासूयते मदीयं मनः।''** स्नेहसौवीरम् नाटक में नटी सूत्रधार के समक्ष जीभ दबाकर सिर हिलाने का अभिनय करती है। भर्तृहरि-निर्वेदनाटकम् नाटक में राजा लज्जित होकर नीचे मुख कर के रूकता है। यहाँ पर अधोगत शिरोऽभिनय है-

राजा- (सवैलक्ष्यमधोमुखस्तिष्ठति)

योगीः- राजन् किं विचिन्त्यते ?

राजाः भगवन्! किपरम् ? मद्वाक्यैरेव मामुपदिश्य ममापनीतोऽयं शोकः श्रीपादैः।

2. हस्ताभिनय - पाठक के अनुकूल हाथ एवं अंगुलियों की विभिन्न मुद्राएँ बनाना हस्ताभिनय है। हस्ताभिनय को तीन वर्गों में वर्गीकृत किया गया है - असंयुतहस्ताभिनय, संयुतहस्ताभिनय एवं नृत्तहस्त।

3. कटिकर्म - कटि (कमर) का अभिनय कटिकर्म कहलाता है। यह पाँच प्रकार का होता है - छिन्ना, निवृत्ता, रेचिता, कम्पिता, और उद्वहिता।

4. उरः कर्म या वक्षकर्म - वक्ष की विविध् मुद्राओं के द्वारा अभिनय वक्षकर्म है। वक्षकर्म पाँच हैं - आभुग्न, निर्भुग्न, प्रकम्पित, उद्वाहित और सम।

5. पार्श्व कर्म - पार्श्वकर्म भी पाँच हैं - नत, समुन्नत, प्रसारित, विवर्त्तित और अपसृत।

6. पादाभिनय - पैरों से किया जानेवाला अभिनय पादाभिनय है। ये संख्या में पाँच हैं - उद्घट्टित, सम, अग्रतलसंचर, अंचित और कुंचित। अन्य आचार्य सूचीपाद की गणना भी पादाभिनय में करते हैं।

7. उदरकर्म - यहाँ तीन प्रकार के उदरकर्म का उल्लेख मिलता है, वे हैं - क्षाम, खल्ब और पूर्ण।

8. उरु कर्म - यहाँ पाँच प्रकार के उरु कर्म की चर्चा है - कम्पन, वलय, स्तम्भन, उद्वर्तन और निवर्त्तन।

9. जघ्घाकर्म - जड़्घाकर्म पाँच हैं - आवर्तित, नत्, क्षित्त, उद्वाहित और परिवृत्त।

10. मुखज कर्म /अभिनय - मुखज कर्म के छह प्रकार की चर्चा प्राप्त होती है, वे हैं, विधुत, विनिवृत्त, निर्भुग्न, भुग्न, विवृत्त और उद्वाही। तिरछा फैलाये हुए मुख को विधुत कहते हैं। खुला हुआ मुख विनिवृत्त कहलाता है। नीचे की और झुका हुआ मुख निर्भुग्न कहलाता है। थोड़ा फैला हुआ मुख भुग्न कहलाता है। ओठों के साथ खुला हुआ मुख विवृत्त कहलाता है तथा उफपर की ओर उठा हुआ या खुला हुआ मुख उद्वाहि

कहलाता है। मुखज कर्म के साथ ही मुखराग का वर्णन भी प्राप्त होता है। मुखराग से तात्पर्य है - नट के द्वारा अभिनेय वस्तु के भाव के अनुकूल मुख के रंग को बनाना। यहाँ रंग के लेपन के बिना ही मुख के राग को परिवर्तित किया जाता है। स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त और श्याम - ये मुखराग के चार भेद हैं।

11. नेत्रा/दृष्टि अभिनय - मनुष्य के नयनों की भाषा और भाव भंगिमा में ही नाटय की प्रतिष्ठा है। नेत्र की भाषा व भंगिमा अभिनय व प्रदर्शन का मुख्य हेतु है। यहाँ आठ रस दृष्टियों, आठ स्थायिभाव दृष्टि तथा बीस संचारीभाव दृष्टि की विवेचना प्राप्त होती है। आठ रस दृष्टियाँ हैं - कान्ता, भयानका, हास्या, करुणा, अद्भुता, रौद्री, वीरा और वीभत्सा। इन रस दृष्टियों के सम्यक विनियोग से विविध रसों का सृजन होता है।

स्थायि भाव दृष्टि आठ हैं - स्निग्ध, दृष्टा, दीना, क्रुद्धा, दृप्ता, भयान्विता, जुगुप्सिता और विस्मिता। संचारी दृष्टियाँ बीस हैं - शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जान्विता, ग्लाना, शंकिता, विषादिनी, मुवुफला, वुंफचिता, अभितप्ता, जिह्वा, ललिता, वितर्विफता, अर्धमुकुला, विभ्रान्ता,विप्लुता, आकेकरा, विकोशा, त्रास्ता और मदिरा।

अभिनय में दृष्टि अथवा नेत्रों का विशेष महत्त्व रहा है। नेत्र एक दर्पण के समान है, जिसमें मानव का हृदय प्रतिबिम्बित हेता है। नेत्रों के द्वारा ही भावभिव्यक्ति की जाती है। इनके संकोचन तथा स्फुरण से अनेकानेक भाव व्यंजित हो जाते हैं आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में रस, भाव तथा संचारियों के प्रदर्शन में प्रयुक्त दृष्टि चेष्टाओं की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। दृष्टि के 36 भेद हैं- कान्ता, हास्या, करुणा, रौद्री, वीर, भयानका, बीभत्सा, अद्भुता (रस दृष्टियाँ) स्नग्धा, दीना, क्रुद्धा, दृप्ता, भयान्विता, जुगुप्सिता, विस्मिता (स्थायी-भाव दृष्टियाँ) शून्या, मलिन, श्रान्ता, लज्जान्विता, ग्लाना, शंकिता, विष्णा, मुकुला, कुंचिता, अभितप्ता, जिह्वा, ललिता, वितर्किता, अर्धमुकुला, विभ्रान्ता, विलुप्ता, आकेरा, विकोशा, त्रस्ता और मदिरा (व्यभिचारीभाव दृष्टियाँ) अध्येय नाटककारों ने इन दृष्टियों का प्रयोग करके रस एवं भाव के साथ अभिनय कला को दिखया है। राष्टं भवति सर्वस्वम् नाटक में प्रमोद के दर्शन पाकर सुधा लज्जित होकर कान्ता नेत्राभिनय के साथ अभिनय करती है।

12. भ्रूकर्म - भ्रूकर्म सात हैं - उत्क्षेप, पातन, भ्रुवुफटि, चतुर, वुंफचित, रेचित और सहज। भौहों को बारी-बारी से उठाना उत्क्षेप, क्रमशः नीचे की ओर उतारना पातन, भौहों के मूलों का एक

साथ समुन्नयन भृकुटी, भृकुटियों की मधुरता एवं विस्तार चतुर, भौहों का क्रमशः धीरे या एक साथ झुकाना कुंचित, ललित उत्क्षेप रेचित, स्वाभाविक स्थिति में रहना सहज है।

13. नासिका कर्म - नासिका के द्वारा किया गया अभिनय नासा कर्म है। इनके छह प्रकार निम्नलिखित हैं - नता, मन्दा, विकृष्टा, सोच्छ्वासा, विवूफणिता और स्वाभाविकी।

14. अधर कर्म - अधरोष्ठ के द्वारा किया गया अभिनय अधरकर्म या अधरोष्ठ कर्म कहलाता है। अधरोष्ठ कर्म छह हैं - विवर्तन, कम्पित, विसर्ग, विनिगूहन, संदष्टक, समुद्ग।

15. चिबुककर्म - ठुड्डी द्वारा किया गया अभिनय चिबुक कर्म है। यद्यपि दन्त, जिह्वा और ओष्ठ के संचालन में चिबुककर्म होता है, किन्तु चिबुक कर्म के लक्षण दन्तक्रिया के लक्षण हैं। चिबुक कर्म या दन्त कर्म सात हैं - कुट्टन, खण्डन, छिन्न, चुक्कित, लोहित, सम और दष्ट।

16. कपोल कर्म - कपोल कर्म को गण्ड कर्म भी कहते हैं, जो संख्या में छह हैं - क्षाम, फुल्ल, पूर्ण , कम्पित, कुचित और सम। आंगिक अभिनय के अन्तर्गत पुत्तलिका कर्म, अवलोकन, पुटकर्म और ग्रीवा कर्म का भी उल्लेख हुआ है।

(2) वाचिक अभिनय—

नाट्य में वाचिक अभिनय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य भरतमुनि ने वाचिक अभिनय को नाट्य का शरीर कहा है, क्योंकि अभिनय के अंग उसके अर्थ को व्यंजित करते हैं। नाटककार इसी आधार पर नाटक की कथावस्तु को दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार वाचिक अभिनय नाट्य का शरीर है और पाठ्य वाचिक अभिनय का प्राण है नाट्यशास्त्र में पाठ के छः अंग बताए हैं- स्वर, स्थान, वर्ण , काकु , अलंकार और अंक। वाचिक अभिनय का मुख्य सम्बन्ध वाणी हैं आचार्य भरतमुनि का कथन है- ब्रह्माण्ड में वाणी से बढ़कर कोई भी अन्य वस्तु नहीं हैं उन्होंने वाणी को ही समस्त विश्व का कारण माना है। वाचिक अभिनय में अभिनेता वाणी के द्वारा अभिनय प्रकट करता हैं जिससे संवाद में निहित भवों का प्रदर्शन होता हैं वाणी के द्वारा अभिनेता दर्शक को रसास्वादन कराने में सक्षम होते है।

अभिनेता अपनी अभिनय प्रक्रिया में जो कुछ भी बोलता है यह सब वाचिक अभिनय के अन्तर्गत आता है। भरत वाचिक अभिनय को नाट्य का शरीर मानते हैं, जो कि सत्व भी है। यदी किसी नाट्य-कृति से उसके कथोपकथन हटा दिये जायें तो उसकी नाट्य संज्ञा ही समाप्त हो जायेंगी। बहुत सीमा तक कथोपकथन या वाचिक अभिनय में ही नाटक की रस रूप आत्मा निवास करती है। वो भी अभिनय के अन्य विभाग सम्भाषण के अर्थ को ही व्यंजित करते हैं।

आचार्य नन्दिकेश्वर का मत है- जिस नृत्य में वाणी द्वारा काव्य (गीत-संगीत) और नाटकादि का अभिव्यंजन किया जाए उसे वाचिक अभिनय कहते हैं। **'वाचा विरचितः काव्यनाटकादि तु वाचिकः।'** वाचिक अभिनय में छः प्रकार के अलंकारों का वर्णन है- उच्च, दीप्त, मद्र, नच, द्रुत, विलम्बित। वस्तुतः ये स्वर भेद है जिन्हें अलंकार की संज्ञा दी गयी है। छः प्रकार की स्थितियाँ बतलाई गयी है-विच्छेद, अर्पण, विसर्पण, विसर्ग , दीपन, प्रशमन। इनके अतिरिक्त आचार्य भरत ने वाचिक अभिनय की विधियाँ बतलाई है। लय, विरा, कृष्य, अक्षर, आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संलाप, अपलाप, सन्देश और व्यपदेश। वाचिक अभिनय का मुख्य सम्बन्ध शरीर से न होकर वाणी से है इसलिए आचार्य भरतमुनि ने वाणी के विभिन्न स्थानों को विधियों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। अध्येय नाटकों में इस प्रकार से वाचिक अभिनय को देख सकते हैं।

स्नेहसौवीरम् नाटक में मल्लिका रोती हुयी शबरी से अपनी बात कहती है जिसमें मल्लिका अपनी वाणी में रूदन की ध्वनि निकालती है। मल्लिका- (सहसा रुदती) प्रविश निर्बन्धशीले का त्वामनुरूणद्धि, (चातकीखः) हन्ता।

इसी नाटक में मुद्गल काँपती हुई वाणी के साथ अभिनय करता है- मुद्गल- (वेपमानः) गुरुदेव! किमहं करवाणि? तस्मादेव दिनात् म्रिये,, म्रिये खलु करलज्वैरेण, तापशन्तिं प्रयच्छ।

दक्षिणा-दानम् नाटक में आत्रेयी आक्रोशसहित वरतन्तु से कहती है-

वृद्धोऽसि विदुषां श्रेष्ठ, आचार्य आश्रमस्य च।
विस्मृता निजमर्यादा, बालस्य हठ सन्मुखे।।

(3) आहार्य अभिनय—

अभिनय में आहार्य अभिनय तीसरे स्थान पर आता है। आचार्य भरतमुनि ने इस अभिनय को नेपथ्यकर्म नाम दिया है, क्योंकि नेपथ्य के अन्दर की जाने वाली अंगरचना आदि को ही आहार्य अभिनय कहा जाता है। वस्त्र सम्बन्धी या वेशभूषा सम्बन्धी नियमों को आहार्य अभिनय माना जाता है। अभिनेता द्वारा अपने अनुकार्य अभिनय की वेशभूषा धारण करना नाट्य में सृष्टि के लिए अत्यधिक सहायक सिद्ध होती है।

नाट्यशास्त्र के 23 वें अध्याय में आहार्य अभिनय का विस्तृत से वर्णन किया गया है। आचार्य भरतमुनि ने कहा है कि आहार्य अभिनय नेपथ्य रचना का विधान है। इसी के कारणवश नाट्य प्रयोग में सफलता सिद्ध होती है। नाट्यकारों ने इस अभिनय पर विशेष ध्यान देना चाहिए।–

आहार्याभिनयो नाम ज्ञेयो नेपथ्यजो विधिः।
तत्र कार्यः प्रयत्नस्तु नाट्यस्य शुभमिच्छता।।

आहार्य अभिनय में शिर से पैर तक विभिन्न अंगों के प्रसाधन और साज-सज्जा पर विशेष ध्यान दिया जाता है। आचार्य नन्दीकेश्वर ने कहा है कि हार और केयूर आदि प्रसाधनों से सुसज्जित होकर जिस नाट्य का प्रदर्शन किया जाता है, उसे आहार्य अभिनय कहते हैं— **'आहारो हारकेयूरवेषादिभिरलंकृत'**।

इस प्रकार आहार्य अभिनय का सम्बन्ध प्रसाधन, वेषभूषा और साज-श्रृंगार से है। देश, काल, वर्ण , आश्रम, जाति, लिंग, वय और परिस्थिति के अनुसार समुचित शरीर सज्जा की विधियों का निरुपण करना ही आहार्य अभिनय है। शरीर-सज्जा तथा वस्त्रालंकरण के लिए नेपथ्य के चार कर्म बताए गए हैं- कचधार्य (केशविन्यास), देहधार्य (शरीर-सज्जा), परिधेय (वस्त्रालंकरण-सज्जा) और विलेपन (अंगराग या अनुलेपन)। नाट्यशास्त्र में आहार्य अभिनय के चार भेद बतलाए हैं— पुस्त, अलंकार, अंगरचना, सजीव।

''चतुर्विधन्तु नेपथ्यं पुस्तोऽलंकार एव च।
तथांकरचना चैव ज्ञेयः सज्जीव एवं च।।''

1. पुस्त अभिनय— पुस्त आहार्य अभिनय का मुख्य अंग है, क्योंकि पुस्त के माध्यम से रंगमंच पर दृश्य विधान बनाया जाता है। इसके अन्तर्गत शैल, यान, विमान, रथ, हाथी, ध्वज, छत्र तथा दण्ड आदि वस्तुओं का संकेतन किया जाता है, जिससे रंगमंच पर यथार्थ ता प्रस्तुत होती है। पुस्त का भाव है सांकेतिक पदार्थ की रचना। बाँस या सरकंडे पर कपड़े या चमड़े आदि की सहायता से तीन तरह के पुस्त (स्टेज) बनाए जाते है। सन्धिम, व्याजिम तथा चेष्टिम।

''पुस्तस्तु त्रिविधो ज्ञेयो नानारूपप्रमाणतः।

सन्धिमो व्याजिमश्चैव वेष्टिमश्चप्रकीर्तितः।।''

पुस्त के तीन भेद— सन्धिम, व्याजिम, वेष्टिम।

सन्धिम अभिनय—

सन्धिम का अर्थ होता है किसी वस्तु को बाँधना या जोड़ना। अतः इसमे वस्तुओं बाँध या जोड़ कर प्रयोग के लिए उपयुक्त वस्तुओं निर्माण किया जाता है। इसके अन्तर्गत भूँजपत्र, वस्त्र, चर्म, लौह, बाँस, चमड़ा आदि वस्तुओं से नाट्यप्रयोग के उपकरा बनाए जाते है। सन्धिम पुस्त के माध्यम से ही रंगमंच पर प्रासाद, दुर्ग , वाहन, रथ, हाथी, घोड़ा जैसी वस्तुओं का उपयोग किया जाता है। किलिंजचर्मवस्त्राद्यैर्यद्रूयं क्रियते बुधैः। सन्धिमो नाम विज्ञेयः पुस्तो नाटकसंश्रयः।।

व्याजिम अभिनय—

जिन वस्तुओं का यान्त्रिक साधनों से रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है। वह व्याजिम पुस्त कहलाता है। रथ, यान, विमान आदि को रंगमंच पर व्याजिम पुस्त द्वारा ही गति प्राप्त होती है। **'व्याजिमो नाम विज्ञेयो यन्त्रेण क्रियते तु यः'**। आचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि रथ, यान, विमान आदि वस्तुओं को रस्सी के माध्यम से आगे पीछे खींचकर करते हुए गतिशील बनाए जा सकते हैं। **'व्याजः सूत्रस्याकर्षादिरूपः आक्षेपः तेन निर्वृतः व्याजिमः'।**

वेष्टिम अभिनय—

इस पद के लिए चेष्टिम तथा चेष्टित पद भी मिलते है। इस प्रकार की पुस्त विधि में वस्त्रादि को लपेटकर प्रयोग किया जाता है। **'वेष्ट्यते चैव यद्रूपं वेष्टिमः स तु संज्ञितः'।** नाट्य में पुस्तविधि द्वारा शैल, यान, वाहन, विमान, तथा हस्ती आदि को मंच पर प्रस्तुत करने का प्रयोग होता है। छत्र, मुकुट, इन्द्रध्वज तथा विभिन्न स्तरों के पात्र जैसे राजा, मन्त्री, महादेवी आदि के लिए काष्ठासन, मुण्डासन, मयूरासन आदि वस्तुओं का प्रस्तुतीकरण भी पुस्त विधि द्वारा ही होता है।

आचार्य भरतमुनि इस तथ्य से पूर्णतः अवगत थे कि बहुमूल्य पदार्थ सुलभता से प्राप्त नहीं हो पाते है, अतः प्रयोग के अनुरूप पदार्थों को वेणुदल, लाक्षा, अभ्रक, घासफूस तथा मोम के योग से निर्मित कर हल्केफुल्के रूप में मंच पर प्रस्तुत किया जाए। इस प्रकार यह पुस्तविधि भरतमुनि की अतिशय प्रतिभा सम्पन्न दृष्टि को सूचना देती है। इतना विस्तृत विवरण देकर भी भरतमुनि ने नाट्याचार्य पर भी यह कार्य छोड़ दिया कि वे समय और आवश्यकता के अनुसार ऐसी वस्तुओं को अपने विवेक से मंच पर प्रस्तुत करें।

नाट्यामृतम् नाट्य संग्रह में घोड़े का प्रयोग हुआ है। यहाँ घोड़े के लिए सन्धिम विधि का प्रयोग है। इसी प्रकार से गुरूदक्षिणा नाटक में मृग और मृग शिशु गाय, बछड़ा का प्रयोग है। नाट्यामृतम् में कबूतर का भी प्रयोग देखने को मिलता है। व्याजिम विधि द्वारा अध्येय नाटको में विमान आदि का प्रयोंग हुआ है। राष्ट्रं भवति सर्वस्वम् नाटक में मोटर-साइकिल का प्रयोग हुआ है। वेष्टिम विधि द्वारा नाटकों में भिन्न प्रकार के आसनों का प्रयोग हुआ है- गुरूदक्षिणा नाटक शासन, कुशासन, कमलासन, आसन, इस प्रकार से पुस्त विधियों द्वारा अभिनय को पूर्ण किया है। अध्येय नाटको में आहार्य अभिनय के पुस्त का प्रयोग भलीभाँति ढंग से किया गया है।

2. अलंकार—

शरीर के भिन्न अंगों पर मालाएँ, गहने, वस्त्र आदि को धारण करने का प्रावधान अलंकार कहलाता है-

अलंकारस्तु विज्ञेयो माल्याभरण वाससाम्। नानाविधः समायोगेऽप्यंगोपांगविधिः स्मृतः।

अलंकार मुख्यता तीन प्रकार के बतलाए हैं- माला, आभूषण, परिधान, वेशविन्यास। माला- माला द्वारा शरीर को अलंकृत पाँच प्रकार से किया जाता है, अर्थात् आचार्य भरत मुनि ने पाँच प्रकार की माला बतलाई हैं- वेष्टिम, विवत, संघात्य, ग्रन्थिम, प्रालम्बित। वेष्टिमं विततंचैव सांघात्यं ग्रन्थिमन्तथा। प्रालम्बितं तथा चैव माल्यं पंचविधं स्मृतम्।।

आभूषण परिधान—

आचार्य भरतमुनि ने शरीर पर अलंकार धारण करने के चार प्रकार बतलाए हैं- आवेध्य (यह शरीर को बींध/छेद कर पहनाएँ जाएँ जैसे कुण्डल, नथनी) बन्धनीय (जौ शरीर के उपर बाँध कर पहनाएँ जाए- अंगद, केयूर , करधनी आदि) प्रक्षेप्य (जो उतारने तथा पहनने वाले अलंकार होते हैं जैसे- नूपुर, अंगूठी आदि) आरोप्य (जो शरीर पर आरोपित किए जाएँ हेमसूत्र, मणिमाला आदि)।

चतुर्विधन्तु विज्ञेयं नाट्ये ह्याभरणं बुधैः।
आवेध्यं बन्धनीयंच क्षेप्यमारोप्यमेव च।।

रूपक पंचकम् में कंगन का प्रयोग हुआ है। भर्तृ हरि-निर्वेदनाटकम् में चुड़ामणि का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार से अध्येय नाटकों में आभूषणों की योजना यथा स्थान की गई है।

वेश विन्यास- आचार्य भरत ने अलंकारों के बाद नारी शरीर के वेषादि का भी विवरण दिया है। यह विवरण जाति, देश आदि के अनुसार किया है-

मानुषीणान्तु कर्तव्या नानादेशसमद्भवाः।
वेषाभरणसंयोगान् गदस्तान्निवोधत।।

दायमानम् नाटक में सैन्याधिकारियों ने सैन्याधिकारी का वेशविन्यास धारण किया है। इसी नाटक में बंदूकधारी सैनिकौं का प्रवेश है इसमें बन्दूक को वेशभूषा का प्रयोग किया है। अतः अध्येय नाटकों में परिस्थिति वश पात्रों के लिए वेशविन्यास की योजना की गई है।

3. अंग-रचना—

अंग रचना अभिनय का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। आचार्य भरतमुनि ने वर्णों का वैज्ञानिक वर्णन दिया हैं। अंग रचना के अन्तर्गत अंगों की रचना तथा केश-विन्यास की विभिन्न विधियों का वर्णन किया जाता है। यह अंग रचना नाटक में वर्ण , जाति, वातावरण के अनुरूप होती है। आचार्य भरत ने चार प्रधान वर्णों का उल्लेख किया है- उज्ज्वल, पीत, नील, और रक्त। आचार्य भरत ने प्रधान वर्णों के योग से अनेक उप वर्णों की कल्पना की है। इन उप वर्णों के योग से भी हजारों रंगों की योजना की गई है। राजाओं, देवों, दानवों और अन्य देशवासियों एवं विभिन्न जातियों अनुसार वर्णों की व्यवस्था की गयी है। रसानुरूप शरीर के वर्ण की व्यवस्था है। केश-विन्यास, वेश' विन्यास आदि इसी अभिनय के अन्तर्ग त आता है। भर्तृ हरि-निर्वेदनाटकम् में राजा-रानी, द्वारपाल इत्यादि पात्रों की अंग रचना भूमिक के अनुसार की है। गुरूदक्षिणा नाटक में वरतन्तु और कौत्स आदि गुरू शिष्य ने वनवासियों की भाँति अंगरचना और केशविन्यास को धारण किया है। इस प्रकार से स्पष्ट है कि अंग रचना का प्रयोग अध्येय नाटकों में काल एवं परिस्थितियों के अनुसार किया गया है।

4. सजीव—

यह आहार्य अभिनय का चौथा प्रकार है। इस अभिनय में आचार्य भरत ने अपद , द्विपद और चतुष्पद आदि जीवों के रंगमंच पर प्रस्तुत करने की विधि का वर्णन किया है। कुछ संजीव प्राणियों का रंगमंच आना एक कठिनाई है। इसलिए आचार्य भरत ने कृत्रिम रूप रचना का विधान किया है। इस विधि का प्राचीन समय में रंगमंच पर प्रयोग होता रहा है। आधुनिक युग में पुस्त विधि द्वारा प्रयोग किया जा रहा है। इस प्रकार यह चार अंग आहार्य अभिनय के अन्तर्गत आते हैं, जिनसे नाटक जीवित से प्रतीत होन लगते है।

(4) सात्विक अभिनय—

सात्त्विक अभिनय चौथे अभिनय के रूप में है। सात्विक शब्द 'सत्व' से मिलकर बना है जिसका अर्थ है- 'सतोभाव' अर्थात् होने का भाव। इस प्रकार 'सात्विक भाव' का तात्पर्य उन भावों से है जो नट के अंतःप्रेरणा से सहज और सरल रूप में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होते हैं। आचार्य भरत ने सात्विक भावों की चर्चा सातवें अध्याय में भावों का वर्णन करते हुए अनुभाव के अंतर्गत की है। भाव की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं- ये भाव भावन करने के अनुसार इस संज्ञा से जाने जाते हैं। और ये भाव किसका भावन कराते हैं ? ये शब्दों (वाणी), शरीर के अवयवों तथा सात्विक भावों के द्वारा दृश्य काव्य के अभिप्रायों का भावन कराते हैं। भावित (भाव कराना), वासित (वास कराना) और कृत (किया जाना) भी इसी अर्थ को प्रकट करने वाले हैं। लौकिक व्यवहार में भी ये एक-दूसरे की सुगंध से या रस से भावित हैं, इत्यादि प्रयोग होते देखे जा सकते हैं।

यहाँ 'भावन' का अर्थ है व्यापना अर्थात् होना। इस भावन से ही दर्शकों मे रस का संचार होता है। वाणी के वर्ण नात्मकरूप, आंगिक क्रिया, आत्मा के अंतर्भाव और सात्विक अभिनय के बाह्य क्रिया के द्वारा काव्यार्थ रस को प्राप्त करता है। इस प्रकार सात्विक अभिनय का अस्तित्व होने के भाव से है। इसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि यदि अभिनेता रोने का अभिनय कर रहा है किन्तु रोते समय उसकी आँखों से आँसू नहीं बहते, उसकी वाणी में सिसकने के गुण नहीं तो ऐसे में दर्शक में रोने के भाव नहीं जगेंगे और ऐसा अभिनय सात्विक नहीं होगा। किंतु इसी के विपरीत यदि अभिनेता रोते समय अपने मन से उस भाव को अनुभव कर रोता है तो निश्चय ही उसकी आँख से आँसू बहेंगे, वाणी में सिसकियाँ होंगी और दर्शक की आँखें भी भर आएंगी।

आचार्य भरतमुनि सात्त्विक अभिनय को रखा है। सात्त्विक अभिनय को परिभाषित करते हुए आचार्य भरतमुनि कहते हैं-सत्व का रूप तो अव्यक्त होता है, परन्तु वह रोमांचादि के द्वारा भावों तथा रसों का सहायक होता है। इस सत्व का प्रदर्शन ही सात्त्विक अभिनय के नाम से जाना जाता है।

अव्यक्तंरूपं सावं हि विज्ञेयं भावसंश्रयम्।
यथास्थानरसोपेतं रोमांचस्तादिभिर्गुणैः।।

अतः सात्त्विक अभिनय को सात्त्विक अभिनय इसलिए कहा गया है, क्योंकि यह अभिनय वाचिक एवं आंगिक अभिनय में विद्यमान रहता है, और सभी प्रकार के अभिनय में एकरूपता लाने का कार्य करता है। अभिनय दर्पण के प्रारम्भिक मंगला श्लोक में अभिनय के प्रथम तीन भेदों को नटराज भगवान शंकर के विभिन्न कलारूप बताया गया है, और सात्त्विक अभिनय को साक्षात् शिवस्वरूप कहा है। **'तं नुमः सात्त्विकं शिवम्'।** अभिनयदर्पण में सात्त्विक भाव का लक्षण इस प्रकार दिया है— **सात्त्विकः सात्त्विकैर्भावज्ञेन विभावितः।**

अर्थात् जिस नाट्य में भाव व्यक्ति द्वारा सात्त्विक भावों के माध्यम से नृत्य का प्रदर्श न किया गया है, उसे सात्त्विक अभिनय कहते हैं। सात्त्विक भाव- रस की निष्पत्ति में जिस प्रकार विभाव, अनुभाव, संचारी भाव और स्थायी भाव सहायक है। उसी सात्त्विक भावों की भी अलग स्थिति है। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में सात्त्विक भावों की स्थिति बताते हुए लिखा है— **'विकाराः सत्त्वसम्भूताः सात्त्विका परिकीर्तिताः'।**

अर्थात् सत्व के उद्रेक से उत्पन्न जो मनोविकार हैं, उन्हें सात्त्विक भाव कहा जाता है। आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में कहा है कि मन की एकाग्रता से तत्त्व की निष्पत्ति होती है।— **मनसः समाधौ सत्त्वनिष्पत्तिर्भवति।**

नाट्य में लोक स्वभाव का अनुकरण सत्त्व के द्वारा ही होता है। नट या अभिनेता द्वारा सुख-दुःख का वास्तविक एवं प्रत्यक्ष अनुभव किए बिना नाट्य में शुद्ध सात्त्विक भावों के माध्यम से सुख-दुःखात्मक अभिव्यक्ति करना असम्भव है। अतः अभिनय में सात्त्विक अभिनय में सात्त्विक भावों की पृथक् योजना की गयी है। रस भेद के अनुसार ही अभिनय के स्वरूप में परिवर्त्त न होता है। सात्त्विक भाव विभिन्न अभिनय की स्थिति में विभिन्नता से आश्रय प्राप्त करते है। विभिन्न रसों में सात्त्विक भावों का प्रयोग भी भिन्न-भिन्न होता है। अतः आचार्य भरतमुनि कहा है- विभिन्न अभिनयों में सात्त्विक भावों प्रयोग विविधता से किया जाता है। अतः नाट्य-प्रयोग में विभिन्न रसों के अनुसार कुशल पात्र ही उनका प्रयोग कर सकते हैं—

ये त्वेते सात्त्विक भावा नानाभिनययोजिताः।
रसेष्वेतेषु सर्वेषु ते ज्ञेया नाट्यकोविदैः।।

सात्विक अभिनय का स्वरूप—

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में कहा है कि भावज्ञ व्यक्ति द्वारा नाट्य में सात्त्विक भावों के माध्यम से किया गया अभिनय सात्त्विक कहलाता है-'स्तम्भादि सात्त्विको।' (नाट्यशास्त्र 7/22) सात्त्विक अभिनय पर ही नाट्य प्रतिष्ठित है। 'नाट्यं सत्त्वे प्रतिष्ठितम्।' (नाट्यशास्त्र 22/1) सात्त्विक अभिनय में सात्त्विक भावों का प्रकाशन होता है। सत्त्व मनः प्रभाव से उत्पन्न होता है। सात्त्विक भावों की अभिव्यक्ति मन की एकाग्रता से होती है। नाट्य में अश्रु, रोमांच, स्तम्भ आदि का अभिनय मन की एकाग्रता (सत्त्व) के बिना सम्भव नहीं है। यह मन की एकाग्रता से ही रूपायित हो पाता है। सत्त्व तो मनः उद्भूत अव्यक्त भाव हैं। यह भाव की प्रकर्षता के चिन्ह रूप में स्वेद, अश्रु, रोमांच आदि द्वारा शरीर के माध्यम से रूपायित होते हैं। सत्त्व की अतिरिक्तता से युक्त अभिनय उत्तम, सत्त्व की समता से युक्त अभिनय मध्यम और सत्त्व से रिक्त अभिनय अधम कोटि का होता है-

''सत्त्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते।
समसत्त्वो भवेन्मध्यः सत्त्वहीनोऽधमः स्मृतः।।'' (नाट्यशास्त्र 22/2)

सात्त्विक भाव के प्रकार—

सात्त्विक भावों के आठ प्रकार बताए गए हैं- स्तम्भित होना (स्तम्भ), पसीने-पसीने होना (स्वेदाम्बु), रोमांचित होना (रोमांच), वाणी का लड़खड़ा जाना (स्वरभंग), शरीर में कँपकँपी होना (वेपथु), मुखाकृति का विकृत होना (वैवर्ण्य), अश्रुपात होना (अश्रु), मूर्च्छित होना (प्रलय)।

''स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमांचः स्वरभेदोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः।।''

उक्त स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। (नाट्यशास्त्र 7/94) इन भावों के प्रर्दशन को ही सात्त्विक अभिनय कहा जाता है। इनके अनुसार सात्त्विक भावों का प्रकाशन ही अभिनय की सफलता का परम-लक्षण है। ये सात्त्विक भाव मन से ही उत्पन्न होते हैं इसीलिए इन्हें सात्त्विक भाव कहा जाता है। नाटक में अन्य भावों के अनुरूप रोमांच, कंप, स्वेद, अश्रुपात, स्वरभंग आदि का प्रदर्शन अंग-प्रत्यंग द्वारा किया जाता है। जो मन की एकाग्रता के अभाव में असंभव है। क्योंकि नाट्य लोकधर्मी है उसमें लोकचरित्रों का अनुकरण होता है इसलिए सत्व का प्रयोग नाट्य में विशेषतः अभीष्ट है। नाटक में जो सुख-दुखात्मक भावों का प्रदर्शन किया जाता है वह सत्व पर आधारित होना चाहिए तभी तद्वत प्रतीति संभव है। हर्ष में पुलक, शोक में अश्रु, विस्मय में स्तम्भ आदि भावों के प्रर्दशन से ही नाट्य की रसवत्ता सिद्ध हो पाती है। प्रत्येक मनुष्य का अपना सुख-दुःख होता है। इसी प्रकार पात्र का भी अपना सुख दुख होता है किन्तु देश, काल व परिस्थिति विशेष में नाट्य प्रयोग के अवसर पर एकाग्रता के कारण नट रामादि रूप पात्र के सुख, दुःख को अपना सुख-दुःख मान लेता है। इसी प्रभाव के कारण नट अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख से ऊपर उठकर पात्र के सुख-दुःख को अपना कर अभिनय में तदाकार हो जाता है। तभी प्रेक्षक को लगता है कि यह सुख तथा दुःख रामादि रूप पात्र का है न कि नट का। सात्त्विक भावों के अभिनय का यही मूलमंत्र है।

नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत भी इन्हीं आठ भावों का वर्णन है।

अतः इस प्रकार से कहा सकता है कि अभिनय नाट्य के लिए आवश्यक तत्त्व हैं। अभिनय के माध्यम से नाटक को प्रभावी बनाया जा सकता है। यह अभिनय रूपी तत्त्व प्रेक्षकों को रसास्वादन में सहायक सिद्ध होतेा है। हम कह सकते है कि अभिनय के माध्यम से नाटक पूर्ण अवस्था की और अग्रसर होता है।

बोध प्रश्न-1

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उचित उत्तरों पर सही (√) का चिन्ह लगाइये।

1. आहार्य अभिनय किसे कहते हैं ? (नेपथ्यज विधि/अलंकार विधि)
2. आहार्य अभिनय का सम्बन्ध किससे है? (व्राह्य वस्तुओं के उपयोग/आन्तरिक वस्तुओं के उपयोग)
3. आहार्य अभिनय कितने प्रकार के हैं ? (4/6)
4. सात्त्विक भाग कितने प्रकार के होते हैं? (8/10)
5. सात्त्विक भाग की अभिव्यक्ति के द्वारा क्या होता है? (मन की एकाग्रता/शरीर की एकाग्रता)
6. सत्त्वभाव किससे उत्पन्न होता है? (मन/हृदय)

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. पुस्त विधि के .....रूप हैं। (3/5)
2. भरत ने अंग रचना के दृष्टि से .....रंगों का उल्लेख किया है। (4/7)
3. रंगमंच पर .....उपकरणों को प्रदर्शित नहीं किया जाता है (भारी/हल्का)

1.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने जाना कि अभिनय में प्रयुक्त इन समस्त आंगिक, वाचिक,आहार्य और सात्विक सृष्टि का उपयोग भावाभिव्यक्ति के लिए हुवा है। भरत ने अभिनय

के चारों पक्षों को श्रेष्ठ माना है। वास्तव में आंगिक और वाचिक अभिनय मनोदशाओं के प्रदर्शन का माध्यम है और अभिनेता उनके द्वारा नाटकीय क्रिया व्यापार को अनुभव-गम्य बनाता है। आहार्य अभिनय से नाट्य दृष्टि का अनुमान कर सकते हैं। वे इस विधान के द्वारा नाट्य प्रयोग को अधिकाधिक प्राकृत और कलात्मक रूप देने का प्रयास कर रहें हैं। एक ओर अनुकर्ता पात्र अनुकार्य पात्र की प्रकृति, अवस्था, देश, जाति और वय की अनुरूपता के साथ अवतरित हो प्रेक्षकों के हृदय में अनुभूति को कराते हैं। सात्त्विक अभिनय को सात्त्विक अभिनय इसलिए कहा गया है, क्योंकि यह अभिनय वाचिक एवं आंगिक अभिनय में विद्यमान रहता है, और सभी प्रकार के अभिनय में एकरूपता लाने का कार्य करता है।

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

शब्द	**-**	**अर्थ**
रोमांच	-	पुलकित होना
आवेध्य	-	अंगों को वेधकर पहने जाने
स्वेद	-	पसीना
माधुर्य	-	मधुरता
औदार्य	-	विनय युक्त व्यवहार
स्वरभंग	-	स्वर का टूटना
वेपथु	-	कपकपी
अश्रु	-	आँसू
दोष्य	-	पहने जाने वाले नुपूर आदि
संधिम	-	विभिन्न वस्तुओं को बाँधकर या जोड़कर रंगमंचीय वस्तु की रचना
व्याजिम	-	यांत्रिक साधनों से रंगमंच पर भौतिक पदार्थों का प्रयोग
स्तम्भ वाले	-	रुक जाना
आरोप्य	-	कंण्ठाभरण हेमसूत्रादि
वंधनीय	-	अंगों को बाँधे जाने वाले केयूर अंगादि आदि

1.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. (1) नेपथ्यज विधि (2) बाह्य वस्तुओं का उपयोग (3) 4 (4) 8 (5) मन की एकाग्रता (6) मन
2. (1) 3 (2) 4 (3) भारी

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. दशरूपकम्-धनंजय-संपादक भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1967
2. नाटक के तत्त्व-मनोवैज्ञानिक अध्ययन-कमलिनी मेहता, नागरी प्रचारिणी सभा,वाराणसी, प्रथम संस्करण 1964
3. भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच- सीताराम चतुर्वेदी-हिन्दी समिति उ० प्र०,लखनऊ, प्रथम संस्करण 1964

4. भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक-डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं पृथ्वीनाथ द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1971
5. हिन्दी नाटक का उद्भव एवं विकास-दशरथ ओझा, हिन्दी अनुसंधान परिषद् दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली 1961
6. संस्कृत नाटक समीक्षा-इन्द्रपाल सिंह, साहित्य निकेतन, कानपुर, प्रथम संस्करण,1960
7. अमरकोष-अमर सिंह-निर्ण यसागर प्रेस, बम्बई 1940

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. आंगिक अभिनय के प्रकारों में से किसी एक प्रकार के आंगिक अभिनय का परिचय दीजिए।
2. सात्त्विक भावों को बताते हुए सत्त्व का परिचय दीजिए।
3. सात्त्विक भावों को स्पष्ट कीजिए ?
4. सात्त्विक अभिनय को स्पष्ट कीजिए ?
5. आहार्य अभिनय को स्पष्ट कीजिए ?
6. वाचिक अभिनय को स्पष्ट कीजिए ?

इकाई 2 शास्त्रीय एवं लोकनृत्य का स्वरूप

इकाई की संरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 नृत्यकला का उद्भव एवं विकास

2.4 भारत के प्रमुख शास्त्रीय नृत्य

- 2.4.1 तांडव
- 2.4.2 लास्य
- 2.4.3 भरतनाट्यम्
- 2.4.4 कथकलि
- 2.4.5 मणिपुरी नृत्य
- 2.4.6 कथक नृत्य
- 2.4.7 ओडिसी
- 2.4.8 कुचीपुड़ी
- 2.4.9 मोहनी अट्टम

2.5 भारत के प्रमुख लोकनृत्य

- 2.5.1 गुजरात के लोकनृत्य
- 2.5.2 उत्तर प्रदेश केलोकनृत्य
- 2.5.3 महाराष्ट्र केलोकनृत्य
- 2.5.4 पंजाब के लोकनृत्य
- 2.5.5 उत्तराखण्ड के लोक नृत्य
- 2.5.6 नागालैंड का बैम्बू या बांस लोकनृत्य
- 2.5.7 छतीसगढ़ के लोकनृत्य
- 2.5.8राजस्थान के लोकनृत्य
- 2.5.9 बंगाल के लोकनृत्य
- 2.5.10 जम्मू-कश्मीर का राउफ लोकनृत्य
- 2.5.11 कर्नाटक का अक्षय गान लोकनृत्य
- 2.5.12 पर्वोत्तर असम का बिहू लोकनृत्य
- 2.5.13 मणिपुर के लोकनृत्य
- 2.5.14 केरल के लोकनृत्य

2.5.15 बिहार के लोकनृत्य
2.5.16 तमिलनाडु के लोकनृत्य
2.5.17 आंध्रप्रदेश का गड़बा लोकनृत्य
2.6 सारांश
2.7 पारिभाषिक शब्दावली
2.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
2.10 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई शास्त्रीय एवं लोकनृत्य का स्वरूप से सम्बन्धित है । नृत्य अंगों और भावों की सौन्दर्यमयी भाषा है। भावों की उत्पत्ति मानव जाति के जन्म के साथ ही हुई है। भारत में नृत्य की उत्पत्ति दैविक मानी गई है । नटराज (भगवान शिव) को 108 प्रकार के नृत्यों का सर्जक माना जाता है । प्रागैतिहासिक काल से ही नृत्य कला अस्तित्व में थी । ऋग्वेद में नृत्य, नर्तक, नर्तकियों आदि का उल्लेख मिलता है । रामायण और महाभारत में भी नृत्य कला का उल्लेख है। भारतीय नृत्यकला का विभाजन दो श्रेणियों में किया गया है । प्रथम श्रेणी के अंतर्गत शास्त्रीय नृत्यों को रखा गया है तथा द्वितीय श्रेणी में लोकनृत्य एवं जनजातीय नृत्यों को रखा गया है ।शास्त्रीय नृत्य की शैलियाँ शास्त्र सम्मत एवं शास्त्रानुशासित होती हैं ।लोकनृत्यों की विशेषता यह है कि इनमे स्वाभाविकता अत्यधिक होती है । कृतिमता कम होती है । लोक एवं जनजातीय नृत्यों में देश के विभिन्न भागों की सांस्कृतिक परंपराओं एवं परिधानों की छाप देखने को मिलती है । हर प्रदेश के नृत्य के नियम अलग होते हैं । इन नृत्यों में कोई अनुशासन नहीं होता है । यही कारण है कि यह शास्त्रीय नृत्यों से भिन्न होते हैं ।शास्त्रीय नृत्य एवं लोकनृत्य का आप प्रस्तुत इकाई में भली-भाँति अध्ययन करेंगे ।

2.2 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- नृत्यकला के उद्भव एवं विकास के बारे में जान सकेंगे ।
- भारत के प्रमुख शास्त्रीय नृत्यों के बारे में जान सकेंगे ।
- भारत केप्रसिद्ध लोकनृत्यों के बारे में जान सकेंगे ।
- शास्त्रीय एवं लोकनृत्यों का वर्णन कर सकेंगे ।
- शास्त्रीय एवं लोकनृत्यों के प्रति रुचि उत्पन्न होगी ।

2.3 नृत्यकला का उद्भव एवं विकास

भारतीय परम्परागत विचारधारा के अनुसार समस्त ज्ञान-विज्ञान एवं कलाओं का स्रोत वेद है । ऋग्वेद में नृत्य, नर्तक, नर्तकियों आदि का उल्लेख मिलता है ।रामायण और महाभारत में भी नृत्य कला का उल्लेख है ।नृत्य भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है, जो आज भी अपनी अमिटछाप बनाये हुए है। क्योकिं नृत्य अंगों और भावों की सौन्दर्यमयी भाषा है। भावों की उत्पत्ति मानव जाति के जन्म के साथ ही हुई है। विल्हेम वुड महोदय का मत है कि आरम्भ में नृत्य ही मानव की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति का माध्यम था। मानवीय उद्वेग तथा भावनायें हाथों के संचालन मुख की विभिन्न आकृतियों कलाइयों पैरो तथा अवयवों के इधर-उधर हिलाने से अपनी अभिव्यक्ति कर पाते है। नृत्य की परम्परा प्रागैतिहासिक काल से रही है। जनजातीय जीवन में नृत्यों का स्थान आज भी इतना ही महत्वपूर्ण है कि प्रायः पूरे वर्ष नृत्यों का कोई न कोई आयोजन होता है। प्रारम्भ में कंठ से विविध प्रकार की ध्वनियां निकालकर तथा लकड़ी, बर्तन, पत्थर जैसे उपलब्ध साधनों को बजाकर नृत्य किये जाते थे। कालान्तर में क्रमशः बर्तन बजाकर व अन्य विकसित हो रहे लोकवाद्यों को बजाकर ये नृत्य किये जाने लगें भाषा के विकास के साथ-साथ धीरे-धीरे इनके साथ गीत भी बनते गये।भारतीय नृत्यकला का विभाजन दो श्रेणियों में

किया गया है । प्रथम श्रेणी के अंतर्गत शास्त्रीय नृत्यों को रखा गया है तथा द्वितीय श्रेणी में लोकनृत्य एवं जनजातीय नृत्यों को रखा गया है । सर्वविदित सत्य है कि कलाओं का विकास भारत में तथा अन्य देशों में धर्म के साथ-साथ हुआ है । एक धार्मिक कथा के अनुसार ब्रह्मा जी ने चारों वेदों से सार अंश को लेकर पंचम वेद नाट्य वेद की रचना की ।

गीतं वाद्यं च नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते ।
नृत्यं वाद्यानुगं प्रोक्त वाद्य गीतानुवर्त्तियः।।

अर्थात- गायन, वादन तथा नृत्य इन तीन कलाओं के मेल को संगीत कहा जाता है । इनमें गायन का स्थान ऊँचा माना गया है, क्योंकि नृत्य, वादन के अधीन है तथा वादन, गायन के अधीन है ।नाट्य और संगीत का आदि और प्रमाणिक ग्रंथ आचार्य भरतमुनि का नाट्यशास्त्र है । यह संस्कृत की सूत्र शैली में लिखा हुआ बृहद ग्रंथ है । इस ग्रंथ में नृत्य सम्बन्धी अपरिमित ज्ञान का संचय है । आचार्य भरतमुनि के पश्चात अधिकतर ग्रंथकारों ने जब भी नाट्य एवं संगीत की चर्चा की है तो आचार्य भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' को ही प्रमाण माना है और उन्हें उद्धरित किया है ।कहा जाता है कि ब्रह्मा जी ने पंचम वेद 'नाट्य वेद' की शिक्षा उन्होंने सर्वप्रथम भरत मुनि को दी । इसमें भगवान शंकर ने तांडव और माता पार्वती ने लास्य नृत्य जोड़ा । प्राचीनकाल में रंगशालाओं में देवता और ऋषियों से सम्बन्धित कथानकों पर नाटक खेले जाते थे । महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण और व्यास जी कृत महाभारत आदि अनेक प्राचीन ग्रंथों में इनका वर्णन मिलता है । प्राचीन समय में देवताओं के उपासना के रूप में, उसके सम्बन्ध की प्रसिद्ध तथा लोक कल्याणकारी कथाओं का नाट्य द्वारा प्रदर्शन रसिक जनों के सम्मुख किया जाता था । इनमें अधिकतर रामायण और महाभारत की कथानकों को ही नृत्य मुद्रा एवं अभिनय द्वारा प्रदर्शन किया जाता था । हिन्दू नृत्य एवं अभिनय का उद्देश्य भावुक रसिक दर्शकों के हृदय में रस द्वारा लोकोत्तर आनन्द की प्राप्तिऔर पुरुषार्थ चतुष्टय धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति कराना था ।भारतीय संस्कृति में वीर और भक्तिभाव का प्राबल्य था । वीर पूजा से ही भक्ति-भाव की उत्पत्ति होती है । परंतु आज हमारा जातीय मनोविज्ञान बदल गया है । आज इसमें श्रंगार भावना का अधिक महत्व है । संकुचित विचारक के लिए यह जातीय पतन का द्योतक हो सकता है । किन्तु इसको धर्म, कला और समाज का स्वाभाविक विकास ही कहेंगे । देवताओं द्वारा प्रचारित दैविक नृत्य का लौकिक रूप आज हमारे सम्मुख है । नृत्य भी दो प्रकार के होते हैं एक शास्त्रीय नृत्य और दूसरा लोक नृत्य । शास्त्रीय नृत्य अर्थात पूर्व समय में लिखे ग्रंथों पर आधारित नृत्य । शास्त्रीय नृत्यों में कतिपय नियमों की अनिवार्यता होती है । उन नियमों का नर्तक या नर्तकी को पालन करना होता है । जैसे दक्षिण भारत में भरत नाट्यम्, उत्तर भारत में कथक या नटवरी नृत्य । पूर्व में मणिपुरी नृत्य शास्त्रीय नृत्य में आते हैं । दक्षिण के कथकलि की भी गिनती शस्त्रीय नृत्य में की जाती है । क्योंकि यह नाटक के अधिक समीप है । उत्तर भारत में प्रचलित कथक नृत्य की कथावस्तु भगवान श्रीकृष्ण के जीवन लीला से सम्बन्धित है, परन्तु उनका प्रस्तुतिकरण लौकिक नायक के रूप में होता है । कथक नृत्य में कृष्णोत्तर कथानकों का भी समावेश हुआ है । इस समय कथक नृत्य के दो मुख्य घराने हैं । एक जयपुर घराना और दूसरा लखनऊ घराना । शास्त्रीय नृत्य के अतरिक्त एक अन्य प्रकार का भी नृत्य है जिसे लोक नृत्य कहा जाता है । लोक नृत्य की हजारों शैलियाँ हैं । हर प्रदेश एवं हर जाति के अलग-अलग लोक नृत्य हैं । लोक नृत्य में कोई शिक्षण पद्धति नहीं होती । किन्तु इनमे परम्पराओं के प्रति आग्रह जरूर है । कतिपय विद्वानों का

मत है कि लोक नृत्यों से ही शास्त्रीय नृत्यों का विकास हुआ है। आजकल आधुनिक नृत्य के नाम से भी एक नई शैली मानी जाती है, जिनका प्रदर्शन चलचित्रों में होता है।

2.4 भारत के प्रमुख शास्त्रीय नृत्य

शास्त्रीय नृत्य की शैलियाँ शास्त्र सम्मत एवं शास्त्रानुशासित होती हैं। शास्त्रीय नृत्य, एक प्रदर्शन कला है जिसमें संगीत और शाब्दिक रचनाओं के साथ-साथ शारीरिक क्रियाकलापों और संकेतों का प्रयोग किया जाता है। शास्त्रीय नृत्य में प्रेम, भक्ति, समर्पण जैसी भावनाओं को अभिव्यक्त किया जाता है।

2.4.1 तांडव

भगवान शंकर ने त्रिपुरासुर राक्षस का वध करने हेतु वीर एवं रौद्र रस प्रधान जो नृत्य किया था उसे ही **'तांडव'** कहते हैं। इस नृत्य को शिवताण्डव नाम से भी जाना जाता है। यह वीर रस प्रधान नृत्य है। यह नृत्य पुरुष नर्तकों के लिए उपयुक्त है। अंग चापल्य, वीर, क्रोध तथा रौद्र रस की भावनायें दिखाने के लिए यह उपयुक्त नृत्य शैली है। तांडव विश्व की पंचक्रियाओं सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और आविर्भाव के अतरिक्त आसुरी भावना पर दैवी भावना की विजय और उससे प्राप्त आनन्द का द्योतक है।तांडव नृत्य के समय रौद्र रस का स्रोत बहने लगता है। क्रोध अग्नि भभकने लगती है, पृथ्वी काँपती सी लगने लगती है। ऐसा प्रतीत होता हो मानो विश्व में संहार क्रिया हो रही है। उस विराट शक्ति, जिससे इस संसार का जन्म, जीवन और नाश होता है, उस शक्ति का अनुभव दर्शकों को होता है। तांडव नृत्य के कई प्रकार हैं। संहार तांडव, त्रिपुर तांडव, कालिका तांडव आदि। नृत्य के साथ मृदंग (पखावज) या तबले से संगत की जाती है और पार्श्वभूमि में भैरव जैसें रगों में रचित गायन-वादन भी होता है।

2.4.2 लास्य

भगवान शंकर जब त्रिपुरासुर का वध कर चुके थे। तब आनन्द से अभिभूत हो माता पार्वती ने शृंगार रस प्रधान जो नृत्य किया उसे ही **'लास्य'** नृत्य की संज्ञा मिली। ग्रन्थों मे ऐसा वर्णन है कि मातापार्वती ने बाणासुर की कन्या उषा को लास्य नृत्य की शिक्षा दी। ऊषा ने द्वारिका में उसका प्रचार किया और द्वारिका से ही यह नृत्य अन्य स्थानों में प्रचलित हुआ। लास्य को ही पूर्ण-सर्वांग रूप से प्रस्तुत करने के लिए भगवान श्रीकृष्ण ने 'रास मण्डल' को प्रारम्भ किया। दक्षिण में रास को 'हल्लीसक' कहते हैं। शृंगार रस की अभिव्यक्ति के लिए मुख्य रूप से शरीर के ऊपर के भाग का अधिक उपयोग होता है। मस्तक तथा नेत्रों के इंगितों से शृंगार रस की अभिव्यंजना होती है। लास्य नृत्य के अनेक प्रकार हैं। बिषम, विकट और लघु। वर्तमान में प्रचलित कथक, भरतनाट्यम्, मणिपुरी आदि नृत्य इन सब का जन्म 'लास्य' से ही हुआ ऐसा माना जाता है। लास्य नृत्य मानव की कोमल भावनाओं को उभारता है। लास्य नृत्य को स्त्री एवं पुरुष दोनों ही कर सकते हैं।

2.4.3 भरतनाट्यम्

भरत नाट्यम् की प्रथम प्रतिपादक दक्षिण भारत की देवदासियाँथी। उन्ही की बदौलत यह नृत्य आज हमें मूल रूप से प्राप्त हो सका है।अब तो इस नृत्य का दक्षिण और उत्तर भारत में भी खूब प्रचार हो गया है। इस नृत्य में मुद्राओं का बाहुल्य है। भरत नाट्यम् में समान रूप से हाथों, पैरों, मुख और शरीर को हिलाने के 64 नियम हैं। जिसका अनुसरण नृत्य अक्षर (बोल) का उच्चारण

करते हुए किया जाता है। यह नृत्य अकेले या तीन-चार के समूह में प्रस्तुत किया जाता है। प्रारम्भ प्रार्थना की मुद्रा से होता है। नर्तकी पुष्पांजलि अर्पित करने की मुद्रा में खड़ी होती है। इस मुद्रा को 'अलारिपु' कहते हैं। इसमें स्वयं को ईश्वर को अर्पित करने का गूढ भाव होता है। इस नृत्य का दूसरा चरण 'यतीस्वरम' कहलाता है। इसमें गायक आलाप करता है और नर्तकी नृत्य करती है। नृत्य का लय कुछ तेज हो जाती है, गीत का अर्थपूर्ण भाग अभी प्रारम्भ नहीं हुआ होता। 'शब्दम' जो नृत्य का तीसरा चरण है इसमें वास्तविक गीत प्रारम्भ होता है और नर्तकी इंगितों द्वारा गीत के भावों को अभिव्यक्त करती है। चौथा चरण 'वर्णम्' सबसे महत्वपूर्ण है। इसमें साधारणतः नायिका के अपने प्रियतम की प्रतिज्ञा के भाव को दिखाया जाता है। नृत्य का पाँचवाँ चरण 'पदम्' होता है। इसमें हाव की प्रधानता रहती है। छठा चरण 'तिल्लाना' है इसमें संगीत माधुर्य अपने चरण सीमा पर पहुँच जाता है। सातवाँ चरण है 'श्लोकम्' जिसमें संस्कृत के श्लोकों द्वारा भगवान श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम दर्शाया जाता है।

2.4.4 कथकलि

कथकलि केरल और कर्नाटक का एक प्रसिद्ध शास्त्रीय नृत्य है ।यह एक अति परिष्कृत, वैज्ञानिक एवं विस्तार से परिभाषित नृत्य है। यह सामान्यतः खुले स्थान पर किया जाता है। वस्तुतः नृत्य, संगीत, कथा एवं अभिनय की संयुक्त कला को ही कथकलि की संज्ञा से जाना जाता है। कथकलि मण्डली में 20 से 22 व्यक्ति रहते हैं। कुछ नर्तक, कुछ गायक-वादक और कुछ केशविन्यास सजाने वाले। कथकलि में रामायण और महाभारत की कथाएँ दिखाई जाती हैं। इस नृत्य में अभिनेता स्वयं कुछ नहीं बोलता अपितु पार्श्वभूमि में काव्य का संगीतमय उच्चारण उसके भावों को स्पष्ट करते हैं। संगत के लिए मृदंग, रुद्र वीणा और वंशी होती है। अभिनेता पैरों में घुँघरू बांधता है। स्त्री पात्रों का प्रयोग अधिकतर पुरुष पात्र करते हैं। कथकलि में नव रसों का उपयोग होता है। इस नृत्य शैली में भारतीय नृत्य की बहुत सी विशेषताएं हैं। जैसे हस्त, मुद्रा, अंगहार, कुंडल आदि परन्तु इसमें ललित कला का सौन्दर्य कम ही रह गया है। कथकलि नृत्य की पोशाक जितनी अद्भुत होती है उतनी ही दिलचस्प भी होती है। नर्तक लंबा चोंगा पहनता है जो चौड़े घेर और फैली हुई बाहों का होता है। गर्दन के चारों ओर एक वस्त्र या चादर लपेट लेते हैं। नर्तक अपने चेहरे को कई रंगों के पेंट से सजाते हैं। कवच, कुंडल, मुकुट, हस्तत्राण और फूल मालाएँ भी धारण करते हैं।

2.4.5 मणिपुरी नृत्य

मणिपुरी नृत्य मणिपुर का एक धार्मिक एवं शास्त्रीय नृत्य है। मणिपुर (असम) प्रदेश में लोकप्रिय होने के कारण ही इसे मणिपुरी नृत्य कहते हैं ।यह नृत्य भगवान के आशीर्वाद को पाने के लिए किया जाता है। इस नृत्य को वास्तव में 'लाइहरोबा' तथा रास नृत्य भी कहते हैं। इस नृत्य का प्रचार अब तो बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश में भी खूब हुआ है ।यह नृत्य कोमल भावनाओं का द्योतक है। इसका जन्म कब, कहाँ और कैसे हुआ, यह अज्ञात है। अनेक दन्त कथाओं के अनुसार यह माना जाता है कि यह नृत्यभगवान शिव से उत्तपन हुआ। मणिपुरी नृत्य भी एक प्रकार की रास लीला ही है। नर्तकियाँ कृष्ण, राधा और गोपियों का रूप बनाकर मंच पर आते हैं और अंगों के मंद संचालन द्वारा रस सृष्टि करते हैं। मणिपुर में रास लीलाओं के चार प्रकार प्रचलित हैं – बसन्त रास, कुँज रास, महारास और नित्य रास। किसी में राधा के आत्म समर्पण का भाव है, किसी में श्रीकृष्ण राधा के शृंगार का भाव है और किसी में श्रीकृष्ण वियोग का।

मणिपुरी नृत्य में पुरुष कामदार धोती, उत्तरीय और सिर पर साफा और उसमें मयूर पंख लगाकर कृष्ण का रूप बनाते हैं। स्त्री नर्तकी का वेश कलापूर्ण होता है। नीचे लहँगा पहनती हैं जिनको बांस की गोल खपच्चियों से खूब गोलाकार रूप से फुला दिया जाता है। ऊपर चोली पहनती हैं और सर के ऊपर से उत्तरीय ऐसा डालती हैं कि मुख के भाव के प्रदर्शन में कोई कठिनाई न आए। रूपसज्जा में फूलों की मालाओं का बहुत उपयोग होता है। मणिपुरी नृत्य दक्षिण भारत के भरत नाट्यम् के समान ही मंदिरों और देव स्थानों से सम्बद्ध रहा है। मणिपुर प्रदेश के प्रत्येक ग्राम में भगवान श्रीकृष्ण का एक मंदिर अवश्य होता है। विशेष धार्मिक और सामाजिक अवसरों पर मंदिर के प्रांगण में नृत्य का आयोजन किया जाता है। मुख्य नृत्य दो ही हैं 'लाई हरोबा और 'रास'। दोनों ही सामूहिक नृत्य हैं। ये नृत्य में अनेक वाद्य और गायन की ताल पर किए जाते है। नृत्य के साथ ढोल, बाँसुरियाँ। खोल, घण्टे, मजीरे तथा पीना नमक वाद्य बजाये जाते हैं।

2.4.6 कथक नृत्य

कथक शब्द की उत्पत्ति 'कथा' से हुई है। अर्थात इस नृत्य में कथा होती है। कथक नृत्य उत्तर भारत के उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, मध्य प्रदेश, राजस्थान, पंजाब आदि राज्यों का शास्त्रीय नृत्य है।कथक नृत्य का जन्म स्वामि हरिदास जी से माना जाता है। स्वामि हरीदास जी का जन्म पंजाब के मुल्तान जिलान्तर्गत श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में हुआ था। वे संगीत के बड़े प्रवीण पुरुष थे। स्वामि जी के अनेक शिष्य थे जिनमे तानसेन, बैजनाथ आदि थे। स्वामि जी ने जिन शिष्यों को गायन की शिक्षा दी वे गायक बने, जिनको वादन सिखाया वे वादक बने, जिन्हे उन्होंने नृत्य कला की शिक्षा दी वे कथक बने। समय के प्रवाह के साथ-साथकथक नृत्य कला का विकास होता गया। इस नृत्य का पूर्ण विकास लखनऊ के नवाबों के दरबारों में ही हुआ। वहीं कालिका प्रसाद, विंदादीन जैसे प्रख्यात आचार्य हुए। इस नृत्य का राज दरबारों से सम्बद्ध रहा है। इस नृत्य को तबला, मृदंग के तोड़ा, परण, गतों आदि पर किया जाता है। पैर की तैय्यारी तथा पैरों की गति से तबला मृदंग के बोलों को निकालना पड़ता है। इस नृत्य में परम्परागत कृष्ण आख्यान का ही चित्रण किया जाता है। बिरजू महाराज,गोपी कृष्ण, सितारा देवी, बिंदादीन महाराज, कालकादीन, अच्छन महाराज, शोभना नारायण तथा उमा शर्मा कथक नृत्य के महान कलाकारके रूप में विख्यात हैं।

2.4.7 ओडिसी

ओडिसी नृत्य उड़ीसा का शास्त्रीय नृत्य है। ओडिसी नृत्य इस नियम पर आधारित है कि मनुष्य का शरीर मोड़ने के लिए है। इस नृत्य में नृत्यांगना का मुख्य उद्देश्य मूर्ति समान मुद्राओं पर होता है। इस नृत्य के लिए नृत्यांगनाओं की वेश भूषा कुछ इस प्रकार से होती है – चमकीली साड़ी तथा कसा हुआ ब्लाउज पहना जाता है। नृत्य का साथ देने वाले वाद्य यंत्रों में नगाड़े, मंजीरा, बाँसुरी और एक वीणा है। इसके प्रारूप में भूमि प्राण, बाटू, पल्लवी और सरल नृत्य जैसे मोक्षा में समाप्त होने वाला अष्टपदी शामिल है। इस नृत्य के प्रसिद्ध कलाकार हैं –माधवी, मुद्गल, इंद्राणी रहमान, प्रियंवदा मोहंती, कालीचरण एवं काली चन्द आदि।

2.4.8 कुचीपुड़ी

कुचीपुड़ी आंध्र प्रदेश का शास्त्रीय नृत्य है। इसका उद्भव कुचलापुरम् गाँव के नाम से हुआ है। यह नृत्य भरतनाट्यम से मिलता जुलता है। परन्तु इस नृत्य की गति बहुत तेज और शैली मुक्त है, इस नृत्य की प्रमुख विशेषता यह है कि पीतल की तश्तरी (थाल) की धार पर किनारे पैर रखकर नृत्य करना। इस नृत्य के प्रसिद्ध कलाकार हैं- राजा रेड्डी, बेम्पति सत्यनारायण, यामिनी कृष्णामूर्ति, स्वप्न सुंदरी एवं राधा रेड्डी आदि।

2.4.9 मोहनी अट्टम

मोहनी अट्टम केरल का एक शास्त्रीय नृत्य है। यह नृत्य भरतनाट्यम् के समान है। ओडिसी नृत्य की भाँति इसकी गति भी सुंदर है तथा इस नृत्य में वस्त्र सादे एवं आकर्षक होते हैं। यह एकल प्रदर्शनीय नृत्य है। मान्यताओं के अनुसार भगवान विष्णु ने इस नृत्य को उत्पन्न किया। इस नृत्य की विशेषता यह है कि इसका एकल प्रदर्शन बलिकाएं ही करती हैं। इस नृत्य के ख्याति अर्जित करने वाले कलाकार हैं –रागिनी देवी, तमरा नीडुगाड़ी, के. कल्याणी अम्मा, भारती शिवाजी, श्री देवी, कनक रैले तथा सेशन मजूमदार आदि। हेमा मालिनी ने भी इस नृत्य कला मे सुकीर्ति अर्जित की है।

2.5 भारत के प्रमुख लोकनृत्य

हमारे देश में शास्त्रीय नृत्यों के अतरिक्त हर प्रदेश के लोकनृत्य भी प्रचलित हैं। लोकनृत्य अपने सौन्दर्य और माधुर्य के कारण समाज में अधिक लोक प्रिय हुआ है। परन्तु कहीं इसका अभाव होने के कारण लोगों की रुचि इस नृत्य में कम देखी गई है। लोकनृत्यों की विशेषता यह है कि इनमे स्वाभाविकता अत्यधिक होती है। कृतिमता कम होती है। लोक एवं जनजातीय नृत्यों में देश के विभिन्न भागों की सांस्कृतिक परंपराओं एवं परिधानों की छाप देखने को मिलती है। हर प्रदेश के नृत्य के नियम अलग होते हैं। इन नृत्यों में कोई अनुशासन नहीं होता है। यही कारण है कि यह शास्त्रीय नृत्यों से भिन्न होते हैं। यह नृत्य अनाज काटने के समय, उत्सवों, विवाह में, देवताओं को प्रसन्न करने के लिए, वर्षा के लिए की जाने वाली प्रार्थनाओं के समय तथा मानो-विनोद के लिए कई स्थानीय नृत्य किए जाते हैं।

2.5.1 गुजरात के लोकनृत्य

गरबा- गुजरात का अत्यधिक लोकप्रिय नृत्य है। इस नृत्य में पुरुष भाग नहीं लेते। यह केवल स्त्रियों का एक सामूहिक नृत्य है। इस नृत्य का आयोजन मुख्य रूप से नवरात्रों में किया जाता है। इस नृत्य का मुख्य उद्देश्य दुर्गा माता की अराधना करना है। नृत्य से पहले बीच में एक स्त्री खड़ी हो जाती है या तीन-चार घड़े ही एक के ऊपर एक रख दिए जाते हैं। यह नृत्य बहुत आकर्षक होता है और अधिकतर कहरबा ताल में नाचा जाता है। बीच में रखे घड़े या स्त्री के चारों ओर अनेक स्त्रियाँ मंडलाकार खड़ी होकर नृत्य करती हैं। इस नृत्य मे मुख्य पोशाक साड़ी और चोली होती है जिस पर तरह-तरह के प्रिन्ट होते हैं। पैर में घुँघरू रहते हैं। रंग-विरंगी वेश-भूषा से इस नृत्य की शोभा अत्यधिक बढ़ जाती है।

पणिहारी- यह गुजरात का प्रसिद्ध लोकनृत्य है। इस नृत्य को 'गंगार लोटी गरबा' के नाम से भी जाना जाता हैं। इस नृत्य में स्त्रियाँ सिर पर बड़ा गागर व उसके ऊपर छोटी सी लोटी रखकर वृत्ताकार घूमते हुए नृत्य करती हैं। इस नृत्य का मुख्य आकर्षक है शारीरिक संतुलन बनाए रखना।

डांडिया रास नृत्य- यह गुजरात का लोकप्रिय नृत्य है। इस नृत्य में स्त्रियाँ अपने हाथ में छोटे-छोटे रंग-बिरंगे डांडिया लिए गोलाकार में खड़ी होकर गीत गाती हैं और अलग-अलग घेरा बनाकर परस्पर डंडे बजाती हुए नृत्य करती है। इस नृत्य में गायन, लय, गीत आदि तीव्र गति से संचालित होते हैं।

गरबी नृत्य- यह गुजरात में किया जाने वाला पुरुषों का एक प्रमुख लोकनृत्य है। यह नृत्य गरबा नृत्य के समान ही होता है लेकिन इसके पद संचालन अलग होते हैं।

2.5.2 उत्तर प्रदेश केलोकनृत्य

रास- उत्तर प्रदेश के मथुरा, वृंदावन, गोकुल काएक अत्यंत लोकप्रिय सामूहिक लोकनृत्य है। वर्षा ऋतु में यह नृत्य ग्रामों में अधिक देखने को मिलता है। रास नृत्य का प्रचार अन्य प्रदेशों में भी है।इस नृत्य में बंसी, ढोल, मजीरा, करताल, शहनाई, एकतारा आदि का वादन होता है। इन वाद्ययंत्रों में कोई लोक धुन छेड़ दी जाती है। पश्चात व्रज के चार गोप और चार गोपियाँ परम्परागत वेशभूषा एवं रूप सज्जा में उपस्थित होकर संगीत की धुन मे कुछ देर तक नृत्य करती हैं। इसके बाद कई युगल नाचते-नाचते आते हैं और एक वृत्त सा बना लेते हैं। अन्त में श्रीकृष्ण और राधिका आते हैं। श्रीकृष्ण दूर से ही बंसी की तान छेड़ते हुए आते है। तब गोप-गोपियाँ मुग्धता का भाव दर्शाती हैं। श्रीकृष्ण और राधा वृत्त को तोड़कर बीच में आते हैं और श्रीकृष्ण त्रिभंगी मुद्रा में बंसी लिए खड़े हो जाते हैं, और राधा उनके बगल में। कुछ समय बाद नृत्य धुन बदलती है और श्रीकृष्ण और ग्वालबाल एक साथ नृत्य करते हैं। नृत्य लय तेज होती जाती है। आनन्द की चरमावस्था में गोप-गोपियाँ मूर्च्छित से हो जाते हैं और भगवान श्रीकृष्ण अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। पूर्णिमा की रातों में इस रास नृत्य से एक अपूर्व, अलौकिक आनन्द दर्शकों को आता है।

होली नृत्य- इस नृत्य को होली के शुभ अवसर पर किया जाता है। इस नृत्य में राधा-कृष्ण की होली अधिक प्रसिद्ध है। अबीर-गुलाब उड़ाते हुए इस नृत्य को किया जाता है। लोग इस नृत्य का भरपूर आनन्द उठाते हैं।

चट्टा नृत्य-यह उत्तर प्रदेश का प्रसिद्ध नृत्य है। इस नृत्य में स्त्री और पुरुष दोनों भाग लेते हैं। इस नृत्य की गति प्रारम्भ में धीमी होती है। लेकिन कुछ समय पश्चात तीव्र हो जाती है। इस नृत्य का आयोजन मेलों और तमाशों के अंतर्गत किया जाता है। दर्शकों को इस नृत्य को देखकर आनन्द की अनुभूति होती है।

थाली नृत्य-यह उत्तरप्रदेश का प्रसिद्ध लोकनृत्य है। इस लोकनृत्य में संतुलन का विशेष महत्व रहता है। थाली पर खड़े होकर पैर का भार एक साथ रखना तथा शरीर को संभालना एवं घूम-घूमकर नृत्य करना इन नृत्य की प्रमुख विशेषता है।

कजरी नृत्य-यह उत्तर प्रदेश का लोकप्रिय नृत्य है। यह एक कृषक नृत्य है जो अच्छी फसल के लिए प्रकृति की आराधना हेतु किया जाता है।

नौटंकी नृत्य-यह उत्तर प्रदेश का एक प्रसिद्ध लोकनृत्य है। यह सामाजिक विषयों पर आधारित एक परम्परागत नाट्य नृत्य है।

2.5.3 महाराष्ट्र के लोकनृत्य

कोली- महाराष्ट्र के पश्चिमी घाट पर सागर के किनारे मछुआ लोगों को कहते हैं। यह नृत्य उनका लोकनृत्य जिसे वे नववर्ष के दिन किया करते हैं।इस नृत्य में सजीवता, माधुर्य और हास्य

तथा कला का समन्वय हुआ है। नववर्ष के दिन ग्राम के युवक-युवतियाँ अपनी परम्परागत रंगीन पोशाक धारण कर एकत्रित होते हैं। पुरुष एवं स्त्रियाँ अलग-अलग पंक्तियों में खड़े होते हैं। पुरुष के हाथों में एक पतवार होता है जिससे वह नौका चलाने का भाव दर्शाते हैं और स्त्रियाँ जाल डालने और मच्छलियाँ पकड़ने का भाव दर्शाती हैं। कुछ देर के बाद स्त्रियाँ पुरुष जोड़ियाँ बना कर ताल वाद्य की लय पर नृत्य करते हैं।

गौरिचा-यह महाराष्ट्र के कृषकों का एक धार्मिक नृत्य है। यह एक सामूहिक लोकनृत्य है। इस नृत्य में गौरी के प्रति श्रद्धा प्रकट की जाती है। इस लोकनृत्य के अंतर्गत मंडलियाँ घर-घर घूमकर नृत्य सम्पन्न करती हैं।

गोफ-यह महाराष्ट्र का लोकप्रिय एवं कलात्मक लोकनृत्य है।इस नृत्य में हाथ-पैरों के संचालन पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इस लोकनृत्य में स्त्रियाँ एवं लड़कियां ही भाग लेती हैं। इया नृत्य में एक कुंदे में रंग-बिरंगी रस्सियाँ बांधी जाती हैं तथा नीचे एक हाथ में रस्सी और एक हाथ में 1.5 फुट का डंडा होता है। जिसको गोफ बांधने वाले लय से घुमते हुए एक विशिष्ट शैली की चोटीनुमा गोफ तैयार करते हैं।

टिपरी-यह महाराष्ट्र का प्रसिद्ध लोकनृत्य है। इस नृत्य में टिपरी के रूप में डंडे का प्रयोग किया जाता है। यह एक सामूहिक नृत्य है।

2.5.4 पंजाब के लोकनृत्य

भंगड़ा- यह पंजाब का अंत्यन्त प्रसिद्ध लोकप्रिय नृत्य है। चल चित्रों में भांगड़ा नृत्य का खूब प्रदर्शन हुआ है। यही कारण है कि यह नृत्य खूब लोकप्रिय भी हुआ है। यह नृत्य ढोल, ढोलक, नगाड़ा और चिमटे के ताल पर होता है। यह उल्लास और वीर भावना का प्रदर्शक लोक नृत्य है। पुरुष नर्तक रंगीन लूँगी, ढीला कुर्ता, ऊपर से कामदार वेस्कोट तथा सिर पर छोटी सी पगड़ी बाँधते हैं। दोनों हाथों में चटक रंग के रुमाल बाँध लेते हैं और सामूहिक प्रदर्शन करते हैं। पैर एवं हाथों का संचालन विशेष रूप से होता है। मुख के भावों का कोई विशेष महत्व नहीं होता। इस नृत्य में कभी-कभी गायन भी होता है।

गिद्धा नृत्य-यह पंजाब का एक प्रसिद्ध लोक नृत्य है। यह नृत्य स्त्रियों द्वारा किया जाता है। इस नृत्य का आयोजन मांगलिक कार्यों में किया जाता है।

2.5.5 उत्तराखण्ड के लोकनृत्य

उत्तराखण्ड़ के कुमाऊँ क्षेत्र एवं गढ़वाल क्षेत्र की अपनी अनोखी परम्परा हैं। जिसमें अनेक नृत्य हैं।उत्तराखण्ड की लोक गाथाओं का एक बड़ा भाग नृत्य गीतों के रूप में भी जाना जाता हैं। इन गाथाओं में स्थान-स्थान पर खुशी में नाचने युद्ध के नगाड़े, मुरली बजाने का वर्णन आता है। नृत्य की उपस्थिति लोक गाथा के विद्यमान की ओर अधिक चटक रंग देती है।गाथाओं में वर्णित लोक नृत्य से पहले गाथाओं में होने वाले नृत्य पर दृष्टि डालते है। जैसे-जागर, रसौल, भड़ौ की अपनी नृत्य योजना है। देव वंदना से नृत्य आरम्भ हो जाता हैं । मानव शरीर में देवता के अवतरण में नृत्य होता हैं। एकल तथा कभी दो नांचने लगते है। गाथाओं मे देवनृत्य के लिए 32 ताले मानी गई है। झोड़ा गाथाओं के कम में उसकी गणना हुई हैं। उत्तराखण्ड में प्रचलित लोक नृत्य बहुत प्रचीन है। कुछ प्रचलित लोक नृत्य इस प्रकार से है।

छोलिया नृत्य- कुमाऊँ के प्रसिद्ध लोक नृत्यों में छोलिया नृत्य जिसका इतिहास लगभग 1000 साल पुराना है। इस नृत्य का उदय खसिया राज्य के वक्त माना जाता है। जब विवाह तलवारों की

नोक पर हुआ करते थे, छोलिया युद्ध नृत्य के अन्तर्गत आता है। कुमाऊँ में मात्र विवाह के अवसर पर कुछ पेसेवर लोगों द्वारा ढोल, नगाड़ा, बाजे गाजे के साथ नृत्य कला का प्रदर्शन किया जाता है। पुरूषों द्वारा किया जाने वाला यह नृत्य स्पष्ट तौर पर सांमतीय प्रथा का संकेत देता है।

झोड़ा या चांचरीनृत्य - कुमाऊँ में प्रचलित इस सामूहिक नृत्य को कहीं चांचरी कहीं झोड़ा तथा कहीं खेल लगाना भी कहा जाता है। इसमें स्त्री पुरूष दोनों भाग लेते है। नृत्य एक दूसरे के कंधों या कमर पर हाथ रखकर दो कदम आगे-पीछे रखते हुए गोलाई में घूमते है। इसे पर्व, उत्सव, विवाह, जन्मोत्सव तथा मेलों में झोड़ो के सुन्दर दृष्य दिखाई देते है।

थुला खेल-इस नृत्य को ग्रामों के पौढ़ पुरूष व महिलाएं अत्यन्त सुन्दर शैली में वृत्ताकार भाव भंगीमा पूर्ण नाचते हुए रामायण व महाभारत के कथानक को अवतरित करते है गीत व नृत्य मन्ध लय से चलते है, वादक ढोल में थाप देता है

छपेली- यह नृत्य दो प्रेमियों का नृत्य है। इसमे गायक समूह गीत गाता है। नर्तक और नर्तकी गीत के भावों के अनुसार भाव भंगिमा और मुद्राओं के साथ मुक्त से नाचते है।

लांग या हुड़का- कुमाऊँ में बाद्दी या हुड़क्या जाति व्यवसायिक रूप से गाने-नाचने का कार्य करती रही है। इस जाती के स्त्री-पुरूष शादी-ब्याह त्यौहारों और बसंत ऋतु में लोगों के घरों में जाकर नाचते गाते है।

छठा नृत्य- घड़ा लोक गीत के बीच में जो नृत्य किया जाता है, वह लोक नृत्य छठा नृत्य कहलाती है।

होली नृत्य- यह नृत्य फाल्गुन माह के शुक्ल पक्ष की एकादषी से पूर्णमासी तक सामूहिक रूप से होली नृत्य किया जाता है।

जागर नृत्य-उत्तराखण्ड में क्षेत्रीय देवी देवताओं की गाथाओं को जागर कहा जाता है। कभी-कभी इसमें पौराणिक देवता भी शमिल होती है। इन गाथाओं को गाते समय अधिकांष तौर पर किसी-किसी व्यक्ति पर जागर के देवता का अविर्भाव होता है, और उसके शरीर में कम्पन होने लगता है। वह अर्धचेतन अवस्था के समान हाव भाव करता चमत्कारिक क्रियाओं का अभिमय करता है, इसमें ऐतिहासिक वीर पुरूष न्यायप्रिय और प्रजा पालक राजा या अपूर्ण आकांक्षा के साथ मृत्यु को प्राप्त होकर लोक में पूजे जाने वाले स्त्री पुरूषों की आत्मा का अवतार होता है।

हिलजात्रा नृत्य- इसमें स्वागों द्वारा विभिन्न ग्रामीण जीवन सामाजिक जीवन से सम्बन्धित चरित्र द्वारा नृत्य के माध्यम से ग्रामीण सामाजिक प्रतिकृति प्रस्तुत की जाती है, इनका वंष विन्यास अतिविचित्र होता हैं।

गढ़वाली नृत्य-गढ़वाल क्षेत्र का सर्वाधिक लोकप्रिय गढ़वाली लोकनृत्य है । प्रकृति के सुंदर वातावरण में बसे गढ़वाली लोग खेती में फसल को काटने के समय खुशियाँ मनाने के लिए इस लोकनृत्य को करते हैं । यह आनन्द प्रदान करने वाला सामूहिक लोकनृत्य है । गढ़वाली लोगों की सहजनिश्चलता, सरलता उल्लास तथा निश्चिंतता की अभिव्यक्ति देने वाला यह नृत्य है । गढ़वाली क्षेत्र के निवासी इस लोकप्रिय नृत्य को अति हर्षोल्लास के साथकरते हैं ।

2.5.6 नागालैंड का बैम्बू या बांसलोकनृत्य

बांस नृत्य-यह नागालैंड में रहने वाले आदिवासियों का प्रसिद्ध लोकनृत्य है ।इस लोकनृत्य को लकड़ी के गोल बड़े-बड़े डण्डों को लेकर किया जाता है । इस नृत्य में कुछ नर्तक नीचे बैठकर

खड़े और आड़े रूप में डण्डे बिछा लेते हैं और फिर दोनों ओर से डण्डों को मिलाकर बजाते हैं तथा कुछ नर्तक इन डण्डों से बने उन खानों में एक-एक पैर से नाचते हैं। इस नृत्य को करने के लिए अधिक अभ्यास की आवश्यकता होती है।

2.5.7 छतीसगढ़ केलोकनृत्य

पण्डवानी- नृत्य छत्तीसगढ़ का एक प्रसिद्ध लोकनृत्य है। पण्डवों की कथा से सम्बन्धित यह नृत्य है, इसलिए इस नृत्य को पण्डवानी नृत्य के नाम से जाना जाता है ।इस लोकप्रिय नृत्य में नर्तक वाद्य यंत्रों की धुन पर नृत्य एवं अभिनय कर पण्डवों की कथा का प्रदर्शन करते हैं। इस नृत्य में एक तारा वाद्य यंत्र का प्रयोग मुख्य रूप से किया जाता है। ऋतु शर्मा, झाडूराम देवांगन, तीजनबाई आदि ने इस नृत्य को विशिष्ट पहचान दिलायी है।

पंथी नृत्य-यह छत्तीसगढ़ राज्य का प्रसिद्ध लोकनृत्य है । यह सतनामी समुदाय का एक आनुष्ठानिक नृत्य है। इस नृत्य के गायन में सतगुरु की प्रशस्ति होती है। इस लोकनृत्य में पुरुष समूह ढोल एवं झांझ की लय के साथ गाता है, धीरे-धीरे लय तेज होता जाता है और तत्पश्चात नर्तक पद संचालन के साथ विशेष प्रकार की मुद्राएं बनाता है।

2.5.8 राजस्थान के लोकनृत्य

कठपुतली-यह नृत्य राजस्थान का एक लोकप्रिय लोकनृत्य है ।इस नृत्य में कठपुतली नृत्य करने वाले नर्तक को कठपुतली भाट कहते हैं। इस नृत्य का आयोजन उच्च वर्ग वालों के समारोहों में किया जाता है। इस नृत्य में गायन के लिए एक स्त्री और एक पुरुष होता है। इसमें गायक ही जरूरी संवाद बोलते हैं। इस लोकनृत्य में अमर सिंह राठौर की कहानी सर्वाधिक विख्यात है।

तेराताली- यह राजस्थान राज्य का प्रसिद्ध लोकनृत्य है। राजस्थान में इस नृत्य को आधुनिक आधुनिक लोकनृत्य कहते हैं। इस नृत्य को महिलायें प्रस्तुत करती हैं। लेकिन इसमें गायन पुरुष करते हैं। इस नृत्य में नर्तकी के पैरों तथा हाथों में घंटियाँ बंधी रहती हैं जिन्हें नृत्य के दौरान लय के साथ बजाया जाता है। इस नृत्य में प्रस्तुत किया जाने वाला गीत भगवान श्रीकृष्ण के जीवन पर आधारित होता है।

पणघट-यह राजस्थान का लोकप्रिय नृत्य है। इस नृत्य को 'जेघड़ नृत्य' के नाम से भी जाना जाता है। इस लोकनृत्य में यौवानाएं सिर पर गगरी रखकर नृत्य करती हैं।

झांझी नृत्य-यह एक परम्परागत लोकनृत्य है। इस लोकनृत्य में झांझी के रूप में छोटे-छोटे मटके होते है जिनमे छेद किया रहता है, उनमे दिए रख दिए जाते हैं। पश्चात स्त्रियों द्वारा इन मटकों को सिर पर रखकर सामूहिक रूप से नृत्य किया जाता है।

घूमर नृत्य-यह राजस्थान का एक प्रचलित लोक नृत्य है। इस लोक नृत्य में केवल स्त्रियाँ ही भाग लेती हैं। इस नृत्य का आयोजन प्रत्येक मांगलिक एवं पारम्परिक उत्सवों तथा दुर्गा पूजन आदि में किया जाता है। इस नृत्य को घूम-घूमकर किया जाता है, इसीलिए इसेघूमर नृत्य कहा जाता है।

2.5.9 बंगाल के लोकनृत्य

शिकारी नृत्य- यह नृत्य बंगाल और असम की पहाड़ी घाटियों में बसने वाले भीलों कालोकनृत्य है। इस नृत्य को स्त्री और पुरुष अकेले ही या सामूहिक रूप से किया करते हैं

।नर्तक जानवरों की खाल पहनते हैं, कानों में बड़ी-बड़ी बालियाँ, सर पर तिरछी लालरंग की पट्टी तथा उन्हीं में चिडियों के रंग-बिरंगे पर लगे होते हैं। वक्षस्थल पर कोई परिधान नहीं होता। पैर में घुँघरू और हाथ में धनुष बाण रहता है। इस नृत्य के प्रारम्भ में लय वाद्य पर वादक एक दो परणों बजाकर जैसे ही समाप्त करता है, वैसे ही नेपथ्य में घुँघरुओं की आवाज आती है और नर्तक शिकार को खोजती हुई मुद्रा में प्रवेश करता है। कुछ देर नर्तक उस संगीत पर नृत्य करता है। अपने हाव-भाव से ऐसा प्रदर्शित करता है मानो वह किसी शिकार की तलाश कर रहा हो। शिकार के श्रम से मस्तक का पसीना पोंछता है, कभी दूर शिकार देखकर हर्षोत्फुल्ल हो जाता है, कभी शिकार के भाग जाने पर निराश हो जाता है। सहसा कोई शिकार देखकर वह मारने को उद्धत होता है, पर शिकार भाग जाता है और नर्तक मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पड़ता है। कुछ समय पश्चात वह उठता है, फिर नृत्य करता है। दूसरी बार शिकार देखने पर वह उसे मारने में सफल हो जाता है। फिर कुछ देर वह हर्षोल्लास से नृत्य करता है, शिकार को रस्सी से बांधने का अभिनय करता है और इस प्रकार से नृत्य समाप्त हो जाता है।

बाऊल नृत्य-यह पश्चिम बंगाल का एक लोकप्रिय नृत्य है। यह नृत्य पश्चिम बंगाल के सहजिया संप्रदाय के घुमक्कड़ लोगों के द्वारा किया जाता है।

काठी नृत्य-यह नृत्य बंगाल राज्य का प्रसिद्ध लोकनृत्य है। यह छड़ी से किया जाने वाला लोक नृत्य है।

कीर्तन नृत्य- यह विष्णु पूजा से सम्बन्धित लोकनृत्य है।

2.5.10 जम्मू-कश्मीर का राउफ लोकनृत्य

राउफ नृत्य-यह जम्मू-कश्मीर का एक प्रसिद्ध लोकनृत्य है। यह नृत्य फसल कटाई हो जाने पर स्त्रियों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। इस लोकनृत्य में ग्रामीण स्त्रियाँ दो पंक्तियों में विभाजित होकर आमने-सामने खड़ी हो जाती है। हर पंक्ति में 15 स्त्रियाँ होती है। जो कि एक दूसरे के गले में बाहें डालकर नृत्य करती हैं। इस नृत्य में वाद्य यंत्रों का अभाव ही देखने को मिलता है।

2.5.11 कर्नाटक का अक्षय गान लोकनृत्य

अक्षय गान नृत्य- कर्नाटक में यह नृत्य ग्रामीण प्रकृति का नृत्य है जो कि नृत्य एवं नाट्य का एक मिश्रण है। यह नृत्य 400 वर्षों से प्रचलित है। इस नृत्य के विषय हिन्दू महाकव्यों से सम्बन्धित होते हैं। इस लोकनृत्य में कन्नड भाषा होती है, लेकिन वेश-भूषा कथकली के समान होती है। इस नृत्य में विदूषक और सूत्रधार मुख्य भूमिका निभाते हैं। प्रारम्भ में इस नृत्य शैली का प्रयोग कृष्ण कथाओं के लिए किया जाता था। किन्तु कालान्तर में विष्णु के 10 अवतारों को चित्रित करने में इसका प्रयोग होने लगा।

2.5.12 पूर्वोत्तर असम का बिहू लोकनृत्य

बिहू नृत्य-यह नृत्य असम राज्य का एक प्रमुख लोकनृत्य है। यह लोकनृत्य मीरी, कचारी तथा खासी जनजातियों द्वारा सामूहिक रूप से किया जाता है। इस नृत्य की विशेषता यह है कि इसका आयोजन साल में तीन बार किया जाता है।

1. बोहाग बिहू – इसका आयोजन नव-वर्ष के उपलक्ष में किया जाता है।
2. माघ बिहू – इसका आयोजन जब धान की फसल पक जाती है तब किया जाता है।
3. वैशाख बिहू- इसका आयोजन बसंत उत्सव पर किया जाता है।

2.5.13 मणिपुर के लोकनृत्य

थावल चोंगबी-मणिपुर राज्य का प्रसिद्ध लोकनृत्य है। इस लोकनृत्य का आयोजन होली पर्व के आसपास किया जाता है। इस नृत्य को बिना किसी भेद-भाव के प्रस्तुत किया जाता है। इस लोकनृत्य को हाथ में हाथ डालकर गोला बनाकर सामूहिक रूप से किया जाता है।

थांगटा नृत्य-यह मणिपुर राज्य का एक आनुष्ठानिक लोकनृत्य है। इस नृत्य को तलवार और भालों के साथ किया जाता है।

संकीर्तन नृत्य- यह नृत्य मणिपुर का प्रसिद्ध लोकनृत्य है। इस नृत्य का आयोजन धार्मिक पर्वों, विवाह एवं शिशु जन्मोत्सव पर किया जाता है। इस नृत्य में पुरुष और स्त्रियाँ पंक्तिबद्ध होकर नृत्य करते हैं।

2.5.14 केरल के लोकनृत्य

पादायनी लोकनृत्य- केरल का लोकप्रिय नृत्य हैं। इस नृत्य का आयोजन ग्रामीण क्षेत्रों में देवी के मंदिरों में किया जाता है। इस नृत्य में मुखौटा द्वारा विभिन्न देवी-देवताओं के स्वांग किए जाते हैं। संगीतमय यह नृत्य रात भर किया जाता है।

कृष्णनअट्टम नृत्य - यह नृत्य केरल का प्रसिद्ध नृत्य है। यह कथकली नृत्य से मिलती जुलती शैली का नृत्य है। यह नृत्य निरंतर आठ रातों तक चलने वाला नृत्य है। इस नृत्य में भगवान श्रीकृष्ण के सम्पूर्ण चरित्र का चित्रण प्रदर्शित किया जाता है।

ओहनतुल्लालू नृत्य- यह केरल का लोकप्रिय नृत्य है। यह एकाकी नृत्य है। इस नृत्य की वार्तालाप शैली सरल मलयालम भाषा में है।

2.5.15 बिहार केलोकनृत्य

जट-जटिन- यह बिहार का एक प्रसिद्ध लोकनृत्य है। यह नृत्य वर्षा की प्राप्ति हेतु किया जाता है। इस नृत्य को स्त्री और पुरुष द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

फाग या फगुआ-यह बिहार एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश में प्रचलित लोकनृत्य है।

चैता-यह बिहार में प्रचलित एक प्रसिद्ध लोकनृत्य है। यह बिहार के पटना एवं शाहाबाद क्षेत्र में विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

विदेशिया नृत्य-यह बिहार और उत्तर प्रदेश राज्य के भोजपुरी भाषा वाले क्षेत्र की एक प्रमुख एवं ग्रामीण जनता में सर्वाधिक प्रचलित लोकनृत्य है। इस नृत्य की रचना मूल रूप से भिखारी ठाकुर ने की थी। वर्तमान समय में इसकी तर्ज पर काफी नाटकों की रचना की जा चुकी है। इस लोकनृत्य का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ-साथ सामाजिक एवं पारिवारिक विषमताओं को उजागर करते हुए बुराईयों को समाप्त करने के लिए नीति एवं मर्यादा का उपदेश देना भी है।

2.5.16 तमिलनाडु के लोकनृत्य

कोलाट्टम- यह तमिलनाडु राज्य का एक लोकप्रिय लोकनृत्य है। यह छोटी लड़कियों द्वारा किया जाता है।

कुम्मी-यह तमिलनाडु राज्य का एक प्रमुख नृत्य है। यह नृत्य महिलाओं और बालिकाओं द्वारा एक वृत्त के चारों तरफ ताली पीटते हुए किया जाता है।

2.5.17 आंध्रप्रदेश का गड़बा लोकनृत्य

गड़बा नृत्य- यह आंध्रप्रदेश के विशाखापटनम जिले का लोकप्रिय नृत्य है। इस नृत्य में स्त्री और पुरुष दोनों भाग लेते हैं। इस नृत्य के अंतर्गत स्त्री और पुरुष साथ-साथ घेरा बनाकर उसी में वाद्य यंत्रों की लय-ताल के साथ नृत्य करते हैं। कभी-कभी स्त्रियाँ स्वयं जोड़ा बनाकर इस नृत्य को करती हैं।

2.6 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई में आपने शास्त्रीय एवं लोकनृत्य का अध्ययन किया। भारतीय नृत्यकला का विभाजन दो श्रेणियों में किया गया है। प्रथम श्रेणी के अंतर्गत शास्त्रीय नृत्यों को रखा गया है तथा द्वितीय श्रेणी में लोकनृत्य एवं जनजातीय नृत्यों को रखा गया है। भारतीय परम्परागत संस्कृति में नृत्यों के द्वारा धार्मिक विचारों को सांकेतिक अभिव्यक्ति दी जाती थी। दक्षिण भारत के अनेक मंदिरों में नृत्य करते देवों की विभिन्न मुद्राओं वाली मूर्तियाँ हैं। कत्थकली, मणिपुरी, भरतनाट्यम, कत्थक, कुचीपुड़ी तथा ओडिसी कुछ भारतीय शास्त्रीय नृत्यों के प्रकार हैं। नृत्य का किस समय पर आविर्भाव हुआ यह कहना कठिन है। परन्तु खुशी को व्यक्त करने के लिए नृत्य अस्तित्व में आया। धीरे-धीरे नृत्य को लोक तथा शास्त्रीय दो भागों में बाँटा गया। शास्त्रीय नृत्य को मंदिरों तथा शाही राज दरबार में प्रस्तुत किया जाता था। मंदिरों में नृत्य धार्मिक उद्देश्य से किए जाते थे। जबकि राज दरबार में यह केवल मनोरंजन का साधन मात्र था। दक्षिण भारत में भरतनाट्यम व मोहिनीअट्टम् मंदिरों में धर्मिक अनुष्ठानों के एक महत्वपूर्ण पहलू के रूप में विकसित हुए। रामायण एवं महाभारत में भी नृत्य कला की प्रस्तुति है। कत्थक व मणिपुरी अधिकांशतः भगवान कृष्ण की कथाओं एवं उनके रास नृत्य से सम्बद्ध होते हैं। ओडिसी नृत्य भगवान जगन्नाथ की पूजा से संबंधित है। उत्तर भारत में कत्थक को विशेष रूप से मंदिरों में कृष्ण लीला और भगवान शिव की कथाओं को प्रदर्शित करने के लिए किया जाता है। लेकिन साथ ही साथ इस नृत्य को मध्यकाल में राजदरबारों में भी प्रस्तुत किया गया। आचार्य भरतमुनि का नाट्यशास्त्र नृत्य कला का प्रथम स्रोत है। वैसे तो नाट्यशास्त्र नाट्य कला से सम्बन्धित है परंतु नाटक के अभिन्न अंश के रूप में आचार्य भरत ने नृत्य व उसके अनेक अंगों की विस्तृत चर्चा की है। मुखाकृति, शारीरिक भाव भंगिमाएं, हस्तमुद्रा तथा पद संचालन सभी को तीन भागों में विभाजित करते हुए उन्हें 'नृत्त' (पद संचालन), नृत्य (अंग संचालन) तथा नाट्यम (अभिनय) की संज्ञा दी गई है। प्रारंभ में पुरुषों और महिलाओं दोनों ने नृत्य मे विशेष रुचि ली थी। परंतु समाज महिला नर्तकी को हेय दृष्टि से देखने लगा। लेकिन अब सारी चीजें बदल गई हैं। महान संगीतविदों के प्रयत्नों और सामाजिक सुधार आंदोलनों आदि के फलस्वरूप जनसमुदाय महिला कलाकारों को सम्मान की नजरों से देखने लगे हैं। मध्यकालीन काल में मुगल शासकों ने कत्थक नृत्य को प्रोत्साहन दिया। मुगल शासकों में 'औरंगजेब' को छोड़कर ये नृत्य प्रस्तुतियाँ दरबार में पेश की जाती थी। दक्षिण भारत में, मंदिर, दरबार तथा भवनों में नर्तकों के लिए विशेष मंच प्रदान किया जाता था। नव रस, राम, कृष्ण, गणेश, दुर्गा आदि की पौराणिक कथाओं को नृत्य के द्वारा अभिनीत किया जाता था। उत्तर भारत के कुछ शासक जैसे वाजिद अली शाह संगीत और नृत्य के बड़े संरक्षक थे। लखनऊ घराना या नृत्य की पाठशाला के बीज यहीं बोये गये। पंडित बिरजु महाराज लखनऊ घराना के ही नर्तक रहे हैं। आधुनिक काल में हमें दक्षिण भारतीय शास्त्रीय नृत्यों में अधिक नृत्यों के रूप प्राप्त होतें हैं। कुचीपुड़ी,

भरतनाट्यम्, मोहनीयअट्टयम्, कथकली तथा पूर्व दिशा में ओडिशा नृत्य विकसित हो रहा था। शास्त्रीय नृत्यों के साथ-साथ लोकनृत्य भी विकसित हो रहा था। अनेक राज्यों में स्थानीय नृत्य भी लोकप्रिय हो गए। मणिपुर नृत्य, संथालनृत्य रवीन्द्रनाथ की नृत्य नाटिकाएँ, छाऊ, रास, गिद्दा, भांगड़ा, गरबा आदि कुछ लोकनृत्य भारत में प्रचलित हो रहे थे। हमारे देश के प्रायः सभी राज्यों ने अपने लोकनृत्यों की समृद्ध परम्परा विकसित कर ली है।

2.7 पारिभाषिक शब्दावली

- पौराणिक - पुराण सम्बन्धी
- उल्लास - खुशी, हर्ष
- समृद्ध - सम्पन्न, धनवान
- शास्त्रीय - शास्त्र सम्बन्धी
- परम्परा - चला आता हुआ क्रम, प्रणाली
- मंत्रमुग्ध - आनंदित होना
- सर्वविदित - जिसे सब जानते हैं

अभ्यास प्रश्न 1

(1) निम्नलिखित प्रश्नों के उचित विकल्प का चयन कीजिये।

1.भारतीय परम्परागत विचारधारा के अनुसार समस्त ज्ञान-विज्ञान एवं कलाओं का स्रोत माना जाता है।

(क) वेद
(ख) पुराण
(ग) महाभारत
(घ) गीता

2.भारतीय नृत्यकला का विभाजन कितनी श्रेणियों में किया गया है।

(क) तीन
(ख) दो
(ग) चार
(घ) छः

3. भगवान शंकर ने त्रिपुरासुर राक्षस का वध करने हेतु वीर एवं रौद्र रस प्रधान जो नृत्य किया था, वह है।

(क) कथक
(ख) लास्य
(ग) कथकलि
(घ) तांडव

4. कुचीपुड़ी किस प्रदेश का शास्त्रीय नृत्य है ?

(क) उत्तराखंड
(ख) असम
(ग) आंध्र प्रदेश

(घ) मेघालय

5. जट-जटिन किस प्रदेश का प्रसिद्ध लोकनृत्य है ?

(क) बिहार

(ख) असम

(ग) आंध्र प्रदेश

(घ) मेघालय

(2) रिक्तस्थानों की पूर्ति कीजिये।

1. गरबा ---------- का अत्यधिक लोकप्रिय नृत्य है।
2. माता पार्वती ने शृंगार रस प्रधान जो नृत्य किया उसे----------नृत्य की संज्ञा मिली।
3. भरतनाट्यम् की प्रथम प्रतिपादक दक्षिण भारत की ---------- थी।
4. बांस नृत्य नागालैंड में रहने वाले ---------- का प्रसिद्ध लोकनृत्य है।
5. कथक नृत्य का जन्म ---------- से माना जाता है।

(3) सही गलत का चयन कीजिये।

1. पादायनी लोकनृत्य केरल का लोकप्रिय नृत्य हैं। इस नृत्य का आयोजन ग्रामीण क्षेत्रों में देवी के मंदिरों में किया जाता है। ( )
2. कठपुतली लोकनृत्य में अमर सिंह राठौर की कहानी सर्वाधिक विख्यात है। ( )

3राउफ जम्मू कश्मीर का एक प्रसिद्ध लोकनृत्य है। यह नृत्य फसल कटाई हो जाने पर स्त्रियों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। ( )

4. भरत नाट्यम् में समान रूप से हाथों, पैरों, मुख और शरीर को हिलाने के 70 नियम हैं। ( )
5. कथक पण्डवों की कथा से सम्बन्धित नृत्य है। ( )

2.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1 क, 2 ख, 3 घ, 4 ग, 5 क
2. 1 गुजरात, 2 लास्य, 3 देवदासियाँ, 4 आदिवासियों, 5 स्वामि हरिदास जी
3. 1 सही, 2 सही, 3 सही , 4 गलत, 5 गलत

2.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. कथक नृत्य, लेखक प्रकाश नारायण
2. भारतीय कला एवं संस्कृति
3. भारतीय संस्कृति और विरासत
4. कुमाऊँ की लोक कला संस्कृति और परम्परा
5. कुमाऊँ गढवाल की लोक गाथायें एक संस्कृति अध्ययन
6. उत्तराखण्ड़ हिमालया

2.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. नृत्य कला के उद्भव एवं विकास पर प्रकाश डालिए।
2. शास्त्रीय नृत्यकला के स्वरूप का वर्णन कीजिए।
3. भारत के प्रमुख लोकनृत्यों का वर्णन कीजिए।

इकाई 3– भारतीय संगीत की प्रमुख लिपि एवं शैलियाँ

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 स्वरलिपि पद्धति का ज्ञान एवं महत्व
3.4 भातखण्डे स्वरलिपि पद्धति
3.5 पं0विष्णु दिगम्बर पलुस्कर स्वरलिपि पद्धति
3.6 आकार मात्रिक एवं पाश्चात्य स्वरलिपि का संक्षिप्त अध्ययन
    3.6.1 आकार मात्रिक स्वरलिपि पद्धति
    3.6.2 पाश्चात्य स्वरलिपि पद्धति
3.7 गायन शैलियों का संक्षिप्त परिचय
    3.7.1 ध्रुवपद
    3.7.2 धमार
    3.7.3 ठुमरी
    3.7.4 टप्पा
    3.7.5 दादरा
    3.7.6 होरी
3.8 सारांश
3.9 शब्दावली
3.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.13 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई पाठ्यक्रम की तृतीय इकाई है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप बता सकते हैं कि संगीत के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की स्वरलिपि पद्धतियों का चलन आज संगीत शिक्षा में होता है।

प्रस्तुत इकाई में स्वरलिपि पद्धतियों का वर्णन प्रस्तुत है। वर्तमान समय में संगीत के तीव्र गति से हुए प्रचार-प्रसार का महत्वपूर्ण कारण स्वरलिपि पद्धति के आधार पर संगीत शिक्षण है। आप जो भी गाते बजाते हैं, उसे लिखित रूप में स्वरलिपि पद्धति द्वारा सुरक्षित रख सकते हैं। मध्यकाल तक जब स्वरलिपि पद्धति का अविष्कार नहीं हुआ था, तब गुरू-शिष्य परम्परा द्वारा संगीत सीखने में बहुत कठिनाईयाँ आती थी। परन्तु 100 वर्ष पूर्व संगीतज्ञ पं0 विष्णु नारायण भातखंडे एवं पं0 विष्णु दिगम्बर पलुष्कर के द्वारा स्वरलिपि पद्धति का जन्म हुआ। इस इकाई में स्वरलिपि पद्धति के विषय में सविस्तार वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप स्वरलिपि पद्धति के महत्व को समझा सकेंगे तथा वर्तमान शिक्षण प्रणाली इसके द्वारा जिस प्रकार सुविधाजनक हो गई है वह भी जान सकेंगे। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप विभिन्न रागों के स्वरूप एवं गीत रचनाओं को स्वरलिपि बद्ध कर लिखित रूप में उसका ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

प्रस्तुत इकाई में आपको गायन शैलियों (ध्रुवपद, धमार, ठुमरी, टप्पा, दादरा व होरी) के बारे में बताया जाएगा। इन गायन शैलियों का भारतीय शास्त्रीय संगीत में क्या महत्व है तथा इनके इतिहास का वर्णन भी इस इकाई में किया गया है।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप आप ध्रुवपद, धमार तथा अन्य गायन शैलियों के बारे में समझ पाऐंगे तथा इन शैलियों के गायन में क्या अन्तर है यह भी जान सकेंगे।

4.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात:-

- आप बता सकेंगे कि संगीत में स्वरलिपि पद्धति का प्रयोग क्यों किया जाता है?
- आप समझा सकेंगे कि स्वरलिपि पद्धति द्वारा संगीत में रागों, बंदिशों, स्वर सौन्दर्य को लिखित रूप में सर्वसुलभ बनाया जा सकता है।
- आप रागों में बद्ध रचनाओं को सुनकर स्वयं स्वरलिपि बद्ध करने में समर्थ हो सकेंगे,जिससे नवीन रचनाओं को समझा सकेंगे।
- छात्रों में गायन-वादन हेतु अभूतपूर्व क्षमता उत्पन्न होगी।
- स्वरलिपि के द्वारा संस्थागत संगीत शिक्षा की सुव्यवस्था के साथ-साथ व्यक्तिगत संगीत शिक्षण में भी विशेष लाभ प्राप्त होगा।
- भारतीय शास्त्रीय संगीत में कौन-कौन सी गायन शैलियॉं प्रचलित थी और है।
- ध्रुवपद, धमार व अन्य गायन शैलियों में क्या समानताएं व अन्तर हैं।
- इन गायन शैलियों की क्या विशेषता है।
- ये गायन शैलियॉं किसके द्वारा प्रचारित-प्रसारित की गई।
- इन गायन शैलियों की वर्तमान में क्या स्थिति है।

3.3 स्वरलिपि पद्धति का ज्ञान एवं महत्त्व

भारतीय संगीत के क्षेत्र में स्वरलिपि पद्धति के जन्म से नई क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। आधुनिक काल में संगीत का जिस प्रकार प्रचार-प्रसार हो रहा है उसका एक मात्र कारण है- स्वरलिपि मूलक संगीत शिक्षा की व्यवस्था। प्राचीनकाल से मध्यकाल तक मुख्य रूप से गुरू शिष्य परम्परा द्वारा गुरू के सम्मुख शिक्षा दी जाती थी। उस समय स्वरलिपि पद्धति के चलन में न होने से शिक्षण पद्धति में सभी कुछ कंठस्थ करना होता था। उस समय मौलिक रूप में संगीत शिक्षण दिया जाता था। मध्यकाल के पश्चात आधुनिक काल के पूर्वाध में प्रसिद्ध संगीतज्ञ पं0 विष्णु नारायण भातखंडे एव पं0 विष्णु दिगम्बर पलुस्कर के प्रयासों के द्वारा स्वरलिपि पद्धति का जन्म हुआ, जिससे संगीत शिक्षण अत्यन्त सुविधाजनक हो गया। मध्यकाल में संगीत में जो अंतत मतभिन्नताएं उत्पन्न हुई थी उनके कारण संगीत के स्वरूप में कुछ बिखराव सा हो गया था और इसका प्रमुख कारण था, किसी भी चीज का लिखित रूप में प्रचलन में न होना। सम्भव है कि प्राचीन काल में स्वरलिपि का प्रयोग केवल प्रबन्धों की रचना या धुरपदों की रचना करने तथा उन्हें समझने हेतु किया जाता होगा, परन्तु प्रत्यक्ष शिक्षा देते समय बंदिश की स्वरलिपि शिष्यों के सन्मुख नहीं आती होगी। गुरू अपने शिष्यों को सिखाते समय भी स्वरलिपि का आधार नहीं देते थे। गुरू की रचना तीन-चार पीढ़ियों के पश्चात केवल कंठगत रूप में ही विद्यमान रहती थी। बंदिश की स्वरलिपि रचनाकार के पास होती थी या कालान्तर में नष्ट हो जाती थी। ऐसी स्थिति में बंदिश की प्रामाणिकता का कोई लिखित आधार उपलब्ध नहीं होता था। एक ही गुरू के अनेक शिष्य एक ही बंदिश को भिन्न-भिन्न तरीके से गाते हुए मिलते थे। कालान्तर से ये शिष्य -'हमारे घराने में उक्त बंदिश इसी प्रकार से गायी जाती है या हमारे गुरू ने हमें इसी प्रकार से सिखाया है' इस प्रकार से भी कहते रहे होंगे।

स्वरलिपि के आधार पर संगीत की शिक्षा अधिक वैज्ञानिक हो गयी है। वर्तमान समय में जो संगीत का प्रचार-प्रसार तीव्र गति से हुआ है उसका एक महत्वपूर्ण कारण स्वरलिपि मूलक संगीत शिक्षण का चलन भी है। स्वरलिपि का स्थान संगीत शिक्षण में महत्वपूर्ण है। स्वरलिपि पद्धति के जन्म से पूर्व विद्यार्थी एवं शिष्य गुरू से प्राप्त ज्ञान को कंठस्थ कर लय ताल के साथ गेय पदों का गायन करता था, परन्तु इसमें बहुत अधिक समय लगता था क्योंकि जब तक शिष्य को गुरू द्वारा लिया गया पाठ कंठस्थ नहीं होता था तब तक उसे सीखते रहना पड़ता था। इतना होते हुए भी संगीत सीखने के पश्चात भी शिष्य को रागों के विषय में पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता था। गायन-वादन का प्रदर्शन करने हेतु यह उचित है, परन्तु इससे रागों का शास्त्रीय ज्ञान उतना नहीं हो पाता था जितना वर्तमान में स्वरलिपि पद्धति के कारण सम्भव हो सका है।

आधुनिक काल में स्वरलिपि पद्धति के कारण संगीत शिक्षण अत्यन्त सुविधाजनक एवं सर्वसुलभ हो गया है। विद्यालयी संगीत शिक्षा में स्वरलिपि पद्धति द्वारा बहुत कम समय में संगीत शिक्षक एक ही साथ बहुत अधिक विद्यार्थियों को भली-भांति संगीत शिक्षा दे सकते हैं। संगीत शिक्षक विद्यार्थियों को प्रयोगात्मक रूप से राग एवं अन्य रचनाओं को सिखाने से पूर्व इनके गीतों की स्वरलिपि लिखवा देते हैं तथा इसके उपरान्त गेय रचना की पक्तियों को स्वरलिपि के अनुसार गाकर समझाते हैं जिसका अनुकरण सभी छात्र करते हैं। इस पद्धति से सरलतापूर्वक विद्यार्थी लगन से अपने पाठ को सीखते है। स्वरलिपि पद्धति के द्वारा गीत के विभिन्न अंग स्थायी, अन्तरा आदि के प्रत्येक अव्यव में स्वरों का प्रयोग होता है तथा स्वरों में विश्रान्ति के

स्थानों को भी विद्यार्थी भली-भांति समझ लेते हैं। मात्र प्रयोगात्मक दृष्टि से अगर स्वरलिपि का आश्रय न लेते हुए संगीत शिक्षण किया जाता है तब उसमें अधिक समय की आवश्यकता होती ही है, साथ में इस विषमता से गायन व वादन में वैज्ञानिकता का भी ह्रास होने लगता है।

पुराने समय में गुरू-शिष्य परम्परा में केवल गा-बजा कर ही संगीत शिक्षण होता आया है। परन्तु वर्तमान समय में यह सम्भव नहीं है। आजकल घरानेदार संगीत शिक्षण में भी स्वरलिपि पद्धति का पूर्ण रूप से प्रयोग होने लगा है क्योंकि आज गुरू एवं शिष्य दोनों के पास ही संगीत शिक्षण हेतु अधिक समय नहीं रहता तथा शिष्य को गुरू के सम्मुख सीखने के पश्चात अभ्यास हेतु यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि वह अपने सबक को लिपिबद्ध करके निरन्तर उसका गायन, वादन कर सके। विद्यालयों में स्वरलिपि पद्धति के अभाव में संगीत शिक्षण असम्भव है। क्योंकि यहाँ एक ही कक्षा में बहुत विद्यार्थी होते हैं जिन्हें अलग-अलग प्रयोगात्मक रूप से सिखाने के लिए बहुत अधिक समय की आवश्यकता होती है। समय के अभाव में कक्षा के प्रत्येक विद्यार्थी को अपनी बंदिश कंठस्थ करवाना आज के शिक्षकों को सम्भव नहीं है, क्योंकि निर्धारित अवधि में निर्धारित पाठ्यक्रम भी पूरा करना होता है। अतः बंदिश की स्वरलिपि समझाकर और उसका आधार देकर विद्यार्थियों से कम समय में अधिक और सही बंदिशें सिखायी जा सकती हैं। विद्यार्थियों को जो भी सिखाना है, उसका आधार उन्हें समझाने से वे अल्पावधि में अधिक शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं।

स्वरलिपि का आधुनिक शिक्षा में अत्यधिक उपयोग यह भी है कि जो विद्यार्थी थोड़ी बहुत संगीत शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं वे भी अन्य कई पुस्तकों में लिखित बंदिशों को गा-बजा सकने में कुछ अंश में सफल होते हैं।

3.4 भातखण्डे स्वरलिपि पद्धति

हिन्दुस्तानी संगीत में भातखण्डे स्वरलिपि पद्धति उत्तम मानी जाती है। इसे लिखना एवं पढ़ना विष्णु दिगम्बर पलुष्कर पद्धति की अपेक्षा सरल एवं सुगम है। दक्षिण भारत में पलुष्कर पद्धति का चलन है परन्तु उत्तर भारत में मुख्य रूप से भातखण्डे स्वरलिपि पद्धति का प्रयोग होता है।

3.4.1 स्वर चिन्हः-

1. शुद्ध स्वरों के लिए इस पद्धति में कोई चिन्ह नहीं होता है। जैसे- रे ग म प स्वर, चिन्ह रहित हैं अर्थात यह शुद्ध हैं।

2. कोमल स्वरों के लिए स्वर के नीचे आड़ी रेखा खींच दी जाती है।जैसे-रे ग ध, यह स्वर कोमल कहलाते हैं।

3. तीव्र स्वर जो मात्र 'म' स्वर ही होता है इसको दर्शाने के लिए 'म' स्वर के ऊपर एक खड़ी रेखा खींच दी जाती है। जैसे- म॑

3.4.2 सप्तक चिन्हः-

1. सप्तक को दर्शाने के लिए भी निम्न चिन्ह होते हैं। मध्य सप्तक के स्वरों में कोई चिन्ह नहीं होता है।जैसे- रे ग म । यह स्वर चिन्ह रहित होने से मध्य सप्तक के स्वर कहलाएंगे।

2. मन्द्र सप्तक के स्वरों को दर्शाने के लिए इन स्वरों के नीचे एक बिन्दु लगा दिया जाता है। जैसे- नी,ध,प । यह स्वर मन्द्र सप्तक के हैं।

3. तार सप्तक के स्वरों के लिए स्वरों के ऊपर एक बिन्दु लगा देते हैं। जैसे- गं मं पं। इन स्वरों को तार सप्तक के स्वर कहेंगे।

3.4.3 स्वर मानः-

स्वर मान के लिए निम्न चिन्हों से उन्हें दर्शाया जाता है।

1 मात्रा के लिए कोई चिन्ह नहीं होता है, जैसे सा

(1) मात्रा को दर्शाने के लिए - सा-रे

(2) मात्रा को दर्शाने के लिए- सा-रे-

(3) मात्रा को दर्शाने के लिए- रे ग म प

(4) ⅓ मात्रा को दर्शाने के लिए- रे ग म

(5)1/6 मात्रा को दर्शाने के लिए- रेगमपधप

4.4.4 स्वर सौन्दर्य के चिन्हः-

1. स्वर सौन्दर्य को दर्शाने के लिए स्वर में निम्न प्रकार चिन्ह लगाए जाते हैं। मींड को दर्शाने के लिए स्वरों के ऊपर अर्द्धचन्द्राकार चिन्ह लगाते हैं। जैसे- प ग
2. कण स्वर को दर्शाने के लिए मुख्य स्वर के ऊपर कण स्वर को सूक्ष्म रूप में लिख देते हैं, जैसे मप
3. खटका को दर्शाने के लिए स्वर को कोष्ठक में लिखते हैं, जैसे- (प)

   खटका का अर्थ यह है कि मुख्य स्वर के आगे व पीछे के स्वर को लिया जाता है, जैसे- (प) को दर्शाया है तब उसको इस प्रकार लेंगे -(ध प म प)
4. गीत उच्चारण के लिए निम्न चिन्ह प्रयुक्त किए जाते है, जैसेश् या ऽ ऽ म स्वरलिपि - पद्धतियों का विशेष महत्व है परन्तु भारतीय शास्त्रीय संगीत की पूर्ण अभिव्यक्ति के रचना को पूर्ण रूप से लिपिबद्ध करना किसी भी स्वरलि लिए या किसी भीपि पद्धति के लिए असंभव है।

अभ्यास प्रश्न

(क) लघु उत्तरीय प्रश्नः-

1. स्वरलिपि पद्धति का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

2. भातखंडे स्वरलिपि पद्धति में स्वर चिन्हों को बताइये।

(ख) एक शब्द में उत्तर दीजिए:-

1. कोमल स्वरों में कौन सा चिन्ह प्रयोग होता है?

2. तार सप्तक के स्वरों के ऊपर कौन सा चिन्ह लगाते हैं?

3. मींड़ दर्शाने के लिए किस प्रकार का चिन्ह लगाते हैं?

(ग) सत्य/असत्य बताइये:-

1. तीव्र मध्यम में स्वर के नीचे रेखा लगती है।

2. मध्य सप्तक के लिए स्वरों में कोई चिन्ह नहीं लगता है।

3. मन्द्र सप्तक में स्वरों के ऊपर बिन्दु लगाते हैं।

3.5 पं0 विष्णु दिगम्बर पलुस्कर स्वरलिपि पद्धति

उत्तर भारत में भातखण्डे स्वरलिपि पद्धति का ही चलन है। परन्तु दक्षिण भारत में पूर्ण रूप से पं0 विष्णु दिगम्बर पलुस्कर स्वरलिपि पद्धति का प्रयोग बहुतायत में होता है। पलुस्कर पद्धति भातखण्डे पद्धति से थोड़ी भिन्न तथा उसकी अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होती है। पलुस्कर पद्धति में मात्राओं का लेखन सूक्ष्मता के साथ होता है। उन्होंने पाश्चात्य पद्धति से मिलते जुलते कई पृथक चिन्हों का प्रयोग किया है।

3.5.1 स्वर चिन्ह:-

1. शुद्ध स्वरों के लिए इस पद्धति में कोई चिन्ह नहीं होता है। जैसे- रे ग म प स्वर चिन्ह रहित हैं, अर्थात् यह शुद्ध हैं।
2. कोमल स्वरों के लिए स्वर के नीचे हलन्त लगाया जाता है। जैसे- रे् ग् ध्, यह स्वर कोमल कहलाते हैं।
3. तीव्र स्वर जो मात्र 'म' स्वर ही होता है इसको दर्शाने के लिए 'म' स्वर के नीचे हलन्त खींच दिया जाता है। जैसे- म्र

3.5.2 सप्तक चिन्ह:-

1. सप्तक को दर्शाने के लिए भी निम्न चिन्ह होते हैं। मध्य सप्तक के स्वरों में कोई चिन्ह नहीं होता है। जैसे- रे ग म । यह स्वर चिन्ह रहित होने से मध्य सप्तक के स्वर कहलाएंगे।

2. मन्द्र सप्तक के स्वरों को दर्शाने के लिए स्वरों के ऊपर एक बिन्दु लगा दिया जाता है। जैसे- निं धं पं । यह स्वर मन्द्र सप्तक के हैं।

3. तार सप्तक के स्वरों के लिए स्वरों के ऊपर एक रेखा लगा देते हैं। जैसे-गंमं पं, इन स्वरों को तार सप्तक के स्वर कहेंगे।

3.5.3. स्वर मान:-

स्वर मान के लिए निम्न चिन्हों से उन्हें दर्शाया जाता है।

1 मात्रा के लिए पड़ी रेखा से रेखांकित किया जाता है, जैसे - सा

(1) मात्रा को दर्शाने के लिए, सा रे
००

(2 मात्रा को दर्शाने के लिए, सा रे
ᔕ ᔕ

(3) मात्रा को दर्शाने के लिए, रे ग म प
० ० ० ०

(4) ⅓ मात्रा को दर्शाने के लिए, रे ग म
⅓ ⅓ ⅓

(5) 1/6 मात्रा को दर्शाने के लिए, रे ग म
1/6 1/6 1/6

3.5.4 स्वर सौन्दर्य के चिन्ह:-

1. स्वर सौन्दर्य को दर्शाने के लिए स्वर में निम्न प्रकार चिन्ह लगाए जाते हैं। मींड को दर्शाने के लिए स्वरों के उपर अर्द्धचन्द्राकार चिन्ह लगाते हैं, जैसे -प ग

2. कण स्वर को दर्शाने के लिए मुख्य स्वर के ऊपर कण स्वर को सूक्ष्म रूप में लिख देते हैं, जैसे
म प

3. खटका को दर्शाने के लिए स्वर को कोष्ठक में लिखते हैं, जैसे - (प) खटका का अर्थ यह है कि मुख्य स्वर के आगे व पीछे के स्वर को लिया जाता है, जैसे- (प) को दर्शाया है तब उसको इस प्रकार लेगे (ध प म प)

4. गीत उच्चारण के लिए निम्न चिन्ह प्रयुक्त किए जाते है, जैसे- श् या – म

आधुनिक संगीत शिक्षा में स्वरलिपि का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। पुरानी बंदिशों की शिक्षा देने हेतु संग्रहित बंदिशों का आधार लिया जाता है। अलग-अलग घरानों में या विद्यालयों में संगीत

सीखकर शिक्षक के पद पर कार्य करने वाले अध्यापकों को अपने शिष्यों को शिक्षा देने में सुलभता हो सके इस कारण पाठ्यक्रम की पुस्तकों में स्वरलिपि सहित राग की बंदिशें दी जाती हैं। इसका एक कारण यह भी है कि राग की निश्चित बंदिश सभी विद्यार्थियों को निश्चित तरीके से सिखायी जा सकेंगे।

स्वरलिपि पद्धतियों का तुलनात्मक

भातखण्डे स्वरलिपि पद्धति	विष्णु दिगम्बर पलुस्कर स्वरलिपि पद्धति
स्वर चिन्ह	**स्वर चिन्ह**
शुद्ध स्वर- रे ग म (चिन्ह रहित)	शुद्ध स्वर- रे ग म (चिन्ह रहित)
कोमल स्वर-रे गम	कोमल स्वर- रे॒ ग॒ म॒
तीव्र स्वर- म‘‘	तीव्र स्वर- म्र
सप्तक चिन्ह	सप्तक चिन्ह
मध्य सप्तक- ग म प (चिन्ह रहित)	मध्य सप्तक- ग म प(चिन्ह रहित)
मन्द्र सप्तक- ग़ म़ प़	मन्द्र सप्तक- गं मं पं
तार सप्तक- गं मं पं	तार सप्तक- ग‘‘म‘‘प‘‘
स्वर मान	**स्वर मान**
1 मात्रा के लिए कोई चिन्ह नहीं होता है, जैसे- स	1मात्रा के लिए पड़ी रेखा से रेखांकित किया जाता है, जैसे-स
1½ मात्रा को दर्शाने के लिए, स-रे	1½ मात्रा को दर्शाने के लिए, स ० रे
2 मात्रा को दर्शाने के लिए, सा- रे-	2 मात्रा को दर्शाने के लिए, सा रे
½ मात्रा को दर्शाने के लिए, रे ग	½ मात्रा को दर्शाने के लिए, रे ग म प ० ० ० ०
⅓ मात्रा को दर्शाने के लिए, रेगम	⅓ मात्रा को दर्शाने के लिए, रे ग म ⅓ ⅓ ⅓
1/6 मात्रा को दर्शाने के लिए, रेगमपधप	1/6 मात्रा को दर्शाने के लिए, रे ग म 1/6 1/6 1/6
ताल चिन्ह-	**ताल चिन्ह-**
सम X	
खाली 0	
विभाग ।	

ताली-	सम 1
ताली संख्या	खाली +
जैसे- 2, 3, 4	विभाग ।
	ताली
	विभाग संख्या जैसे- 1, 5, 13

भातखण्डे स्वरलिपि पद्धति एवं पं0 पलुस्कर पद्धतियों में कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैः-

1. दोनों पद्धतियाँ छपाई की दृष्टि में सरल एवं सस्ती है।
2. दोनों पद्धतियों को आसानी से पड़ा एवं समझा जा सकता है।
3. स्वरों के साथ उनके कोमल तथा तीव्र होने का चिन्ह दिया रहता है, जिससे स्वरों की स्थिति का बोध होता है।
4. खटका, मुरकी, गमक आदि के चिन्हों का प्रयोग इन पद्धतियों में आंशिक रूप से किया जाता है।

इन दोनों पद्धतियों में कुछ विशेषताओं के साथ-साथ कुछ कमियाँ भी देखी जा सकती हैः-

1. दोनों पद्धतियों में नाद के छोटे-बड़े पन को दर्शाने के लिए चिन्ह का प्रयोग नहीं किया गया है।
2. इन पद्धतियों पर स्वरों पर शान्त रहने के लिए कोई चिन्ह प्रयोग में नहीं लाए गये हैं।
3. भारतीय राग में स्वरों का विशेष महत्व है, जैसे- दरबारी कान्हड़ा, मियाँ मल्हार एवं मुल्तानी आदि रागों में कोमल गान्धार विभिन्न तरीकों से लगता है। किसी में थोड़ा चढ़ा हुआ, किसी में थोड़ा उतरा हुआ। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के स्वरों को लिपिबद्ध करने के लिए कोई विशेष चिन्ह प्रयोग नहीं किये गये हैं।

अभ्यास प्रश्न

(क) लघु उत्तरीय प्रश्नः-

1. विष्णु दिगम्बर स्वरलिपि पद्धति का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
2. विष्णु दिगम्बर स्वरलिपि पद्धति में स्वर चिन्हों को बताइये।

(ख) एक शब्द में उत्तर दोः-

1. कोमल स्वरों में कौन सा चिन्ह प्रयोग होता है ?
2. तार सप्तक के स्वरों के ऊपर कौन सा चिन्ह लगाते हैं ?
3. मींड़ दर्शाने के लिए किस प्रकार का चिन्ह लगाते हैं ?

(ग) लघु उत्तरीय प्रश्नः-

1. भातखण्डे एवं विष्णु दिगम्बर स्वरलिपि पद्धति में स्वर चिन्हों की विवेचना कीजिए।
2. संगीत रत्नाकर में वर्णित स्वरलिपि पद्धति को संक्षेप में समझाइए।

3.6 आकार मात्रिक एवं पाश्चात्य स्वरलिपि का संक्षिप्त अध्ययन

भारतवर्ष में भातखण्डे एवं विष्णु दिगम्बर स्वरलिपि पद्धति के अतिरिक्त रवीन्द्र संगीत के अन्तर्गत आकार मात्रिक तथा पाश्चात्य स्वरलिपि पद्धति के अन्तर्गत स्टाफ नोटेशन पद्धति का चलन है। कविरत्न रवीन्द्रनाथ ठाकुर जिन्होंने संगीत की एक नई विधा को जन्म दिया, उसी

विधा का नाम है रवीन्द्र संगीत। जिसका प्रभाव सम्पूर्ण पूर्वी भारत पर तो है ही, अन्यत्र भी उसे गाया बजाया जाता है। रवीन्द्र संगीत को आकार मात्रिक स्वरलिपि पद्धति के माध्यम से लिपिबद्ध किया जाता है।

इसके साथ पाश्चात्य स्वरलिपि पद्धति का भी संगीत में अत्यधिक महत्व है। इसका प्रयोग वर्तमान में हमारे फिल्म संगीत में विशेष रूप से होता है। पाश्चात्य स्वरलिपि पद्धति में स्टाफ नोटेशन नामक पद्धति सबसे प्रमुख है। भातखण्डे पद्धति से पलुस्कर पद्धति एवं पलुस्कर पद्धति से पाश्चात्य पद्धति अधिक उत्तम है।

3.6.1 आकार मात्रिक स्वरलिपि पद्धति-

रवीन्द्रनाथ के 215 गीत ऐसे है जिन्हें हिन्दुस्तानी संगीत में से रूपान्तरित किया था। धुरपद, ख्याल से जुड़े इन गीतों का विशेष महत्व है। रवीन्द्रनाथ ने अपने गीतों की रचना में कुल 90 राग-रागिनियों को स्थान दिया है। जिनमें भूपाली एवं भैरवी उन्हें अधिक प्रिय थे। रवीन्द्रनाथ करीब 2000 गीत लिखे है और उन्हें आकार मात्रिक नामक स्वरलिपि में लिपिबद्ध किया है। रवीन्द्रनाथ की स्वरलिपि पद्धति सरल एवं शीघ्र ग्रहण करने के योग्य है। आकार मात्रिक स्वरलिपि पद्धति में शुद्व स्वरों में कोई चिन्ह नहीं लगाते हैं। इस लिपि में एक विशेष बात यह है कि कोमल एवं तीव्र स्वरों के लिए चिन्ह नहीं लगाते बल्कि स्वर का नाम बदल देते है, जैसे-

शुद्ध स्वर	कोमल स्वर
रे ग ध नि	ऋ ड़ द ण

मन्द्र सप्तक के स्वरों में स्वर के नीचे हलन्त का चिन्ह लगाया जाता है तथा तार सप्तक के स्वरों के ऊपर खड़ी रेखा खीची जाती है।

3.6.2 पाश्चात्य स्वरलिपि पद्धति-

पाश्चात्य संगीत में किसी धुन अथवा गीत को स्वरलिपि के अनुसार ही गाया अथवा बजाया जाता है। पाश्चात्य स्वरलिपि पद्धति में स्टाफ नोटेशन पद्धति को ही स्वीकार किया गया है। इस पद्धति में प्रबलता के चिन्हों के प्रयोग से नाद के छोटे-बड़े पन को भी सुगमता से दर्शाया जा सकता है। इस लिपि में प्रत्येक स्वरों के साथ ही उनका काल मान भी लिपिबद्ध रहता है। विभिन्न प्रकार के सप्तकों को दर्शाने के लिए विभिन्न प्रकार के चिन्हों का प्रयोग किया जाता है। इस पद्धति में प्रारम्भ में किसी एक रेखा को मध्य सप्तक का सा मानकर उसमें विशेष प्रकार का अण्डाकार चिन्ह बना देते हैं। इसके पश्चात ऊपर के स्वरों के लिए क्रमशः ऊपर रेखा खीचते हैं तथा नीचे के स्वरों के लिए क्रमशः नीचे की ओर रेखा खीचते हैं। हर स्वर को रेखा में दर्शाने से अधिक रेखाओं की आवश्यकता होती है। अतः उसमें परिवर्तन कर एक स्वर को रेखा पर तथा दूसरे को दो रेखाओं के बीच में रखा जाता है। इस प्रकार पाश्चात्य संगीत में विद्वानों ने 11 रेखाओं का एक समूह बनाया जिसमें सप्तक के सभी स्वरों को सरलता से दर्शाया जा सके।

3.7 गायन शैलियों का संक्षिप्त परिचय

गायन शैली - शास्त्रकारों ने संगीत को दो भागों में विभाजित किया है - 1. मार्गी संगीत 2. देशी संगीत। मोक्ष प्राप्ति के लिए गन्धर्व लोग जिस संगीत का प्रयोग करते थे उसे मार्गी संगीत कहते हैं। अब यह प्रयोग में नहीं है। किन्तु देशी संगीत जनता की रूचि पर निर्भर करता है। देशी

संगीत का मुख्य उद्देश्य जनता का मनोरंजन करना है। देशी संगीत को गान भी कहते हैं। यह दो प्रकार का है। 1. निबद्ध गान 2. अनिबद्ध गान

निबद्ध गान ताल के साथ गाया जाता है तथा बिना ताल के गाया जाने वाला गान अनिबद्ध गान कहलाता है। प्राचीन समय में अनिबद्ध गान के अन्तर्गत रागालाप, आलप्तिगान, रूपकालाप, स्वस्थान नियम इत्यादि प्रचलित थे। आधुनिक समय में राग गायन से पहले जो आलाप राग प्रदर्शन के लिए किया जाता है वह 'अनिबद्ध गान' का प्रचलित प्रकार है। प्राचीन काल में निबद्ध के अन्तर्गत प्रबन्ध वस्तु, रूपक आदि गीतों के प्रकार प्रचलित थे। आधुनिक समय में निबद्ध गान के अन्तर्गत ध्रुवपद, धमार, ठुमरी, ख्याल इत्यादि प्रचलित हैं।

अतः गायन शैलियों का अर्थ आधुनिक समय में प्रचलित गीतों के प्रकारों से है। प्रत्येक प्रकार के गीतों को गाने का ढंग अलग-अलग है। इस प्रकार हम आधुनिक समय में गाने के ढंग को ही गायन शैली कहते हैं। जैसे - धुरवपद गायन शैली, धमार गायन शैली, ठुमरी गायन शैली इत्यादि।

अब आगे आपको गायन शैलियों - धुरवपद, धमार, ठुमरी, टप्पा, दादरा व होरी के बारे में बताया जाएगा।

3.7.1 ध्रुवपद –

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की प्राचीनतम गायन शैली 'ध्रुवपद' है। यह गायन शैली मध्यकाल से आज तक प्रचलित है। शाब्दिक दृष्टि से धुरवपद(ध्रुव$पद) के दो शब्दों का अर्थ - ध्रुव - स्थिर होना, सदा एक स्थान पर रहना अथवा ज्यों का त्यों बना रहने वाला (अचल या अटल), पद - पैर, पंक्ति, चरण (किसी कविता या श्लोक का अर्थ)। ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर ने धुरवपद के प्रचार-प्रसार में बहुत योगदान दिया। इसका प्रचलन मध्य काल में अधिक था। शुरुआत में ध्रुवपद में संस्कृत के श्लोकों को गाकर ऋषि मुनि भगवान की अराधना करते थे। प्राचीन काल में ध्रुवपद गाने वालों को 'कलावन्त' कहा जाता था। अकबर के समय में तानसेन और उनके गुरू स्वामी हरिदास, डागुर, नायक बैजू और गोपाल आदि प्रख्यात गायक ध्रुवपद ही गाते थे। किन्तु आधुनिक काल में इसका स्थान ख्याल ने ले लिया है।

ध्रुवपद गम्भीर प्रकृति का गीत है। इसे गाने पर कंठ और फेफड़ों पर बल पड़ता है। इसलिए इसे मर्दाना गीत भी कहते हैं। अधिकांश ध्रुवपद के चार भाग होते हैं - स्थाई, अन्तरा, संचारी व आभोग। प्राचीन ध्रुवपदों के चारों भागों के 3-3 या 4-4 चरण होते थे। अब ज्यादातर ध्रुवपदों में दो ही भाग होते हैं - स्थाई व अन्तरा। इसके शब्द अधिकतर ब्रज भाषा के होते हैं। इसमें वीर, शांत और श्रृंगार रस की प्रधानता होती है। यह चारताल, ब्रहमताल, सूलताल, तीव्रा, रुद्रताल आदि पखावज की तालों में गाया जाता है। धुरवपद के साथ संगत के लिए पखावज का प्रयोग किया जाता है। किन्तु आजकल पखावज का प्रचार कम होने के कारण कुछ लोग तबले के साथ ही ध्रुवपद गा लेते हैं।

ध्रुवपद में सर्वप्रथम नोम-तोम का सविस्तार आलाप करते हैं। इस आलाप के भी चार भाग होते हैं। आलाप की लय अपने तीसरे अंग से धीरे-धीरे बढाई जाती है और इसी स्थान से गमक का प्रयोग प्रारम्भ होता है। ध्रुवपद में खटके अथवा तान के समान चपल स्वर समूह नहीं दिखाए जाते, बल्कि मींड़ और गमक का अधिक प्रयोग होता है।

आलाप के पश्चात् सर्वप्रथम पूरे ध्रुवपद को उसके चारों भाग सहित गाते हैं और फिर लयकारियां दिखाते हैं। ध्रुवपद में लयकारी को विशेष स्थान प्राप्त है। गीत की बंदिश के शब्दों द्वारा विभिन्न बोल बनाते हुए लयकारी का विस्तार करते हैं। ध्रुवपद की निम्न चार वाणियॉं मानी गई हैं:-

- शुद्ध वाणी/गोबरहार वाणी
- खंडहार वाणी
- डागुर वाणी
- नौहार वाणी

3.7.2 धमार –

धमार ताल में गाया जाने वाला गीत 'धमार' कहलाता है। इस गीत में अधिकतर होली सम्बन्धी शब्द होते हैं, अर्थात राधा-कृष्ण और कृष्ण-गोपियों की फाल्गुन मास की लीलाओं का वर्णन इन गीतों में होता है। धमार को ध्रुवपद अंग की शैली स्वीकार किया जाता है। इसको ध्रुवपद के समान, लयकारी प्रधान शैली में गाया जाता है किन्तु इसमें कभी-कभी बोल तानों का भी प्रयोग अनेक लयों के साथ होता है, जो ध्रुवपद में नहीं होता। प्रायः देखा जाता है कि धमार में ख्याल के समान तानें नहीं ली जाती हैं। इसकी गायन शैली धुरवपद के समान होने के कारण, धुरवपद गायक ही अधिकतर इसे गाते हैं। अन्तर केवल यह है कि ध्रुवपद, धमार से कुछ अधिक गम्भीर गायन शैली है। ध्रुवपद की तरह इस गीत की भाषा में भी ब्रज, हिन्दी व उर्दू भाषा के बोल होते हैं। इस गायन शैली में धुरवपद की तरह ही लयकारियों का चमत्कार सुनने को मिलता है। इस गीत में स्थायी और अन्तरा, दो भाग होते हैं। इस गायन शैली में अधिकतर श्रृंगार-रस की प्रधानता होती है।

3.7.3 ठुमरी -

ठुमरी शब्द में 'ठुम' और 'री' दो अंश हैं। ठुम ठमके का घोतक है और 'री' अंतरंग सखी से अपने अंतर मन की बात कहने का। यह गीत का वह प्रकार है जिसमें राग की शुद्धता की तुलना में भाव सौन्दर्य को अधिक महत्व दिया जाता है। इसकी प्रकृति ख्याल की तुलना में अधिक चपल होती है। ठुमरी गायकी को लखनऊ के अन्तिम नवाब वाजिद अली शाह के दरबार में पनाह मिली। स्वयं नवाब 'अख्तर पिया' उपनाम से ठुमरी गीत की रचना किया करते थे। इन्हें ही ठुमरी का आविष्कारक माना जाता है।

ठुमरी देश, तिलककामोद, भैरवी, पीलू, निलंग, झिंझोटी आदि रागों में गायी जाती है। इसके साथ पंजाबी, तीनताल, कहरवा, दीपचन्दी अथवा जतताल बजायी जाती हैं। ठुमरी में शब्द कम होते हैं। शब्दों के भावों को अनेक स्वर-समूहों द्वारा व्यक्त किया जाता है।

यह श्रृंगार रस प्रधान गीत है और इसमें मींड़-कण का विशेष प्रयोग होता है। स्थाई व अन्तरा में काम करने के बाद जब पुनः गीत की स्थाई में आते हैं तो कहरवा ताल बजाई जाती है। गायक और तबला वादक दोनों विभिन्न प्रकार के सुन्दर बोल बनाते हैं और कुछ देर के बाद पुनः पूर्व ठेके में आ जाते हैं।

ठुमरी उन व्यक्तियों के लिए उपयुक्त है जिनका कण्ठ मधुर और चपल होता है। बनारस, लखनऊ और पंजाब की ठुमरी विशेष रूप से प्रसिद्ध है। ठुमरी में सुन्दरता बढाने के लिए विभिन्न रागों की छाया दिखाते हैं।

3.7.4 टप्पा –

टप्पा गायन का प्रचार सर्वप्रथम गुलाम नवी शोरी ने किया था। इसलिए इन्हें टप्पा का आविष्कारक मानते हैं। टप्पा गायन शैली अन्य गायन शैलियों से बिल्कुल भिन्न होती है। इसमें गीत के शब्द बहुत कम होते हैं तथा स्थाई व अन्तरा ऐसे दो भाग होते हैं। इस गीत की रचना अधिकतर पंजाबी भाषा में होती है। टप्पा गायन की प्रकृति चंचल होती है और इसमें श्रृंगार रस प्रधान होता है। यह अधिकतर भैरवी, खमाज, झिंझोटी, पीलू आदि रागों में गायी जाती है।
इस गायन शैली में विशेष प्रकार की ताल का प्रयोग होता है जिसे टप्पा ताल कहते हैं। ख्याल की तरह इसमें खटके, मुर्की, मींड आदि का सुन्दर रूप देखने को मिलता है। परन्तु इसकी तानें ख्याल की तरह न होकर चपल तथा पेचदार होती हैं। बहुत अभ्यास के बाद ही इस गायकी को अपनाया जा सकता है। इस गायकी का प्रचार पंजाब में अधिक है।

3.7.5 दादरा –

दादरा गीत श्रृंगार रस प्रधान गीत है। इसकी प्रकृति प्रायः ठुमरी के समान होती है। अतः दादरा गायन शैली को अधिकतर ठुमरी अंग के रागों में गाया जाता है। दादरा, ठुमरी की अपेक्षा हल्की होती है। प्रायः ठुमरी गाने वाले गायक-गायिकाएं 'दादरा' गाते हैं। इसमें जन-मन-रंजन करने की पर्याप्त शक्ति होती है।

'दादरा' पूर्व उत्तर प्रदेश की विशेष गायन शैली है। यहॉ के गायक 'दादरा' गायन में दक्ष होते हैं। दादरा की भाषा पूर्वी हिन्दी की किसी न किसी बोली के अनुरूप होती है। जब कोठे पर गायन होता था उस समय बाइयां जो कोठे पर गाती थी वहॉ पर दादरा गायन का प्रचार-प्रसार अधिक हुआ। अब इस गायन शैली को प्रतिष्ठित गायक भी गाते हैं। यह शैली दादरा ताल में गायी जाती है। इसमें भी अन्य गायन शैलियों के समान स्थाई व अन्तरा दो भाग होते हैं।

3.7.6 होरी –

संगीत तथा ललित कलाएं मनुष्य की भावनाओं को अभिव्यक्त करने का सशक्त माध्यम है। भारतीय समाज प्राचीन काल से उत्सवप्रिय रहा है। भारतीय संस्कृति में श्रृंगार और आनन्द, महोत्सव के रूप में बसन्त एवं होली क्रीड़ा का हमेशा से महत्व रहा है। प्राचीन ग्रन्थों में इसे मदनोत्सव या मदन महोत्सव भी कहा गया है। ऋतुराज के आगमन पर उसके मोहक वातावरण में स्वंय को सम्मलित करते हुए अपनी उमंगों को व्यक्त करने का त्योहार है होली। यह मूलतः ब्रज शैली का गायन है।
ख्याल गायक जब होली सम्बन्धी गीतों को विभिन्न तालों में गाते हैं तब यह गीत होली/होरी कहलाता हैं। कहने का अर्थ हैं कि राधा-कृष्ण और कृष्ण-गोपियों की फाल्गुन मास की लीलाओं के वर्णन को हम 'धमार ताल' में गाते हैं तब धमार कहलाता है तथा जब ख्याल गायक उसे त्रिताल, दीपचन्दी, कहरवा आदि तालों में गाते हैं, तब उसे होली/होरी कहते हैं।

धमार तथा होली में बहुत अन्तर है। इन दोनों की गायन शैलियॉ अलग-अलग हैं। होली में तान, आलाप, खटके, मुर्की आदि का प्रयोग ख्याल गायन की तरह होता है। इन गीतों को हम मौसमी गीत भी कह सकते हैं। होरी को अधिकतर फाल्गुन में तथा होली के अवसर पर ही गाया जाता है।

अभ्यास प्रश्न

(अ) रिक्त स्थानों की पूर्ति:

1. ध्रुवपद ---------- प्रकृति का गीत है।
2. प्राचीन काल में ध्रुवपद गाने वाले को ---------- कहते थे।
3. धमार गीत में अधिकतर---------- शब्द होते हैं।
4. धमार गीत -------- ताल के साथ गाया जाता है।
5. ठुमरी में राग शुद्धता की तुलना में ---------- को अधिक महत्व दिया जाता है।

(ब) वस्तुनिष्ठ प्रश्न:

1. ध्रुवपद गायन शैली के प्रचारक थे:

(क) सुल्तान हुसैन शर्की (ख) राजा मानसिंह तोमर
(ग) मुहम्मद शाह रंगीले (घ) मियां शौरी

2.ठुमरी का आविष्कार किसने किया:

(क) राजा मानसिंह तोमर (ख) मियां शौरी
(ग) नवाब वाजिद अली शाह (घ) सुल्तान हुसैन शर्की

3.टप्पा के आविष्कारक थे:

(क) मिया शौरी (ख) नवाब वाजिद अली शाह
(ग) सुल्तान हुसैन शर्की (घ) राजा मानसिंह तोमर

4.दादरा गायन शैली मुख्यतः गायी जाती है:

(क) पंजाब (ख) बंगाल
(ग) पूर्वी उत्तर प्रदेश (घ) आसाम

5.टप्पा गायन शैली में ताल प्रयुक्त होती है:

(क) कहरवा (ख) दीपचन्दी
(ग) टप्पा ताल (घ) तीनताल

(स) लघु उत्तरीय प्रश्न:

1. ध्रुवपद का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. धमार व ठुमरी की दो-दो विशेषताएं लिखिए।
3. ध्रुवपद, धमार, ठुमरी, टप्पा, दादरा व होरी में कौन-कौन सी तालें बजाई जाती हैं।

3.8 सारांश

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि स्वरलिपि पद्धति के आने के बाद से संगीत सीखना, सुनना एवं सीखाना नितान्त सरल हो गया है। विशेष रूप से विद्यार्थियों को इससे बहुत सहायता प्राप्त हुई है। भातखंडे जी ने बड़े-बड़े संगीतज्ञों द्वारा जो संगीत सीखा एवं सुना उसे स्वरलिपि पद्धति द्वारा आज लगभग 150 वर्षों से भी अधिक समय तक सुरक्षित रखा है तथा उसका गायन आज सभी संगीत विद्यार्थी कर रहे हैं। स्वरलिपि पद्धति के माध्यम से गायक-वादक तथा संगीत शिक्षक एवं छात्र-छात्राएँ उन रागों एवं गीतों को कंठस्थ करने में सक्षम हैं जिनका अध्ययन वे पहले नहीं कर पाते थे। सामूहिक विद्यालयी संगीत शिक्षा में समानता लाने की दृष्टि से तथा प्रमाणिकता सिद्ध करने की दृष्टि से तथा प्रामाणिकता सिद्ध करने की दृष्टि से प्रचलित गायन-वादन सामग्री को सरल, सुगम स्वरलिपि का अविष्कार कर संकलित किया गया।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप आधुनिक समय में प्रचलित गायन शैलियों के विषय में जान चुके होंगे। आपने जाना कि गायन की सभी विधाओं को गाने का अपना ढंग है। जिसे ही गायन शैली कहा जाता है। आप यह भी जान चुके होंगे कि गाने के ढंग अथवा शैली से ही एक गीत दूसरे गीत से अलग होता है। इन विधाओं में कुछ समानताएं होते हुए भी गीत के भाव, ताल, तथा प्रकृति के आधार पर एक दूसरे से भिन्न हो जाती है। जैसे ध्रुवपद तथा धमार दोनों के गायन का ढंग समान होते हुए भी गीत के भाव (जैसे ध्रुवपद में वीर रस प्रधान गीत तथा धमार में श्रंगार रस प्रधान), ताल (धुरवपद - चारताल, रूद्र, ब्रहा, सूलताल में तथा धमार केवल धमार ताल में) तथा प्रकृति (ध्रुवपद, धमार की अपेक्षा गम्भीर होता है) के आधार पर एक दूसरे से भिन्न होते हैं। उसी प्रकार ठुमरी, दादरा तथा होली तीनों विधाओं में भाव सौन्दर्य को अधिक महत्व दिया जाता है, किन्तु इनमें भी ताल, गीत के शब्द, भाव से जान सकते हैं कि कौन सी गायन शैली है। टप्पा सभी गायन विधाओं से अलग है, चपल व पेंचदार तानं ेे तथा पंजाबी भाषा का मुख्यतः प्रयोग इस शैली की मुख्य विशेषता है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप विभिन्न गायन शैलियों को गाते वक्त इनकी सभी विशेषताओं को ध्यान में रखकर अपने कार्यक्रम को सफल बना सकेंगे।

3.9 शब्दावली

• सप्तक: भारतीय संगीत में सप्तक से भाव, सात स्वरों का क्रमिक समूह है। सप्तक तीन प्रकार के होते हैं- मन्द्र, मध्य एवं तार सप्तक। मन्द्र सप्तक में आवाज भारी होती है तथा यह मध्य सप्तक के स्वरों से दुगुने नीचे होता है। मध्य सप्तक में स्वरों की आवाज न बहुत ऊँची न बहुत नीची होती है। तार सप्तक के स्वरों की आवाज मन्द्र सप्तक से चौगुनी तथा मध्य सप्तक से दुगुनी ऊँची होती है।

• नाद का छोटा-बड़ा पन: नाद के छोटे-बड़े पन का अर्थ है आवाज जो पैदा हो रही है वह धीरे है या जोर से उत्पन्न हो रही है। धीरे से उत्पन्न आवाज को नाद का छोटापन तथा जोर से उत्पन्न आवाज को नाद का बड़ापन कहते हैं।

• उदात्तः उदात्तः प्राचीन सामगान में प्रयोग होने वाले स्वरों का सम्बोधन।

• कण स्वरः मूल स्वरों का स्पर्श करने वाला स्वर।

• खटकाः द्रुत गति से अन्य स्वर को स्पर्श करने की क्रिया।

• मार्गी संगीत - वेदकालीन प्राचीन शास्त्रीय संगीत।

• देशी संगीत - वर्तमान का सामाजिक या शास्त्रीय संगीत।

• गमक - जोरदार ध्वनि से स्वर पर आन्दोलन अथवा कम्पन करना।

• खटका - द्रुत गति में मूल स्वर को स्पर्श करते हुए स्वर लगाना।

• मींड़ - एक स्वर से दूसरे स्वर तक धनुषाकृति की तरह सुरीले ढंग से बिना रूके जाना।

• लयकारी - पूर्व निश्चित लय में अन्य प्रकार की लय दिखाना लयकारी कहलाती है। (जैसे एक मात्रा में दो संख्या बोलना-दुगुन की लयकारी)

• मुर्की - वक्र स्वरों का द्रुत लय में लगाव।

• जन-मन-रंजन- जनता का मनोरंजन।

3.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.4 की उत्तरमाला:-

(ख) एक शब्द में उत्तर दो:-

1. स्वर के नीचे (-) चिन्ह लगाते हैं।
2. बिन्दु (स्वर के ऊपर)
3. चिन्ह का प्रयोग होता है।

(ग) सत्य असत्य बताइये:-

1. असत्य 2. सत्य 3. असत्य

4.5 की उत्तरमाला:-

ख) एक शब्द में उत्तर दो:-

1. स्वर के नीचे हलन्त(रे्) लगाते हैं।
2. तार सप्तक के ऊपर खड़ी लकीर लगाते है।
3. स्वरों के ऊपर चिन्ह लगाते हैं।

4.7 की उत्तरमाला:-

(अ) रिक्त स्थानों की पूर्ति:

(1) गम्भीर (2) कलावन्त (3) होली सम्बन्धी

(4) धमार (5) भाव सौन्दर्य

(ब) वस्तुनिष्ठ प्रश्न:

1.(ख) राजा मानसिंह तोमर 2.(ग) नवाब वाजिद अली शाह 3.(क) मियां शौरी

4.(ग) पूर्वी उत्तर प्रदेश 5.(ग) टप्पा ताल

3.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भातखण्डे, पंडित विष्णु नारायण, (1970), हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति, क्रमिक पुस्तक मालिका भाग 1एवं भाग 2, संगीत कार्यालय, हाथरस।
2. पाठक, पंडित जगदीश नारायण, (1996), संगीत निबन्ध माला, पाठक पब्लिकेशन, इलाहाबाद।
3. गोबर्धन, शान्ति, (1995), संगीत शास्त्र दर्पण भाग-2, पाठक पब्लिकेशन, इलाहाबाद।
4. सेन, डॉ0 अनीता, (1991), रवीन्द्र संगीत, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।
5. श्रीवास्तव, श्री हरीश चन्द्र, राग परिचय भाग 1 व 2, संगीत सदन प्रकाशन, इलाहाबाद।
6. 2. द्विवेदी, डा0 रमाकान्त, संगीत स्वरित।
4. वसन्त, संगीत विशारद, संगीत कार्यालय, हाथरस।
5. भातखण्डे, पं0 विष्णुनारायण, क्रमिक पुस्तक मालिका (भाग 1,2,3,4), संगीत कार्यालय, हाथरस।
6. परांजपे, श्री एस0एस0, संगीत बोध।
7. गोवर्धन, श्रीमती शान्ति, संगीत शास्त्र दर्पण।
8. साभार गूगल।

3.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. श्रीवास्तव, प्रो0 हरिश्चन्द्र, राग परिचय भाग 1 तथा 2, संगीत सदन प्रकाशन, इलाहाबाद।
2. गर्ग,डॉ0 लक्ष्मी नारायण, (2001), राग विशारद भाग-1, संगीत कार्यालय, हाथरस।
3. संगीत मासिक पत्रिका, संगीत कार्यालय, हाथरस।
4. चौधरी, डा0 सुभाष रानी, संगीत के प्रमुख शास्त्रीय सिद्धान्त, कनिष्का पब्लिशर्स, नई दिल्ली।
5. बंसल, डॉ0 परमानन्द, संगीत सागरिका, प्रासंगिक पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

3.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भातखण्डे स्वरलिपि पद्धति का वर्णन कीजिए।
2. भारतवर्ष में मुख्य रूप से कितनी स्वरलिपि पद्धतियों का चलन है? विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।
3. ध्रुवपद व धमार के बारे में बताते हुए उनका अन्तर समझाइए।
4. निम्न में से किन्ही दो पर टिप्पणी लिखिए: टप्पा, ठुमरी, दादरा व होरी

इकाई 4 - संगीत के धारक तत्त्व

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 संगीत के धारक तत्त्व
    4.3.1 स्वर
    4.3.2 श्रुति
    4.3.3 आलाप
    4.3.4 राग
    4.3.5 सप्तक
    4.3.6 ताल
    4.3.7 लय
    4.3.8 आवर्तन
    4.3.9 ताली
    4.3.10 खाली
    4.3.11 विभाग
    4.3.12 ठेका
4.4 सारांश
4.5 शब्दावली
4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची
4.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई भारतीय ज्ञान परम्परा में प्रमाण-पत्र कार्यक्रम के चतुर्थ प्रश्न-पत्र कला एवं संस्कृति नामक पाठ्यक्रम की द्वितीय इकाई है। इससे पूर्व की इकाईयों के अध्ययन के बाद आप भारतीय संगीत से परिचित हो चुके होंगे।

प्रस्तुत इकाई में संगीत के धारक तत्वों जैसे स्वर, श्रुति, आलाप, राग, सप्तक, ताल,लय, आवर्तन, ताली, खाली, विभाग एवंठेकाके विषय में विस्तृत रूप से बताया जाएगा। साथ ही संगीत के धारक तत्वों का भारतीय शास्त्रीय संगीत के संदर्भ में वर्णन किया जाएगा ।

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप संगीत के धारक तत्वों को परिभाषिक रूप से समझ सकेंगे तथा भारतीय शास्त्रीय संगीत में इनके प्रयोग एवं महत्व को भी समझ सकेंगे।

2.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप:-

- संगीत के धारक तत्वोंके अर्थ को समझ सकेंगे।
- भारतीय शास्त्रीय संगीत में इन तत्वोंके महत्व को समझ सकेंगे।
- संगीत के धारक तत्वों के अर्थ को समझ कर, उनका सही प्रयोग अपने गायन अथवा वादन में कर सकेंगे।

2.3 संगीत के धारक तत्त्व

पूर्व में आपने कभी न कभी भारतीय संगीत केइन धारक तत्वोंके विषय में अवश्य सुना या पढ़ा होगा।प्रस्तुत इकाई में भारतीय संगीत के मूलभूत तत्व जिन्हें संगीत के धारक तत्व भी कहा जाता है,की पारिभाषिक रूप से व्याख्या प्रस्तुत है:

2.3.1 स्वर—

संगीत केदो आधार तत्व माने गए हैं - स्वर एवं लय।फिर चाहे संगीत भारतीय हो या पाश्चात्य। संगीत को जानने समझने के लिए स्वर एवं लय दोनों का ही ज्ञान होना आवश्यक है। प्रकृति में स्वर एवं लय दोनों ही विद्यमान हैं। अतःमाना जाता है कि विद्वानों ने प्रकृति से ही स्वर एवं लय की पहचान करके संगीत की रचना की है। सर्वप्रथम हम स्वरों की उत्पत्ति के विषय में जानेंगे।स्वरों की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। जैसे दामोदर पंडित ने अपने ग्रंथ संगीत दर्पण में स्वरों की उत्पत्ति पशु-पक्षियों की आवाजों से मानी हैः-

सा	-	मोर
रे	-	चातक
ग	-	बकरा
म	-	कौआ
प	-	कोयल
ध	-	मेढक
नी	-	हाथी

एक अन्य मतानुसार पहाड़ी पक्षी मूसीकार की चोंच के सात सुराखों से निकलने वाली ध्वनि से सात स्वर स्थापित हुए।फारसी विद्वान हजरत मूसा ने एक आकाशवाणी के अनुसार अपना असा(फकीरो का डंडा) एक पत्थर पर माराजिससे उसपत्थर के सात टुकड़े हुए और

पत्थर के हर टुकड़े से पानी की धारा के साथ सात प्रकार की आवाजें निकली और इन्हीं सात आवाजों के आधार पर उन्होने सात स्वरों की रचना की।

ऐसी मान्यताओं तो कई हैं किन्तु इनका कोई सटीक ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक प्रमाण प्राप्त नहीं हैं।परन्तु विद्वानों के अनुसारयह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रकृति में विद्यमान ध्वनियों से ही स्वर स्थापित किए गएहोंगे।

स्वर का संबंध ध्वनि से है।पारिभाषिक रूप से कहें तो ध्वनि का वह स्वरूप स्वर कहलाता है जिसमें नियमित कंपन होता है। स्वरवह ध्वनि है जो कर्णप्रिय हो एवं जिसको संगीत में प्रयोग किया जा सके। इस सांगीतिक ध्वनि को नाद कहा जाता है। जिस ध्वनि में कंपन अनियमित होते हैं वह कानों को अच्छी नहीं लगती है, तो ऐसी ध्वनि को शोर कहा जाता है।इस प्रकार की ध्वनि संगीत में प्रयोग नहीं किया जाता है तथा इसे असांगीतिक ध्वनि कहते हैं ।

पं0 ओंकारनाथ ठाकुर जी की संगीतांजलीके अनुसार - ''वह अनुरणानात्मक नाद जो किसी प्रकार के आघात से उत्पन्न होता है, जो रंजक हो, जो श्रोत्रचित्त को सुख देने वाला हो, जो निश्चित श्रुति स्थान पर रहते हुए भी अपनी जगह से ऊपर या नीचे हटने पर विकृत होता है, और आत्मा की सुख-दःख आदि संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने में सहायक हो, उसे 'स्वर' कहते है।"

मुख्य स्वर सात(07) माने गए हैं - **सा, रे, ग, म, प, ध, नी**।'सा' को षडज, 'रे' को ऋषभ,'ग' को गन्धार,'म' को मध्यम,'प' को पंचम,'ध' को धैवत तथा 'नी' कोनिषाद नाम से भी जाना जाता है।इन्हीं के शुद्ध एवं विकृत रूप मिलाकर कुल बारह (12) स्वर माने जाते हैं। स्वरों के मुख्यतः दो रूप सर्वमान्य हैं- 1.शुद्ध स्वर 2.विकृत स्वर

1.शुद्ध स्वर—

स्वर,शुद्ध स्वर तब कहलाते हैं जब वह अपने निश्चित स्थान पर विद्यमान होते हैं। शुद्ध स्वर निम्न प्रकार से प्रदर्शित किए जाते हैं - सा, रे, ग, म, प, ध, नि।

2. विकृत स्वर—

स्वर, विकृत स्वर तब कहलाते हैं जब वह अपने निश्चित स्थान पर विद्यमान न होकर थोड़ा ऊपर या नीचे स्थान पर होते हैं,अर्थात थोड़ा चढे अथवा उतरे हुए होते हैं। ऐसेस्वरों की संख्यापाँच होती हैतथा ये स्वर शुद्ध होने के साथ-साथ विकृत भी होते हैं- रे, ग, म, ध, नि। इस प्रकार विकृत स्वरों के भी दो प्रकार माने गए हैं -

(i) कोमल विकृत- जब स्वर अपनी शुद्ध अवस्था से नीचे होता है तो वह 'कोमल विकृत'कहलाता है। ऐसेस्वरों की संख्याचारहोती हैरे, ग, ध, नि स्वर कोमल विकृत कहलाते हैं।

(ii) तीव्र विकृत - जब स्वर अपनी शुद्ध अवस्था से ऊपर होता है तो वह 'तीव्र विकृत' कहलाता है।ऐसेस्वरों की संख्याएकहोती है।मस्वर तीव्र विकृत कहलाता है। एक अन्य दृष्टिकोण से स्वरों केदो प्रकार बताएगएहैं - 1. अचल स्वर 2. चल स्वर

1. अचल स्वर— वह स्वर अचल कहलाते हैंजो सदैव शुद्ध अवस्था मेंहोते हैं, अर्थात कभी भीविकृत नहीं होते। सा (षड़ज) और प (पंचम)स्वर अचल कहलाते हैं।

2. चल स्वर— सा (षड़ज) और प (पंचम) स्वरको छोड़ कर जो भी स्वर शुद्ध तथा विकृत (कोमल अथवा तीव्र) दोनोंअवस्था में होते है उन्हें चल स्वर कहा जाता है। रे,ग, म, धऔरनी चल स्वर कहलाते हैं,जिनमें से रे,ग, धऔरनी कोमल तथा म तीव्र स्वरकहलाता है।

स्वरों के विभिन्न प्रकारों के अध्धयन के अनुसार प्रत्येक सप्तक में 7 शुद्ध स्वर, 4 कोमल स्वर और 1 तीव्र स्वर, कुल मिलाकर 12 स्वर माने गए हैं। 12 स्वरों के क्रम को निम्न प्रकार से दर्शाया जाता है:-

सा, रे, रे, ग, ग, म, मं, प, ध, ध, नी, नी

2.3.2 श्रुति—

श्रुति के विषय में विद्वानों का मत है कि वह संगीतोपयोगी नाद जिसे कान से सुना जा सके, जो रंजक हो तथा जिसको सुनकर आनंदानुभूति हो, श्रुति कहलाएगा।शारंगदेव ने अपने ग्रंथ संगीत रत्नाकर में कहा है - 'श्रुयन्त इति श्रुतयः',अर्थातजो सुनाई दे वही श्रुति है।किन्तु प्रत्येक सुनाई देने वाली ध्वनि संगीतोपयोगी ध्वनि या कहें की श्रुति नहीं हो सकती। अतः विद्वानों ने श्रुति के लिए कहाकि वह संगीतोपयोगी ध्वनि जो स्पष्ट सुनाई देव एक-दूसरे से स्पष्ट तथा अलग-अलग पहचानी जा सके, उसे श्रुति कहेंगे। विद्वानों ने श्रुतियों की संख्या 22 मानी है। अर्थात् प्रत्येक सप्तक में 22 श्रुतियाँ हैं। 22 श्रुतियों के नाम निम्नवत हैं:-

1.	तीव्रा	9.	क्रोधा	17.	आलापिनी
2.	कुमुद्वती	10.	वज्रिका	18.	मदन्ती
3.	मन्दा	11.	प्रसारिणी	19.	रोहिणी
4.	छन्दोवती	12.	प्रीति	20.	रम्या
5.	दयावती	13.	मार्जनी	21.	उग्रा
6.	रंजनी	14.	क्षिति	22.	क्षोभिणी
7.	रक्तिका	15.	रक्ता		
8.	रौद्री	16.	संदीपनी		

विद्वानों ने22 श्रुतियों को सात मुख्य स्वरों में विभाजित किया है। यह विभाजन 'चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपंचमा। द्वै द्वै निषादगांधारौ तिस्त्री ऋषमधैवतौ'के आधार पर किया गया है। अर्थात् षड्ज, मध्यम और पंचम स्वर के लिये चार-चार, ऋषभ और धैवत स्वर के लिये तीन-तीन तथा गांधार और निषाद के लिये दो-दो श्रुतियां निर्धारित की गयी हैं। श्रुति विभाजन का यह सिद्वान्त प्राचीन काल से वर्तमान तक संगीत विद्वानों एवं कलाकारों के मध्य मान्य है।

श्रुति एवं स्वर का अत्यंत ही आंतरिक संबंध है।संगीतपारिजात ग्रंथ में पंडित अहोबल ने श्रुति एवं श्रुति व स्वर के आपसी सम्बन्ध के विषय में उल्लेख किया है:

श्रुतयः स्युः स्वराभिन्नाः श्रावणत्वेन हेतुना।

अहि कुण्डवत्तत्र भेदोक्तिः शास्त्रसम्यता।। सं0पा0 38

अर्थात् जो सुनी जा सके वही श्रुति है। जैसा भेद सांप और उसकी कुण्डली मेंहोता है वैसा ही श्रुति और स्वर में भी है। यही भेद शास्त्रसम्मत है।

2.3.3 आलाप—

भारतीय संगीत मुख्यतः शास्त्रीय संगीत मेंआलाप का अत्यधिक महत्व है।आलाप राग से संबंधित है।आलाप के माध्यम से संगीतकार राग के विशेष स्वरों जैसे वादी, संवादी आदि स्वरों को प्रदर्शित करते हुए राग का विस्तार करता है तथा वर्ण, अलंकार, गमकआदि से राग को विभूषित भी करता है। यह भी कहा जाता है कि राग के स्वरूपको प्रस्तुत करने के लिए आलाप का प्रयोग किया जाता है।

वर्तमान समय में आलाप दो प्रकार का माना गया है - प्रथम अनिबद्ध आलाप, जिसे गायक या वादक राग की मुख्य रचना से पहले प्रस्तुत करता है। अनिबद्ध आलापताल रहित होता है।दूसरा ताल-बद्ध आलाप होता है जिसे गायक या वादक मुख्य रचना के साथ प्रस्तुत करता है।प्राचीन काल में आलाप के कई प्रकार प्रचलित हुआ करते जैसे- रागालाप, रूपकालाप,आलाप्तिगान, स्वस्थान-नियमआदि।

2.3.4 राग— भारतीय संगीत में राग का महत्वपूर्ण स्थान है।विद्वानों के अनुसार स्वरों, वर्णों,अलंकार आदिसे निर्मित एक रचना, जिसकेश्रवण से आनन्द की अनुभूति हो, राग कहलाती है। राग के विषय में मतंग लिखते हैं:-

योऽसौ ध्वनि विशेषस्तु स्वरवर्ण विभूषितः।
रंजको जनचित्तानां स च रागः उदाहृतः। बृहद्देशी, श्लोक 264।

अर्थात् ''ध्वनि की वह विशेष रचना जो स्वरों तथा वर्णों द्वारा विभूषित हो और श्रोता को रंजक लगे या उसके चित्त को मोह ले, राग कहलाती है।'' विद्वानों का मत है कि राग से विभिन्न रसों की अनुभूति संभव है तथा इस रसानुभुति से ही श्रोताओं को आनन्द की प्राप्ति होती है।

राग के लक्षण/नियम— प्राचीनकाल से ही विद्वानों द्वारा राग के लिए कुछ नियम निर्धारित किए गए, जो वर्तमान तक भी प्रचलन में हैं।प्रत्येक राग को निर्धारित नियमों या लक्षणों के अनुरूप ही गायाया बजाया जाता है।निर्धारित नियमों के विरूद्ध राग का गायन या वादन,अशुद्ध माना जाता है। प्राचीनकाल में राग के 10 नियम या लक्षण- ग्रह, अंश, न्यास, अपन्यास, औड़व, षाड़व, अल्पत्व, बहुत्व, मन्द्र और तारमाने जाते थे। इननियमों या लक्षणों में से ग्रह, न्यास व अपन्यास का प्रयोग आधुनिक समय में देखने को नहीं मिलता है। शेषलक्षणवर्तमान समय में भी प्रचलन में हैं।

वर्तमान समय में राग के प्रचलितनियम या लक्षण निम्नवत हैं:-

1. राग का किसी थाट से उत्पन्न होना आवश्यक है।
2. राग में न्यूनतम 5 स्वर का होना आवश्यक है।
3. राग में आरोह एवं अवरोह दोनों होने चाहिए।
4. राग में वादी-संवादी दोनों स्वर होने चाहिए।
5. राग में रंजकता का होना आवश्यक है।
6. राग में कभी भी षड़ज स्वर वर्जित नहीं हो सकता, क्यूंकि षड़ज स्वर को आधार व अचल स्वर माना जाता है।
7. राग किसी रस कोआवश्यक रूप से अभिव्यक्त करता हो।

राग की जातियां—

राग के निर्धारित नियमानुसार किसी राग में न्यूनतम5 और अधिकतम 7 स्वर होने चाहिए। इस प्रकार रागों में प्रयुक्त होने वाले स्वरों की संख्या के आधार पर रागों को मुख्यतः तीन प्रकार में विभाजित किया गया है - सम्पूर्ण,षाड़वव औड़व। इन्हीं प्रकारों को राग की जातियां कहा जाता है।

1. सम्पूर्ण जाति - सम्पूर्ण जाति के राग में सातों स्वरोंका लगाव होता है। जैसे - बिलावलराग
2. षाड़व जाति- षाड़व जाति के राग में छः(06) स्वरोंका लगाव होता है। जैसे - मारवाराग
3. औड़व जाति- औड़वजाति के राग में पाँच(05) स्वरोंका लगाव होता है। जैसे - भूपाली राग

राग में आरोह व अवरोह दोनों होते हैं, तथा आरोह व अवरोह दोनों में स्वरों की संख्या समान न होकर कम या अधिक भी होती है।अतःआरोह-अवरोह में स्वरों की संख्या के आधार परइन तीन जातियों की भी तीन-तीन उपजातियाँ बनती हैं।इस प्रकार राग की कुल 9 जातियां बनती हैं, तथा इनके अन्तर्गत भारतीय संगीत के प्रत्येक राग को वर्गीकृत किया जा सकता है। आरोह-अवरोह में स्वरों की संख्या आधारित 9 जातियां का विवरण निम्नवत है:-

1. सम्पूर्ण - सम्पूर्ण जाति - आरोह में 7 स्वरतथा अवरोह में भी 7 स्वर
2. सम्पूर्ण - षाड़व जाति - आरोह में 7 स्वर तथा अवरोह में 6 स्वर
3. सम्पूर्ण - औड़व जाति - आरोह में 7 स्वर तथा अवरोह में 5 स्वर
4. षाड़व - सम्पूर्ण जाति - आरोह में 6 स्वर तथा अवरोह में 7 स्वर
5. षाड़व - षाड़व जाति - आरोह में 6 स्वर तथा अवरोह में भी 6 स्वर
6. षाड़व - औड़व जाति - आरोह में 6 स्वर तथा अवरोह में 5 स्वर
7. औड़व - सम्पूर्ण जाति - आरोह में 5 स्वर तथा अवरोह में 7 स्वर
8. औड़व - षाड़व जाति - आरोह में 5 स्वर तथा अवरोह में 6 स्वर
9. औड़व - औड़व जाति - आरोह में 5 स्वर तथा अवरोह में भी 5 स्वर

2.3.5 सप्तक —

भारतीय संगीत के अनुसार स्वरों का वह समूह जिसमें सात स्वरों को एक क्रम में कहा या लिखा जाए, सप्तक कहलाता है। अर्थात जब हम सातों स्वरों सा, रे, ग, म, प, ध, नी को क्रमानुसार गाए या लिखेँ तो उसे सप्तक कहेंगे।सा स्वर से नी स्वर तक एक सप्तक होगा तथा नी स्वर के पश्चात जब पुनः सा स्वर आएगा तो यहाँ से दूसरा सप्तक माना जाता है।दूसरे सप्तक में सा स्वर से नी स्वर तक सभी स्वर पहले वाले सप्तक के स्वरों से दुगुने ऊँचे होंगे। प्रत्येक सप्तक में शुद्ध एवं विकृत स्वर मिलाकर कुल 12 स्वर होते हैं, जिसमें से 7 स्वर शुद्ध तथा 5 स्वर विकृत होते हैं।

इस प्रकार कई सप्तकों का निर्माण संभव है, किन्तु विद्वानों ने सर्वसम्मति से मुख्यतः तीन सप्तक ही स्वीकार किए हैं - मंद्र सप्तक, मध्य सप्तक एवं तार सप्तक।विद्वानों ने मनुष्य की आवाज की सीमा के आधार पर ही यह तीन सप्तक निर्धारित किए हैं, जबकि कुछ वाद्य इन सप्तकों के स्वरों के अतिरिक्त स्वर भीउत्पन्न करने में सक्षम होते हैं। तीन प्रकार के सप्तकों का विवरण निम्नवत है:

(i)मध्य सप्तक—

साधारणतः मनुष्य जिस आवाज़ में बात करता है या गाता है या बजाता है,उसे मध्य सप्तक कहा जाता है।इस सप्तक में सांगीतिक ध्वनि अर्थात स्वर न तो बहुत ऊँचे होते हैं और न ही बहुत नीचे, अर्थात मध्य के होते हैं। इसलिए इसे मध्य सप्तक कहा जाता है।सामान्यतः मध्य सप्तक के स्वरों को गाने में गले पर ज़ोर नहीं लगता है। मध्य सप्तक में स्वरों को निम्न प्रकार से प्रदर्शित किया जाता है: — सा, रे, रे, ग, ग, म, म॑, प, ध, ध, नी, नी

(ii) मन्द्र सप्तक - मध्य सप्तक से नीचे के सप्तक को मन्द्र सप्तक कहा जाता है। अर्थात मंद्र सप्तक के स्वर,मध्य सप्तक के स्वरों से दुगुने नीचे होते हैं। मंद्र सप्तक के स्वरों को लगाने में हृदय पर जोर पड़ता है। मंद्र सप्तक के स्वरों को दर्शाने के लिए उनके नीचे एक बिन्दु लगा दिया जाता है। मंद्र सप्तक में स्वरों को निम्न प्रकार से प्रदर्शित किया जाता है: —**सा़, रे़, रे, ग़, ग़, म़, म़॑, प़, ध़, ध़, नी़, नी़**

(iii) तार सप्तक—

मध्य सप्तक से ऊपर के सप्तक को तार सप्तक कहा जाता है। अर्थात तार सप्तक के स्वर, मध्य सप्तक के स्वरों से दुगुने ऊँचे होते हैं। तार सप्तक के स्वरों को लगाने मेंतालु तथा मस्तिष्क पर जोर पड़ता है।तार सप्तक के स्वरों को दर्शाने के लिए उनके ऊपर एक बिन्दु लगा दिया जाता है।तार सप्तक में स्वरों को निम्न प्रकार से प्रदर्शित किया जाता है: — **सां, रें, रें, गं, गं, मं,मं, पं, धं, धं, नीं, नीं**

2.3.6 ताल—

भारतीय संगीत इतना विस्तृत एवं विविधता लिए हुए है कि इसमें केवल मात्रा से काम संभव नहीं है।इसलिए भारतीय संगीत में ताल एक महत्वपूर्ण घटक माना जाता है।मात्राओं से हमें समय की गति का पता चलता है, अतः विद्वानों ने मात्राओं को नापने के लिए ताल का निर्माण किया। पारिभाषिक रूप से कहा जाए तो मात्राओं का समूह ताल कहलाता है।भारतीय संगीत के दो आधार स्तम्भ माने गए हैं- स्वर और लय। विद्वानों के अनुसार लय से मात्रा और मात्रा से ताल का निर्माण हुआ।संगीत में लय कायम करना ही ताल का मुख्य उद्देश्य माना गया है।भारतीय संगीत में कई तालें हैं जिनमें से कुछ प्रमुख तालें हैं - तीनताल, झपताल, एकताल, चारताल, रूपक, कहरवा, दादरा आदि। विभिन्न विद्वानों ने ताल की परिभाषाएं दी हैं, जिनमें से कुछ निम्नवत हैं:

- भरत मुनि के अनुसार - "संगीतमेंगायनववादनकीलंबाईनापने का साधन, ताल है"।
- आचार्य शारंगदेव के अनुसार:

तालस्तल प्रतिष्ठायाम् इति धार्तोधञि स्मृतः।
गीतं वाद्यं तथा नृत्यं यतस्ताले प्रतिष्ठितम्।।

अर्थात गीत, वाद्य एवं नृत्य की प्रतिष्ठा ताल से हुई है तथा प्रतिष्ठा वाचक धातु रुप तल सेताल की उत्पत्ति हुई है।

ताल अवनद्य वाद्यों पर बजाई जाती है, जिसमें तबला और पखावजमुख्य वाद्य हैं।प्रत्येक ताल का निर्माण कुछ निश्चित वर्ण या बोल जैसे धा, ना, धी, धिं, तिं,किट, तक, गदि गन, तिरकिट आदि से मिलकर होता हैं, जिसे तबले अथवा पखावज पर बजाया जाता है।तबले पर जिन तालों का प्रयोग किया जाता है उनमें मुख्यतः बन्द बोल होते हैं तथा पखावज परजिन तालों का प्रयोग किया जाता है उनमें मुख्यतः खुलेबोल होते हैं।

तालों की रचना के विषय में विद्वानों का मत है कि गीत के प्रकारों या वाद्यों के साथ संगत हेतुविभिन्न तालों का निर्माण हुआ। जैसे ध्रुपद गायन के लिए चारताल, सूलताल, ब्रह्मताल आदि व धमार (होली) के लिए धमार ताल;ख्याल गायन के लिए तीनताल, एकताल, झपताल, तिलवाडा़ आदि; ठुमरी के लिए दीपचन्दी तथा जतताल का निर्माण हुआ।

तालों को हस्त क्रियाओं से भी प्रदर्शित किया जाता है जिसे पढ़न्त करना कहते हैं।

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र ग्रंथ में ताल के दस प्राण - काल, मार्ग, क्रिया, अंग, ग्रह, जाति, कला, लय, यति तथा प्रस्तार बतलाए हैं। वर्तमान भारतीय संगीत में इनमें से कुछ प्राणों का ही प्रयोग देखने को मिलता है।

2.3.7 लय— ब्रह्मांड में उपस्थित प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी गति के अधीन माना गया है,जिसे उसकी लय कहा गया। पदार्थ कोउस लय के अनुशासन में रहना अनिवार्य होता है। ऐसा कहा जा सकता है कि बिना लय के उसका अस्तित्व संभव नहीं।प्रत्येक जीव के अंगों जैसे हृदयका धड़कना, नाड़ी का चलनाएक निश्चितलय के आधार पर ही होता है, पृथ्वी स्वयं की धुरी पर एक निश्चित लय से घूमती है।लय में व्यवधान होने पर खतरे की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

भारतीय संगीत के दो आधार स्तम्भ माने गए हैं - स्वर और लय। संगीत फिर चाहे गायन हो, वादन हो या नृत्यसभी में लय अनिवार्य रूप से विद्यमान रहती है।लय का संबंध समय से है, अतः लय के विषय में कहा जाता है किसमय की समान गति, लय कहलाती है।दूसरे शब्दों में कहें तो संगीत में प्रयोग की जाने वाली गति 'लय' कहलाती है।कुछ विद्वानों ने लय को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है :

- पंडित शारंगदेव के अनुसार - 'क्रियानान्तर विश्रांति लयः' अर्थात क्रिया के अन्त में विश्रांति को लय कहा जाता है।
- अमरकोश के अनुसार - 'क्रिया विश्रांति लयः' अर्थात दो क्रियाओं के बीच के अन्तराल को लय कहते हैं।

लय की परिभाषा के आधार पर देखें तो इसके कई प्रकार हो सकते हैं।परन्तु विद्वानों ने लय को मुख्यतः तीन लयों में विभाजित किया है - विलम्बित लय, मध्य लय एवं द्रुत लय।

1. विलम्बित लय— वह लय जिसकीगति बहुत कम हो, उसे विलम्बित लय कहा गया है। गायन विधा में बड़ा ख्याल, तंत्र वाद्य में मसीतखानी गत तथातबला एकल वादन में कायदा आदि का प्रस्तुतिकरणविलम्बित लय में किया जाता है।

2. मध्य लय— जिस लय की गति न तो बहुतकम और न ही बहुत अधिक हो, अर्थात साधारण गति हो उसे 'मध्य लय' कहा जाता है। गायन विधा में छोटा ख्याल, तंत्र वाद्य में रजाखानी गत तथा तबला एकल वादन में रेलाआदि का प्रस्तुतिकरण मध्य लय में किया जाता है।

3. द्रुत लय— जिस लय की गति द्रुत अर्थात तेज हो, उसे 'द्रुत लय' कहा जाता है। द्रुत लय की गति मध्य लय से दुगुनी तथा विलम्बित लय से चौगुनीमानी जा सकती है। गायन विधा में तराना, तंत्र वाद्य में झाला तथा तबला एकल वादन में टुकड़ेआदि का प्रस्तुतिकरण द्रुत लय में किया जाता है।

विद्वानों का मत है कि इन तीन लयों के मध्य कोई निश्चित रेखा का निर्धारण संभव नहीं है जिससे ये बताया जा सके कि अमुक लय से कितना पहले या कितना बाद में दूसरी लय होगी।इन्हें सापेक्षिक माना जाना ही उचित होगा।

लय के साथ लयकारी पर भी चर्चा करना आवश्यक है।लय तथा लयकारी का आंतरिक संबंध है।लय के विभिन्न दर्जे को प्रदर्शित करना लयकारी कहलाता है। जिस प्रकार लय के विभिन्न प्रकार देखने को मिलते हैं उसी प्रकार लयकारी के भी विभिन्न प्रकार देखने को मिलते हैं।विद्वानों ने लयकारी के दो मुख्य प्रकार माने हैं - 1. सीधी लयकारी तथा 2. वक्र या आड़ लयकारी।सीधी लयकारी के अन्तर्गत दुगुन,चौगुन आदि लयकारियाँ आती हैं तथा वक्र या आड़ लयकारी के अन्तर्गत आड़, कुआड़, बिआड़ आदि लयकारियाँ आती हैं।

2.3.8 आवर्तन— आवर्तन का अर्थ आवृति या चक्र से है।भारतीय संगीत में आवर्तन मुख्यतः ताल के परिप्रेक्ष्य में प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक ताल को पूर्ण रूप से एक बार बजाने पर उसकी एक आवृति या चक्र पूर्ण होता है, इसी को आवर्तन कहा जाता है। संगीतकार ताल केपूर्ण ठेके की जितनी आवृति या चक्र बजाऐंगे, उतने आवर्तन होंगे। उदाहरण के लिए झपताल का एक आवर्तन:

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	1
धी	न	धी	धी	न	ती	न	धी	धी	न	धी
×		2			0		3			×

झपताल के दो आवर्तन :

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	
धी	न	धी	धी	न	ती	न	धी	धी	न	
×		2			0		3			

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	1
धी	न	धी	धी	न	ती	न	धी	धी	न	धी
×		2			0		3			×

2.3.9 ताली— भारतीय संगीत में ताल प्रदर्शित करने के लिए ताली का प्रयोग किया जाता है।ताली में मुख्यतः हाथ से आघात कर ध्वनि उत्पन्न की जाती है। किसी भी ताल की जब पढ़न्त की जाती है तो खाली की मात्रा को छोड़कर सभी विभाग की प्रथम मात्रा को ताली से प्रदर्शित किया जाता है।अर्थात ताली, ताल के विभाग के आरंभ की सूचना भी प्रदान करती है।ताल की प्रथम मात्रा, जो ताली से प्रदर्शित की जाती है, सम कहलाती है।सम को ×चिह्न से प्रदर्शित किया जाता है।जैसे तीनताल की1, 5 व 13वीं मात्रापर तथा झपताल की 1, 3व 8वीं मात्रापर ताली होती है।

2.3.10 खाली— भारतीय संगीत में ताल प्रदर्शित करने के लिए खाली का प्रयोग भी किया जाता है।खाली में हाथ से ध्वनि उत्पन्न न करते हुए हाथ को केवलदाहिने या बाएँ ओर झुका दिया जाता है । किसी भी ताल की जब पढ़न्त की जाती है तो खाली वाले विभाग की प्रथम मात्रा को खाली से प्रदर्शित किया जाता है। अर्थात ताली के समान ही खाली भी ताल के विभाग के आरंभ की सूचना प्रदान करती है ।खाली को 0 चिह्न से प्रदर्शित किया जाता है।जैसे तीनताल की9वीं मात्रापर तथा झपताल की 6ठी मात्रापरखाली होती है।

2.3.11 विभाग— भारतीय संगीत में विभाग, मुख्यतः ताल से संबंधित माना गया है।प्रत्येक ताल का अपना चलन या लय होती है तथा ताल का चलन या लय उसकी मात्रा, मात्रा विभाजन आदि पहलुओं पर निर्भर करता है।प्रत्येक तालमें मात्राओं का विभाजन एक विशेष रूप से किया जाता है, अर्थात ताल को कुछ मात्राओं के समूह में विभाजित किया जाता है। ताल की मात्राओं का विभाजन जिससे किया जाता है उसे विभाग कहते हैं।विद्वानों के अनुसार विभाग का उद्देश्य यह है कि संगीतकार कोहाथ से ताल की पढ़न्त करनेसे प्रस्तुति के समय वह किस मात्रा पर है,उसका ज्ञान होता रहे।साथ ही दूसरों को ताल, ताल की मात्रा संख्या आदि का पता चल सके।

प्रत्येक ताल के निश्चित विभाग होते हैं। ताल के विभाग के लिए एक खड़ी रेखा (।)का प्रयोग किया जाता है।प्रायः विभाग 1 मात्रा से लेकर 5 मात्रा तक देखने को मिलते हैं।ताल में समान मात्राओं के साथ-साथ,अलग-अलग मात्राओं के विभाग भी देखने को मिलते हैं।उदाहरणस्वरूपतीनताल में 4 विभाग होते हैं। पहला विभाग 4 मात्रा का, दूसरा विभाग 4 मात्रा का, तीसरा विभाग 4 मात्रा का तथा चौथा विभाग भी 4 मात्रा का।तीनताल को विभाग रूप में 4।4।4।4के रूप में प्रदर्शित किया जाता है।

पहला विभाग - धा धिं धिं धा
दूसरा विभाग - धा धिं धिं धा
तीसरा विभाग - धा तिं तिं ता
चौथा विभाग - ता धिं धिं धा

इसी प्रकार झपताल में 4 विभाग होते हैं। पहला विभाग 2 मात्रा का, दूसरा विभाग 3 मात्रा का, तीसरा विभाग 2 मात्रा का तथा चौथा विभाग 3 मात्रा का।झपताल को विभाग रूप में 2।3।2।3 के रूप में प्रदर्शित किया जाता है।

पहला विभाग - धी ना
दूसरा विभाग - धी धी ना
तीसरा विभाग - ती ना
चौथा विभाग - धी धी ना

2.3.12 ठेका— ठेका ताल से संबंधित शब्द है।अवनद्य वाद्यों की प्रत्येक ताल कुछ निश्चित बोलों से निर्मितहोती है, जिसे उस ताल का ठेका कहते हैं। ताल की भाँति ही ठेके के अंतर्गत मात्रा,ताली, खाली, विभाग, समआते हैं। जैसे तीनताल का ठेका —

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	1
धा	धिं	धिं	धा	धा	धिं	धिं	धा	धा	तिं	तिं	ता	ता	धिं	धिं	धा	धा
×				2				0				3				×

झपताल का ठेका

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	1

धी न	धी धी न	ती न	धी धी न	धी
×	2	0	3	×

भारतीय संगीत में ताल के ठेके के विभिन्न प्रकार भी देखने को मिलते हैं।ठेके के विभिन्न प्रकारों में ताल की मात्रा, ताली, खाली,विभाग,चलन आदि में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता, केवल बोलोंको विभिन्न प्रकार से बजाया जाता है।ताल के ठेके को विभिन्न प्रकार से प्रदर्शित करना या बजाना, ठेके की किस्म कहलाता है। उदाहरण के लिए दादरा ताल की एक किस्मनिम्न प्रकार से बजाई जाती है:

1 2 3	4 5 6	1
धा धी नाना	धा तू नाना	धा
× 2	0	×

अभ्यास प्रश्न

(अ) वस्तुनिष्ठ प्रश्न:

1.एक सप्तक में कुल श्रुतियोंकी संख्या होती हैं:

(क) 20 (ख) 21 (ग) 22 (घ) 23

2.समय की समान गति को कहा जाता हैं:

(क) जाति (ख) लय (ग) लयकारी (घ) यति

3.निश्चित स्थान/अवस्था पर स्थित स्वर कहलाते हैं:

(क) शुद्ध (ख) विकृत (ग) वादी (घ) संवादी

4.निषाद स्वर की श्रुतियाँ मानी गई हैं:

(क) 1 (ख) 4 (ग) 3 (घ) 2

5.तार सप्तक के स्वरों को दर्शाने के लिए बिन्दु लगाया जाता है:

(क) स्वर के नीचे (ख) स्वर के ऊपर (ग) स्वर के दाएँ (घ) स्वर के बाएँ

6. ताल के प्राणों की संख्या होती हैं:

(क) 8 (ख) 9 (ग) 10 (घ) 11

7. छोटा ख्यालगाया जाता है:

(क) अति द्रुत लय (ख) द्रुत लय (ग) विलम्बित लय (घ) मध्य लय

8. सम को प्रदर्शित किया जाता है:

(क)× (ख) 0 (ग) $ (घ) *

9. राग की कुल जातियां होती हैं:

(क)8 (ख) 9 (ग) 10 (घ) 11

10. सम्पूर्ण - औड़व जातिके राग में आरोह-अवरोह में स्वरों की संख्या होती है:-

(क)7,7 (ख) 7,6 (ग) 7, 5 (घ) 7,4

(ब) रिक्त स्थानों की पूर्ति:

1. एक सप्तक में शुद्ध व विकृत मिलाकर कुल---------- स्वर होते हैं।
2. षड़ज और पंचमस्वर ..... स्वर कहलाते हैं।
3. धैवत स्वर की ..... श्रुति मानी गई है।
4. ताल रहित आलाप को ..... आलाप कहतेहैं।
5. मात्राओं का समूह ..... कहलाता है।
6. चारताल का प्रयोग ..... गायन के लिए किया जाता है।
7. तराना..... लय में गाया जाता है।
8. खाली को ..... चिह्न से प्रदर्शित किया जाता है।
9. प्राचीनकाल में राग के ..... नियम/लक्षणमाने गए।
10. ताल के ठेके को पूर्ण रूप से एक बार बजाने को ..... कहते हैं।

(स) लघु उत्तरीय प्रश्न:

1. स्वरकी व्याख्या किजिए।
2. राग के नियम या लक्षण लिखिए।
3. लय को समझाइए।

2.4 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप संगीत, मुख्यतः भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रयोग होने वाले मूलभूत शब्दों को पारिभाषिक रूप से जान चुके होंगे। आप इन धारक तत्वों के अंतर एवं अंतरसंबंधों को भी समझ चुके होंगे। आप यह भी जान चुके होंगे कि इनका संगीत में क्या महत्व है। साथ हीइन धारक तत्वों को समझ कर आप संगीतके क्रियात्मक पक्ष में भी इनका उचित प्रयोग कर सकेंगे।

2.5 शब्दावली

1.रंजक	-	मधुर
2.संगीतोपयोगी	-	संगीत के लिए उपयुक्त
3.ताल रहित	-	बिना ताल के
4.विभूषित	-	सजाना
5. श्रोत्रचित्त	-	सुनने वाले का हृदय
6.कम्पन	-	आन्दोलन

2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

(अ) वस्तुनिष्ठ प्रश्न:

1.(ग) 22 2.(ख) लय

3.(क) शुद्ध 4.(घ) 2

5.(ख) स्वर के ऊपर 6. (ग) 10

7. (घ) मध्य लय 8. (क)×
9. (ख) 9 10. (ग) 7, 5

(ब) रिक्त स्थानों की पूर्ति:

1. 12 स्वर 2.अचल स्वर
3. 3 श्रुति 4.अनिबद्ध आलाप
5. ताल 6. ध्रुपद गायन
7. द्रुत लय 8. 0 चिह्न
9. 10 नियम/लक्षण 10. आवर्तन

2.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. श्रीवास्तव, श्री हरीश चन्द्र,राग परिचय भाग 1 व 2, संगीत सदन प्रकाशन, इलाहाबाद।
2. वसन्त, संगीत विशारद, संगीत कार्यालय, हाथरस।
3. परांजपे, श्रीधर, संगीत बोध।
4. गोवर्धन, श्रीमती शान्ति, संगीत शास्त्र दर्पण।
5.चौधरी, डा0 सुभाष रानी, संगीत के प्रमुख शास्त्रीय सिद्धान्त, कनिष्का पब्लिशर्स, नई दिल्ली।
6. बंसल, डॉ0 परमानन्द,संगीत सागरिका, प्रासंगिक पब्लिशर्स, नई दिल्ली।
7. ठाकुर,पं0 ओंकारनाथ,संगीतांजली।
7. साभार गूगल।

2.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, अनु0 डा0 रघुवंश (1964), मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली।
2. परांजपे, श्री शरतचन्द श्रीधर, संगीत बोध, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1986।
3. मदन, श्री पन्ना लाल, संगीत शास्त्र विज्ञान, अभिषेक पब्लिकेशन, चन्डीगढ, 1991।
4. ठाकुर, पंडित ओंकार नाथ, प्रणव भारती, वाराणसी, 1997।
5. सिंह, श्री ललित किशोर, ध्वनि और संगीत, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 1971।
6. बृहस्पति, आचार्य कैलाश चन्द्रदेव, संगीत चिन्तामणी, बृहस्पति प्रकाशन, दिल्ली।

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. श्रुति एवंस्वर काविस्तृत वर्णन प्रस्तुत कीजिए।
2. राग तथा आलाप पर चर्चा कीजिये।
3. लय व लयकारी को समझाइए।

खण्ड-चार (Section-D)
संस्कृति के तत्व

इकाई-1 भारतीय संस्कृति

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 संस्कृति का अर्थ
    1.3.1 संस्कृति का मानव शास्त्रीय अर्थ
    1.3.2 संस्कृति का समाजशास्त्रीय अर्थ
    1.3.3 मानव संस्कृति के निर्माता के रूप में
    1.3.4 संस्कृति के लक्षण
    1.3.5 संस्कृति के तत्व
    1.3.6 संस्कृति और संस्कृति संकुल
1.4 भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति
    1.4.1 भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति में अन्तर
    1.4.2 संस्कृति की विशेषताएं
1.5 गौरवशाली भारतीय संस्कृति
    1.5.1 संस्कृति का अवधारणा
    1.5.2 भारतीय संस्कृति के मानदण्ड
    1.5.3 जीवन की पूर्णता एवं इस जीवन का नश्वरता बोध
    1.5.4 उतरदायित्व की पवित्रता
    1.5.5 मनुष्य के सर्वविधि उन्नति पर जोर
    1.5.6 भू-सांस्कृतिक राष्ट्रीयता
    1.5.7 सभ्यता और संस्कृति का संबन्ध
1.6 पुराण भारतीय संस्कृति के आधारस्तम्भ
1.7 सारांश
1.8 पारिभाषिक शब्दावली
1.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियो!

भारतीय ज्ञान परम्परा में प्रमाण-पत्र कार्यक्रम (CCIKS-24) **कला एवं संस्कृति (Indian Artand Culture)** नामक पाठ्यक्रम के खण्ड चतुर्थ से सम्बन्धित यह प्रथम इकाई है। इस खण्ड में संस्कृति की परिभाषा, संस्कृति का अर्थ, संस्कृति का मानवशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय अर्थ के साथ संस्कृति के लक्षण, तत्व, भौतिक-अभौतिक के रूप में संस्कृति के भेद, संस्कृति की विशेषताएं के ज्ञान के साथ-साथ हमारा भारतीय संस्कृति के मापदण्ड, जीवन का पूर्णता तथा नश्वरता का बोध, उत्तरदायित्व की पवित्रता, मनुष्य की सर्वविध उन्नति पर जोर देते हुए गौरवशाली भारतीय संस्कृति की वर्णन हैं।

संस्कृति का वर्तमान रूप किसी समाज की दीर्घकाल तक अपनाई गई पद्धतियों का परिणाम होता है और समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य की सभी उपलब्धियां उसकी संस्कृति से प्रेरित मानी जा सकती हैं। संस्कृति की सहायता से ही उसने निरन्तर प्रगति की है और विकास के विभिन्न सोपानों को तय किया है। वह भाषा व प्रतीकों के माध्यम से विचारों का संप्रेषण तथा ज्ञान, विज्ञान का विकास एवं अपने चिन्तन के परिणामों को भावी पीढ़ियों को हस्तांतरित कर सका है। उसका मस्तिष्क कार्य और कारण के तार्किक आधार को स्थापित कर सकता है। संपूर्ण जीवधारियों में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जिसमें संस्कृति का निर्माण और उसको परंपरागत रूप से बनाए रखने की क्षमता है। इसी कारण मनुष्य को संस्कृति का निर्माता भी कहा जाता है। सामाजिक घटनाओं के विश्लेषण में व्यक्तित्व, समाज और संस्कृति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। मनुष्य को कुछ निश्चित व्यवहार जन्म से या आनुवांशिक रूप से प्राप्त होते हैं, लेकिन सामाजिक व सांस्कृतिक व्यवहार वह परिवार, समूह व समाज से, जिसमें वह निवास करता है, सीखता है। सांस्कृतिक क्रियाकलापों से सभ्यता का विकास होता है। संस्कृति के अभाव में सभ्यता अपना अस्तित्व बनाए नहीं रख सकती। संस्कृति और सभ्यता की प्रगति अधिकतर एक साथ होती है और दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव भी पड़ता है।

इस इकाई के अध्ययन से आपको भारतीयता का बोध के साथ-साथ संस्कृति के सामान्य अर्थ, विभिन्न ऐतिहासिकों के मत, समाजशास्त्रियों के संस्कृति के सम्बंधित मत प्राप्त होंगे।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई किा अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- संस्कृति की परिभाषा, सामान्य अर्थ, मानवशास्त्रीय अर्थ, समाजशास्त्रीय अर्थ से अवगत हो सकेंगे।
- मानव संस्कृति के विषय में बता सकेंगें।
- संस्कृति के लक्षण, भौतिक-अभौतिक के रूप में संस्कृति के भेद को जान सकेंगे।
- संस्कृति की विशेषताएं से अवगत हो सकेंगे।

1.3 संस्कृति का अर्थ

संस्कृति शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। संस्कृति शब्द की व्युत्पति संस्कृति की सम्+कृ धातु से हुई है जिसका अर्थ है पूरा किया हुआ या परिष्कृत किया गया। संस्कार शब्द

का अर्थ भी इसी प्रकार का है। अर्थात विभिन्न कार्यों को पुरा करना संस्कार कहलाता है। इस प्रकार संस्कृति भी विभिन्न संस्कारों द्वारा सामूहिक जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति कराती है जिनके करने से मानव सामाजिक प्राणी बनता है। कैम्ब्रिज इंग्लिश डिक्शनरी में संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार दी गई है-"The way of life, especially the general customs and beliefs of a particular group of people at a particular time." अर्थात् किसी विशेष कालावधि में एक विशेष मानव समूह के द्वारा अपनाई गई जीवन शैली, विशेष रूप से उनकी परंपराएं और अवधारणाएं तथा विश्वास को संस्कृति कहा जा सकता है। साहित्यकारों ने संस्कृति को सामाजिक शिष्टता एवं बौद्धिक श्रेष्ठता के अर्थ में प्रयुक्त किया है। समाजशास्त्रियों ने संस्कृति को नैतिक,आध्यात्मिक और बौद्रिक उपलब्धियों के लिये प्रयोग किया है। इस प्रकार संस्कृति अनेक अर्थों में विद्वानों द्वारा प्रयुक्त की गई है। वास्तव में यह व्यक्ति के समग्र जीवन से सम्बधित होती है, जो विभिन्न संस्कारों द्वारा संस्कारित होती है और मानव को संस्कारित व सामाजिक प्राणी बनाती है।

यह एक अवधारणात्मक तथ्य है जो ऐतिहासिक विकास में किसी भूमि पर बसने वाले जन समूह की विशिष्टता को व्यावर्तित कर, उसे अन्य भूमि के जन से पृथक करती हे। इसलिए उसको किसी भूमि पर लम्बे समय से निवास कर रहे जन समूह के चिति के रूप में समझा जा सकता है अर्थात समष्टिगत अनुभव को जो ऐतिहासिक विशिष्टता से युक्त होता है,संस्कृति कहा जा सकता है।

1.3.1 संस्कृति का मानव शास्त्रीय अर्थ—

मानवशास्त्रियों ने संस्कृति का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया है—

(1) टायलर के अनुसार संस्कृति वह जटिल समग्रता है, जिसमें ज्ञान,विज्ञान,कला, आचार,कानून, प्रथा एवं इसी प्रकार की अन्य क्षमताएं व आदतें सम्मिलित हैं जिन्हें मनुष्य समाज का सदस्य होने के कारण प्राप्त करता है।

टायलर की परिभाषा के आधार पर स्पष्ट है कि मनुष्य अपने सामाजिक जीवन में जो कुछ सीखता है समाज से प्राप्त करता है, वह संस्कृति है या संस्कृति एक सामाजिक विरासत है, समाज द्वारा मानव को दिया हुआ उपहार है।

(2) मैलिनोवस्की के अनुसार '' संस्कृति व्युत्पन्न आवश्यकताओं की एक व्यवस्था और उद्देश्य क्रियाओं की एक संगठित व्यवस्था है।'' इस परिभाषा के अनुसार संस्कृति में व्यक्ति की शारीरिक मानसिक और अन्य सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले तरीकों को लिया गया है।

(3) हॉवेल ने कहा है कि ''संस्कृति सम्बन्धित सीखे हुए व्यवहार-प्रतिमानों का सम्पूर्ण योग है जो किसी समाज के सदस्यों की विशेषताओं को बताता है और इसीलए प्राणिशास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं होता। हॉवेल ने इस परिभाषा में संस्कृति को सामाजिक आविष्कारों का परिणाम बताया है, वंशानुक्रमण द्वारा इसका निर्धारण नहीं होता।

(4) राल्फ पिडिंगटन के मतानुसार'' संस्कृति उन भौतिक एवं बौद्धिक साधनों अथवा उपकरणों का सम्पूर्ण योग है जिनके द्वारा व्यक्ति अपनी प्राणीशास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करता है और अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है'' पिडिंगटन ने अपनी परिभाषा में संस्कृति में दो पक्षों को सम्मिलित किया है- (1) भौतिक वस्तुएं-जिनमें भवन,

बर्तन, वस्त्र, औजार, आदि आते है, और(2) अभौतिक बाते जिनमें ज्ञान ,मूल्य,विश्वास आदि समाहित है। संस्कृति के दोनों ही पक्ष एक -दूसरे के पूरक है।

(5) हरकोविट्स के शब्दों में , '' संस्कृति पर्यावरण का मानव निर्मित भाग है।'' इस परिभाषा में यह दृष्टव्य हे कि हमारे चारो ओर की जितनी वस्तुएं मनुष्य द्वारा निर्मित है।'' वे सभी संस्कृति के अन्तर्गत आती है। इन्होने दो प्रकार का पर्यावरण बताया है। (1) प्राकृतिक पर्यावरण और (2) सामाजिक पर्यावरण-संस्कृति में सामाजिक पर्यावरण को लिया गया है- आभूषण,औजार, मकान,परम्परा, विश्वास, कला, धर्म, भाषा आदि सभी मानवकृत होने के कारण संस्कृति का अंग है।

(6) गोल्डन वाइजर ने संस्कृति के अन्तर्गत हमारे दृष्टिकोण,विश्वास,विचार,निर्णय,मूल्य व हमारी संस्थाएं- राजनैतिक व वैधानिक ,विज्ञान,दर्शन, तथा,अन्य बहुत-सी वस्तुओं को समाहित किया है।

(7) लोवी के अनुसार '' सम्पूर्ण सामाजिक परम्परा ही संस्कृति है।''

(8) लिंटन के मत में '' संस्कृति ज्ञान, धारणाएं एवं प्राकृतिक व्यवहार के प्रतिमानों का कुल योग है जिसके सभी भागीदार होते है तथा जो हस्तान्तरित की जाती है।''

(9) दुबे के अनुसार'' सिखे हुए व्यवहार - प्रकारकी उस समग्रता को जो किसी समुह को वैशिष्ट्य प्रदान करती है , संस्कृति की संज्ञा दी जा सकती है।'' इस प्रकार मानवशास्त्रियो के मत में संस्कृति विचार करने,अनुभव करने एवं जीवन व्यतीत करने की एक सम्पूर्ण विधि है।

1.3.2 संस्कृति का समाजशास्त्रीय अर्थ—

अनेक समाजशास्त्रियों ने संस्कृति को अनेक रूपो में परिभाषित किया है, जो इस प्रकार है-

(1) मैकाइवर एवं पेज के अनुसार संस्कृति हमारे दैनिक व्यवहार में कला , साहित्य,धर्म,मंनोरजंन, और आनन्द में पाये जाने वाले रहन- सहन और विचार के तरीको में हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है।'' इनके मत में संस्कृति व्यक्तित्व से पूर्णतया सम्बधित है, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से यह सम्बधित हैं।

(2) गिलिन एवं गिलिन ने कहा है कि ''संस्कृति प्रत्येक समूह तथा प्रत्येक समाज में आन्तरिक एवं बाह्य व्यवहार के ऐसे प्रतिमानों का समूह होता है जो न्यूनाधिक रूप से सदस्यों में सामान्य होते हैं, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते है तथा बच्चों को सिखाये जाते है और जिनमें निरन्तर परिवर्तन की सम्भावना बनी रहती हैं। इन सामान्य प्रतिमानों को संस्कृति कहा जाता है।'' इस परिभाषा में संस्कृति में समाज के आन्तरिक एवं बाह्य सभी व्यवहार आ जाते है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होते हैं।

(3) रॉबर्ट वीरस्टीड के अनुसार'' संस्कृति वह सम्पूर्ण जटिलता है जिसमें वे सभी वस्तुएं सम्मिलित हैं जिन पर हम विचार करते हैं, कार्य करते हैं और समाज के सदस्य होने के नाते अपने पास रखते हैं।'' इस प्रकार इनके मत में संस्कृति जीवन जीने,विचार करने का तरीका है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होता है।

(4) लेंडिस के मत में, संस्कृति वह संसार है जिसमें एक व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक निवास करता है, चलता-फिरता है और अपने अस्तित्व को बनाए रखता है।''

(5) टालकॉट पारसन्स ने संस्कृति को ऐसे पर्यावरण के रूप में परिभाषित किया है जो मानव क्रियाओं के निर्माण में मौलिक है। अर्थात इनके मत में संस्कृति मानव के वैयक्तित्व एवं क्रियाओं का निर्धारण करती है।

(6) फेयर चाइल्ड के अनुसार प्रतीकों द्वारा सामाजिक रूप से प्राप्त और संचारित सभी व्यवहार प्रतिमानों का सामूहिक नाम संस्कृति है।

(7) ब्रूम एवं सेल्जनिक संस्कृति को सामाजिक विरासत मानते है । इस प्रकार सभी समाजशास्त्री संस्कृति को समाज की धरोहर के रूप में मानते हैं। संस्कृति की मानवशास्त्रिय एवं समाजशास्त्रीय परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृति में विश्वास,विचार,प्रथाए, कानून,आदर्श,कला,निपुणता आदि सभी समाहित है; साथ ही भवन ,यंत्र, चित्रकला आदि भी इसी के अन्तर्गत आते है। निष्कर्षतः संस्कृति भौतिक एवं अभौतिक तत्वों की वह सम्पूर्णता है जिसे समाज का सदस्य होने के कारण हम प्राप्त करते है। इसमें सम्पूर्ण जीवन के तरीके,मानवकृत,सामाजिक,पर्यावरण भी आता है। इस प्रकार संसार में जो कुछ मनुष्य ने अपनी बुद्वि व अनुभव से बनाया है, संस्कृति का ही अंग है। हाथ के अंगूठे की विशेष बनावट भी इसमें सहायक होती हैं जिसके कारण व्यक्ति अनेक आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है- बड़े-बड़े यन्त्र, कल-कारखाने, भवन-निर्माण व कलाकृति आदि का निर्माण तथा लेखन-क्षमता आदि इन्ही के कारण सम्भव हो सकी हैं। यदि यह क्षमता व्यक्ति में न होती, तो वह कोई भी रचनात्मक-कार्य करने में अक्षम रहता। संस्कृति अनोखे रूप में एक मानव-संघटन है-अर्थात मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो संस्कृति का निर्माता है। संस्कृति मानव की श्रेष्ठ धरोहर है जिसके कारण मानव अनवरत प्रगति के पथ पर अग्रसर होता जा रहा है। यदि मानव संस्कृति-विहीन हो जाये तो वह पशुवत हो जायेगा क्योंकि पशु संस्कृति के अधिकारी नहीं होते।

1.3.3 मानव संस्कृंति के निर्माता के रूप में—

निम्नलिखित शारीरिक विशेषताओं के कारण मानव संस्कृति का निर्माता कहा जाता है—

1. सीधे खडें होने की क्षमता- मनुष्य में सीधे खड़े होने की क्षमता पाई जाती है- पशु अपने चारों पैरों से चलते हैं लेकिन मनुष्य दो पैरों से चलता है और दो हाथों को अन्य उपयोगी कार्यो में लगाता है। यह उसकी अनोखी विशेषता है।

2.स्वतन्त्रतापूर्वक घुमाये जा सकने वाले हाथ- मानव के हाथों की बनावट इस प्रकार की है कि प्रत्येक दिशा में इन्हें सुगमता से घुमाया जा सकता है तथा इनकी सहायता से वह वस्तुओं को भली- भांती पकड़ सकता है। हाथ के अंगूठे की विशेष बनावट भी इसमें सहायक होती है जिसके कारण व्यक्ति अनेक आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है- बड़े-बड़े यन्त्र, कल कारखाने,भवन-निर्माण व कलाकृति आदि का निर्माण तथा लेखन क्षमता आदि इन्हीं के कारण सम्भव हो सकी हैं। यदि यह क्षमता व्यक्ति में न होती, तो वह कोई भी रचनात्मक कार्य करने में अक्षम रहता।

3. तीक्ष्ण व केन्द्रित की जा सकने वाली दृष्टि- मानव के पास तीक्ष्ण व केन्द्रित की जा सकने वाली दृष्टि हैं जिसके कारण वह घटनाओं को देख सकता है, निष्कर्ष निकाल सकता हैं, नवीन खोज कर सकता है तथा किसी वस्तु पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकता हैं।

4. मेधावी मस्तिष्क- मानव की सर्वाधिक योग्यता मेधावी मस्तिष्क का होना हैं। मानव में विचार करने की शक्ति होती हैं, जिसके कारण वह किसी कार्य की योजना बना सकता हैं, आविष्कार कर सकता हैं, कार्य-कारण सम्बन्धों को जान सकता हैं। इस प्रकार मेधावी मस्तिष्क मानव की सर्वाधिक उपलब्धि हैं। लिण्टन तथा डार्विन जैसे विद्वानों का मानना था कि मानव तथा उच्चकोटि के स्तनधारी जानवरों में मानसिक क्षमताओं की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं हैं लेकिन अनेक विद्वान इसे तर्कसंगत नहीं मानते हैं। वास्तविकता तो यह हैं कि मानव का

मस्तिष्क पशुओं की तुलना में अधिक विकसित हैं, जिसके कारण वह तर्क कर सकता है, विचार कर सकता है तथा संस्कृति का विकास कर सकता हैं।

5. प्रतीकों के निर्माण की क्षमता- मनुष्य में यह क्षमता हैं कि भाषा के माध्यम से वह विचारों का आदान-प्रदान कर सकता हैं और उसके लिए मानव ने प्रतीकों को जन्म दिया है अर्थात् अर्थपूर्ण प्रतीकों के माध्यम से अपने विचारों को एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति तक पहुँचा सकता हैं। भाषा व्यक्ति के पास ही है, पशु समाज के पास ऐसी भाषा नहीं होती कि मानव के समान वे विचार अभिव्यक्त कर सकते हों- वास्तविकता तो यही हैं कि भाषा का अन्तर मनुष्य को पशुसे अलग करता है। पशुओं के पास चूँकि भाषा नहीं है, इसी से उनके पास संस्कृति नहीं हैं। संस्कृति का संशोधन, संवर्धन, परिमार्जन, हस्तान्तरण आदि भाषा के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है। अर्थात् भाषा या प्रतीक मानव को संस्कृति के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं ।

1.3.4 संस्कृति के लक्षण—

संस्कृति को विस्तार से जानने के लिए प्रसिद्ध समाजशास्त्री **मजूमदार एवं मदान** ने अपनी पुस्तक 'सामाजिक मानवशास्त्र परिचय' में संस्कृति के कुछ लक्षणों का विवेचन किया हैं जो इनके अनुसार नृतत्ववेत्ताओं द्वारा किए गए तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर स्थापित संस्कृति के लक्षणों के बारे में कुछ सामान्यीकरण है, ये निम्नलिखित प्रकार से हैं-

(1) संस्कृति की स्वाभाविक विशिष्टता एवं प्रज्ञप्ति- मानवशास्त्री क्रोबर ने संस्कृति के दो पक्षों पर ध्यान केन्द्रित किया हैं- (1) **ईथोस और ईडोस**। इन्होंने माना हैं कि संस्कृति का निर्माण इन दोनों पक्षों से मिलकर होता है। संस्कृति के घटकों से प्रकट होने वाला इसका औपचारिक व्यक्त रूप **ईडोस (प्रज्ञप्ति)** हैं तथा संस्कृति का दूसरा पक्ष जो उसके गुणों, प्रेरक मान्यताओं और इसकी स्वाभाविक अभिरुचियों को निर्धारित करता है **ईथोस** (स्वाभाविक विशिष्टता) कहलाता हैं।

वांटसन का मानना हैं कि प्रत्येक संस्कृति को दो पक्षों में विभाजित किया जा सकता है- इनमें ईथोस कहा जाने वाला प्रथम पक्ष वह है जिसकी रचना एक संस्कृति की सम्पूर्ण भावात्मक साग्रहता से होती हैं। ईडोस कहे जाने वाले दूसरे पक्ष में एक संस्कृति में प्रचलित संज्ञानात्मक प्रक्रिया से उत्पन्न साग्रहता को लिया जा सकता है। अर्थात् संस्कृति के दो पक्ष है- एक बाह्य अथवा औपचारिक पक्ष जिसे स्पष्टतया देखा जा सकता है। संस्कृति का दूसरा पक्ष आन्तरिक गुणों वाला हैं जिसमें अभिरुचियां, मान्यताएं आदि आती हैं। इसे इस रूप में और अधिक स्पष्ट किया जा सकता हैं कि संस्कृति का ईथोस पक्ष अमूर्त है और ईडोस पक्ष मूर्त हैं।

(2) संस्कृति के व्यक्त एवं अव्यक्त तत्त्व- क्लूखौन ने संस्कृति के तत्वों को दो रूपों में विभाजित किया है। (1) व्यक्त तत्व (2) अव्यक्त तत्व। मानव इन्द्रियों द्वारा हम संस्कृति के व्यक्त रूप को देख सकते हैं। कुछ ऐसे अव्यक्त तत्व भी हैं जिनको किसी विशेष प्रशिक्षण के पश्चात् ही अवलोकित किया जा सकता हैं क्योंकि ये तत्व मानव-संस्कार में निहित अभिप्रेरकों एवं मनोवेगों के रूप में होते हैं जिनसे व्यक्ति स्वयं भी प्रायः परिचित नहीं होते। क्लीसिंग ने भी संस्कृति के इन दोनों पक्षों पर प्रकाश डाला हैं। 1.व्यक्त तत्वों को लिया जा सकता है जिन्हें देखा, छुआ व सुना जा सकता है, ये मूर्त तत्व होते हैं जिनमें मानव-निर्मित भौतिक वस्तुए आती हैं। 2. अव्यक्त तत्वों में विश्वास, मूल्य, न्याय, प्रेरणा, समन्वय आदि को लिया जा सकता हैं, जो अमूर्त होते हैं।

(3) संस्कृति-निर्धारणवाद - कार्ल मार्क्स के दृष्टिकोण के अनुसार सांस्कृति विचारधाराएं,

सामाजिक एवं राजनैतिक संरचनाएं सभी आर्थिक संगठन के आधार पर निर्मित होती हैं । इसके विपरीत संस्कृति निर्धारणवादियों के मतानुसार न केवल आर्थिक अपितु समाज भी संस्कृति द्वारा ही निर्धारित होता हैं। टायलर के मतानुसार संस्कृति मनुष्य को समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त होती है किन्तु संस्कृति निर्धारणवादियों का मानना हैं कि संस्कृति की अभिवृद्धि एवं क्रियाशीलता संस्कृति के नियमों द्वारा ही संचालित होती हैं। संस्कृति की व्याख्या तो मानव-शारीरिकी, मानव मनोविज्ञान और मानव-समाज भी नहीं कर सकते। संस्कृति-निर्धारण समाज के सभी पक्षों- धर्म, राजनीति, अर्थ-व्यवस्था आदि को परिवर्तित एवं निर्धारित करने के लिए संस्कृति को ही प्रमुखता देते हैं । संस्कृति-निर्धारणवादियों में लेसली व्हाइट का नाम सर्वप्रमुख हैं। किन्तु संस्कृति-निर्धारणवादी संस्कृति को ही सब कुछ मानने लगे हैं जबकि स्थिति इस प्रकार की नहीं हैं। मानव संस्कृति का केवल वाहक एवं दास ही नहीं है, वह उसका निर्माता भी हैं।

(4) संस्कृति बनाम व्यक्ति- लिण्टन के अनुसार परम्परावादी व्यक्तियों के लिए संस्कृति निर्देशक की भूमिका अदा करती हैं। संस्कृति ही उनके लिए व्यवहार के प्रतिमान तय करती है तथा उनके व्यक्तिगत एवं सामाजिक अस्तित्व के लिए आवश्यक रचनातन्त्र प्रदान करती हैं। संस्कृति मनुष्य को मुक्ति प्रदान करने वाली हैं क्योंकि उसके बिना मनुष्य का जिन्दा रहना मुश्किल है। वह उसे जैविक निर्धारणवाद से मुक्त करती है लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य भी संस्कृति के प्रति अपने दायित्वों को पूर्ण करें, इसका मूल्य चुकाए। यदि कोई मनुष्य समाज से लाभ प्राप्त करना चाहता है तो उसे समाज द्वारा स्वीकृत जीवन-पद्धति का अनुसरण करना पड़ता हैं और प्रायः प्रत्येक मनुष्य ऐसा ही करता है। इस प्रकार संस्कृति मनुष्य की निर्देशिका है। वह उसे मुक्त करती है साथ ही अपने अधीन भी रखती हैं। मनुष्यों से यह अपेक्षा की जाती हैं कि वह समाज को जड़ न होने दें और ऐसा करने के तरीके भी स्वयं संस्कृति ही बताती है, उसी की सीमा में रहकर उनका प्रयोग करना होता हैं।

टायनबी ने इस प्रकार के लोगों को 'सृजनशील अल्पसंख्यक' कहा हैं। ये लोग अपने नवीन विचारों का परीक्षण संस्कृति के अन्तर्गत ही करते हैं । ये संस्कृति को नष्ट नहीं करना चाहते वरन् रचनात्मक शक्ति द्वारा उसे बदलना चाहते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि कोई व्यक्ति आगे आए व इन साधनों का प्रयोग करें।

(5) संस्कृति एवं सभ्यता - महान विद्वान् मॉर्गन का कहना हैं कि मानव समाज तीन अवस्थाओं में उद्विकसित हुआ है- (1) असभ्यावस्था (2) बर्बरावस्था (3) सभ्यावस्था । सभ्यता समाज के उद्विकास की ही एक अवस्था हैं जिसमें धातु-कर्म, विज्ञान, लेखन आदि का विकास हुआ, बाद में सभ्यता एक विशेष प्रकार की संस्कृति का बोध कराने लगी । कुछ अमरीकन समाजशास्त्री, जैसे- मैकाइवर तथा जर्मन आदर्शवादी संस्कृति और सभ्यता के बीच एक विशेष प्रकार का अन्तर करते हैं। ये विद्वान् संस्कृति को मनुष्य की नैतिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक उपलब्धि मानते हैं। इनके मत में संस्कृति प्राथमिक और आधारभूत वस्तु हैं, हमारे अन्तर में विद्यमान हैं और जो कुछ हम हैं वही संस्कृति हैं। यह प्रगति और अवनति दोनों का कारण हो सकती हैं। इसकी तुलना में सभ्यता गौण है। यह हमसे बाहर स्थित हैं। प्रौद्योगिकी, भौतिक-संस्कृति और सामाजिक संस्थाओं से इसका निर्माण होता हैं। यही सांस्कृतिक जीवन के साधनों या उपकरणों की समग्रता हैं, जो कुछ हमारा है वही यह सभ्यता है- यह संचयीमान है, अपने आप न तो इसकी प्रगति होती है न अवनति।

1.3.5 संस्कृति के तत्व—

संस्कृति में सन्तुलन और संगठन होता है। यह संगठन अनेक तत्वों, इकाइयों, भागों और उपभागों को मिलाकर बनता है। ये तत्व या भाग छोटे से छोटे या बड़े से बड़े हो सकते हैं। इनमें जो पारस्परिक संबन्ध तथा अन्तर्निर्भरता पाई जाती है, उसी के कारण संस्कृति के ढांचे में सन्तुलन और संगठन उत्पन्न होता है। संस्कृतिके विभिन्न उपादानों को, जिनसे उसके ढांचे का निर्माण होता है, सांस्कृतिक तत्व, संस्कृति संकुल, संस्कृति प्रतिमान और सांस्कृतिक क्षेत्र कहा जाता है। ये सभी क्रमशः संस्कृति के बढ़ने वाले उपादान हैं और वह इस अर्थ में कि संस्कृति के तत्व संस्कृति की सबसे छोटी इकाई है, जो परस्पर मिलकर एक संस्कृति संकुल (culture complex) का निर्माण करती है। ये संस्कृति संकुल, संस्कृति के ढांचे में एक विशेष ढंग से व्यवस्थित रहते हैं, जिससे संस्कृति को एक विशिष्ट स्वरूप प्राप्त होता है। संस्कृति के इस विशिष्ट स्वरूप को संस्कृति प्रतिमान (culture pattern) कहते हैं। इस संस्कृति प्रतिमान अर्थात एक प्रकार की जीवन विधियों का फैलाव जिस विशिष्ट क्षेत्र में पाया जाता है, उसे सांस्कृतिक क्षेत्र (culture area) कहते हैं।

1.3.6 संस्कृति और संस्कृति संकुल

संस्कृति हमारी सम्पर्ण जीवन-पद्धति से सम्बन्धित है तथा यह कई तत्वों से मिलकर निर्मित होती है; जैसे- पूजा, आराधना, कर्मकाण्ड, पत्थर के उपकरण बनाना आदि। इसी प्रकार का प्रत्येक तत्व संस्कृति विशेषक या संस्कृति तत्व कहा जाता हैं । इस प्रकार का प्रत्येक तत्व संस्कृति विशेषक या संस्कृति-तत्व कहा जाता हैं । इस प्रकार के कुछ तत्व जब अर्थपूर्ण ढंग से जुड़े हुए होते हैं तथा सम्पूर्ण संस्कृति का एक भाग हाते हैं जो संस्कृति-संकुल कहलाते हैं । इस प्रकार संस्कृति संकुल विभिन्न-विशेषकों का अर्थपूर्ण संयोग हैं जो सम्पूर्ण संस्कृति का ही एक भाग होता हैं ।

1.4 भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति

अमेरिकन समाजशास्त्री ऑगबर्न ने संस्कृति के दो भाग किये हैं - (1) भौतिक संस्कृति, (2) अभौतिक संस्कृति । **भौतिक संस्कृति -** भौतिक संस्कृति के अन्तर्गत मनुष्य के द्वारा निर्मित वस्तुओं को लिया जाता हैं जिनका निश्चित आकार होता है तथा इनसे मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति होती है । भवन, अस्त्र, शस्त्र,आभूषण, मशीने, आवागमन के साधन, सन्देशवाहन के साधन, कृषि आदि के साधन-सभी संस्कृति का भौतिक पक्ष हैं- अर्थात् वे सभी साधन जो मानव द्वारा निर्मित हैं तथा मूर्तरूप में है, भौतिक संस्कृति के अंग हैं । भौतिक संस्कृति के निम्नलिखित विशेषताएं हो सकती हैं- (1) भौतिक संस्कृति मूर्त होती है । (2) इसे मापा जा सकता हैं अथवा भौतिक संस्कृति मापनीय हैं । (3) भौतिक संस्कृति संचयी होती हैं । (4) इसकी उपयोगिता का मूल्यांकन किया जा सकता हैं । (5) भौतिक संस्कृति शीघ्रता से परिवर्तनशील है । (6) एक स्थान से दूसरे स्थान पर इसका प्रसार आसानी से होता हैं अतः इसका ग्रहण भी आसानी से किया जा सकता हैं ।

अभौतिक संस्कृति - अभौतिक संस्कृति में वे सभी बातें समाहित हैं जो अमूर्त हैं । मैकाइवर आदि कुछ समाजशास्त्री तो संस्कृति के अमूर्त रूप को ही संस्कृति मानते हैं- इसके अन्तर्गत उन सभी सामाजिक तथ्यों को लिया जाता हैं जिनका तोल-माप नहीं हो सकता, जो अमूर्त होते हैं, जिन्हें हम केवल अनुभव कर सकते हैं । सोरोकिन तो इसी गुण के आधार पर इसे भावात्मक

संस्कृति कहते हैं। अभौतिक संस्कृति हमें विरासत में प्राप्त होती हैं- विचार, विश्वास, मानदण्ड, व्यवहार, मूल्य, प्रथा, रीति-रिवाज, कानून साहित्य, ज्ञान, भाषा आदि इसी के अंग हैं- अभौतिक संस्कृति सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होती हैं- अभौतिक संस्कृति की निम्नलिखित विशेषताएं हो सकती है -

(1) यह अमूर्त होती हैं। (2) इसे मापा नहीं जा सकता हैं। (3) इसकी उपयोगिता का मूल्यांकन प्रकट रूप में नहीं किया जा सकता। (4) अभौतिक संस्कृति जटिल होती हैं। (5) इसमें परिवर्तन बड़ी धीमी गति से होते हैं। (6) सांस्कृतिक प्रसार से इसे उसी रूप में ग्रहरण नहीं किया जा सकता। (7) अभौतिक संस्कृति का सम्बन्ध मानव के नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन से हैं।

1.4.1 भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति में अन्तर

भौतिक संस्कृति	अभौतिक संस्कृति
1.भौतिक संस्कृति मूर्त होती हैं।	1. अभौतिक संस्कृति अमूर्त होती हैं।
2.भौतिक संस्कृति व्यक्ति के बाह्य जीवन से सम्बन्धित हैं।	2.अभौतिक संस्कृति व्यक्ति के आन्तरिक जीवन से सम्बन्धित है।
3.परिवर्तन बड़ी तीव्र गति से होते हैं।	3. परिवर्तन की गति अति मन्द होती हैं।
4.भौतिक संस्कृति शीघ्र ग्राह्य हैं । अर्थात् सांस्कृतिक सम्पर्क से ये शीघ्र ग्रहण की जा सकती हैं	4. अभौतिक संस्कृति को शीघ्रता से ग्रहण नहीं किया जा सकता हैं।
5.यह मापनीय हैं।	5. यह मापी नहीं जा सकती।
6.इसकी प्रकृति सरल हैं।	6. यह जटिल प्रकृति की हैं ।
7. भौतिक संस्कृति संचयी होती हैं। आविष्कारों से इसमें वृद्धि होती हैं।	7. अभौतिक संस्कृति में न तो वृद्धि होती है न ही इसका संचय किया जाता हैं।
8. इसका मूल्यांकन लाभ अथवा उपयोगिता के आधार पर किया जाता है।	8. अभौतिक संस्कृति का मूल्यांकन उपयोगिता के आधार पर नहीं किया जा सकता हैं।अन्त में यह कहा जा सकता हैं कि भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति दोनों का साथ-साथ प्रयोग किया जाता हैं। यदि भौतिक संस्कृति विकसित होती हैं तो अभौतिक संस्कृति का विकास भी स्वतः ही हो जाता हैं। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे

का प्रभावित करती है।

1.4.2 संस्कृति की विशेषताएं

संस्कृति की अनेक ऐसी विशेषताएं हैं जो इसकी वास्तविक प्रकृति को स्पष्ट करनें में सहायक होती हैं, ये निम्नलिखित हैं-

1. संस्कृति सीखी जाती हैं- हॉवल की परिभाषा के अनुसार, ''संस्कृति सीखे हुए व्यवहार-प्रतिमानों का सम्पूर्ण योग हैं जो कि प्राणिशास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं, बल्कि किसी समाज के सदस्यों की विशेषता हैं।'' इससे संस्कृति की यह विशेषता स्पष्ट होती हैं कि संस्कृति सीखी जाती है, वह शारीरिक विषमताओं के समान वंशानुक्रमण द्वारा प्राप्त नहीं होती। मनुष्य जन्म के समय किसी संस्कृति को नहीं जानता। धीरे-धीरे व्यक्ति का समाजीकरण होता है और वह उस समाज के व्यवहार-प्रतिमानों को सीखता है और उन सीखे हुए व्यवहार-प्रतिमानों का योग ही संस्कृति कहा जा सकता हैं। अतः यह कहा जा सकता हैं कि जो व्यवहार किसी समाज या समूह की विशेषता होते हैं वही संस्कृति के अन्तर्गत आते हैं; जैसे- प्रथा, रूढ़ियां, जनरीतियां, परम्पराएं आदि- साथ ही वे व्यवहार जो व्यक्तिगत होते हैं या व्यक्ति विशेष तक ही सीमित होते हैं, वे संस्कृति नहीं हो सकते है। अतः यह कहा गया हैं कि सभी प्रकार के सीखे हुए व्यवहार संस्कृति के अंग नहीं हैं अपितु संस्कृति में वही व्यवहार-प्रतिमान सम्मिलित हैं जो किसी समूह या समाज के सदस्यों द्वारा स्वीकृत एवं मान्यता प्राप्त हैं।

2. संस्कृति हस्तान्तरित की जाती हैं- सीखे जाने के गुण के कारण ही संस्कृति की यह भी विशेषता हैं कि इसे एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को अथवा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित भी किया जा सकता हैं। इस संचरण की प्रक्रिया में भाषा महत्वपूर्ण साधन हैं जो केवल मानव की ही विशेषता है। चूंकि मानवेतर प्राणी भाषा नहीं जानते इसलिए वे अपनी संस्कृति का संचारण भी नहीं कर सकते। मानव भाषा के माध्यम से ही अपने ज्ञान को आगे आने वाली पीढ़ी को हस्तान्तरित कर देता हैं। लेखन-कला (जो भाषा का ही लिखित रूप हैं) के द्वारा संस्कृति का संचय किया जा सकता है और इस तरह मानव-ज्ञान व अनुभवों को भी सम्मिलित कर सकता हैं। इस तरह नई पीढ़ी पुरानी पीढ़ी से प्राप्त ज्ञान व अनुभवों को अपनी आगे की पीढ़ी के लिए हस्तान्तरित करती जाती हैं और इस तरह मानव-ज्ञान व अनुभव संस्कृति को बढ़ाते जाते है और वह संचयी होती जाती हैं अर्थात् विगत् अनुभवों से लाभान्वित होकर भावी पीढ़ी को उन्नत बनाया जा सकता है; उदाहरणार्थ- एक बार पहिए का आविष्कार हो जाने के उपरान्त व्यक्ति को क्रमश: बैलगाड़ी, रेल, बस, स्कूटर, हवाई जहाज आदि बनाने के लिए पुराने अनुभवों व ज्ञान से सहायता मिली, यह संस्कृति के हस्तान्तरण का परिणाम हैं।

3. प्रत्येक समाज की संस्कृति विशिष्ट प्रकार की होती हैं- चूंकि प्रत्येक समाज की अपनी अलग-अलग विशेषताएं होती है; उसकी सामाजिक, भौगोलिक परिस्थितियां भिन्न-भिन्न होती हैं अतएव वहां की संस्कृति भी अलग विशेषता लिए हुए होती हैं। अर्थात् हर समाज की सामाजिक आवश्यकताएं भिन्न होती हैं और उन सामाजिक आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप प्रत्येक समाज से संस्कृति में भिन्नता रखता है; उदाहरणार्थ- पाश्चात्य समाजों में सर्दी अधिक होने के कारण हर समय मनुष्य जूते, मोजे आदि पहने रहते हैं इसी कारण वहां की संस्कृति में

रसोई में जमीन पर बैठकर खाना खाने व बनाने की व्यवस्था नहीं हैं- हर कार्य मेज-कुर्सी पर बैठकर होता है, इसके विपरीत भारत में अधिक सर्दी हर मौसम में न पड़ने के कारण भोजन बनाने व खाना जमीन पर बैठकर किया जाता है अतः यहां की संस्कृति में पाश्चात्य संस्कृति से भिन्नता भौगोलिक परिस्थितियों के कारण हैं । अर्थात् संस्कृति पूर्णतः सामाजिक आवश्यकताओं का परिणाम होती है। कुछ क्षेत्रों में संस्कृति का सर्वत्र समान भी दिखाई देती है; जैसे- परिवार, विवाह, प्रथाएं, कानून, नातेदारी, जन-रीतियां, रूढ़ियां आदि समान ही मिलती हैं। इसी आधार पर **मुरडॉक एवं वील्स** आदि का मानना हैं कि ऊपरी तौर पर संस्कृतियों में विभिन्नता दिखाई देती है किन्तु गहराई से देखने पर उनमें समानता ही दृष्टिगोचर होती हैं। अतः यह निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सभी संस्कृतियों में कुछ तत्व समानता लिए हुए होते हैं तथा कुछ तत्व भिन्नता लिए हुए होते है।

4.संस्कृति मानव निर्मित है- मनुष्य में वह अनोखी क्षमता विद्यमान है कि उसे संस्कृति का निर्माता कहा जा सकता है । मनुष्य की यह क्षमता उसकी शारीरिक संरचना के कारण है- विकसित मस्तिष्क, तीक्ष्ण दृष्टि, हाथों की बनावट, सीधे खड़े होने की क्षमता, अंगूठे व गर्दन की संरचना आदि उसे अन्य प्राणियों से भिन्नता प्रदान करती हैं जिनके कारण ही वह अपने अनुभवों का प्रयोग कर सका हैं, नवीन आविष्कार कर सका है और अपनी संस्कृति का निर्माता बन सका है। अतः कहा जा सकता हैं कि संस्कृति केवन मानव-समाज में ही विद्यमान है किसी मानवेतर समाज में नहीं।

5. संस्कृति में सामाजिकता का गुण निहित है - चूंकि संस्कृति मानव की आवश्यकताओं के अनुरूप होती हैं, साथ ही वह सामाजिक आविष्कार का परिणाम होती है, अतः संस्कृति की प्रकृति सामाजिक है। संस्कृति व्यक्ति-विशेष की नहीं होती वरन् वह सम्पूर्ण समाज की होती हैं, वह समाज की सम्पूर्ण जीवन-विधि की प्रतिनिध होती हैं क्योंकि उसका जन्म सामाजिक आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप होता हैं । परम्परा, धर्म, भाषा, कला-दर्शन आदि सम्पूर्ण समाज की विशेषताओं को प्रकट करते हैं। इसलिए कहा जा सकता हैं कि संस्कृति व्यक्तिगत नहीं हैं, अपितु उसमें सामाजिकता का गुण निहित होता हैं।

6. संस्कृति समूह के लिए आदर्श होती है - संस्कृति हर समाज व समूह की अलग होती है और वह समूह अपनी संस्कृति को एक आदर्श मानता है और उसके अनुसार ही व्यवहार करता है । इसी कारण जब दो संस्कृतियों की परस्पर तुलना की जाती हैं तो प्रत्येक समूह अपनी संस्कृति को दूसरी संस्कृति से आदर्श व श्रेष्ठ मानता हैं और उसी के अनुसार व्यवहार करने का प्रयास भी करता है। हिन्दू, मुस्लिम, दक्षिण भारतीय आदि सभी स्वयं की संस्कृति को उच्चादर्श मानते हैं।

7. संस्कृति में अनुकूलन करने का गुण होता है - संस्कृति की यह विशेषता हैं कि वह परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको अनुकूलित कर लेती है । इसका कारण यह हैं कि संस्कृति गतिशील होती है, स्थिर नहीं- इसी गतिशीलता के कारण वह समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेती हैं। उदाहरण के लिए, रेगिस्तान व बर्फीले प्रदेशों में रहने वालों की संस्कृति में पर्याप्त अन्तर भौगोलिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप आता रहता हैं और उस भौगोलिक पर्यावरण से अनुकूलन भी वहां के लोग कर लेते हैं और तद्रुरूप उनकी संस्कृति बन जाती है । उसी प्रकार टुण्ड्रा-निवासियों की संस्कृति वहां के बर्फीले वातावरण के अनुरूप हो जाती है अर्थात् संस्कृति अपने भौगोलिक पर्यावरण के अनुरूप

परिवर्तित हो जाती है यह उसका विशेष गुण होता है। किन्तु भौगोलिक पर्यावरण कुछ सीमा तक ही संस्कृति को प्रभावित कर सकता है क्योंकि सांस्कृतिक परिवर्तन की गति धीमी होती है।

8.संस्कृति में सन्तुलन व संगठन होता है- संस्कृति अनेक इकाइयों का समन्वित रूप है और ये इकाइयां पारस्परिक रूप से सम्बन्धित व अन्तः निर्भर होती हैं अर्थात् संस्कृति की विभिन्न इकाइयां परस्पर एक-दूसरे से गुंफित होती हैं और उनका संगठित रूप ही सम्पूर्ण संस्कृति में एक प्रकार का सन्तुलन तथा संगठन लाता है। इसका कारण यह हैं कि इन इकाइयों का अस्तित्व शून्य में नहीं होता, बल्कि सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढ़ांचे के अन्तर्गत व्यवस्थित रूप से ये परस्पर सम्बद्ध होती हैं। प्रत्येक इकाई का ढ़ांचे के अन्दर एक निश्चित कार्य व स्थिति होती है, फलस्वरूप सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढ़ांचे में सन्तुलन व संगठन बना रहता हैं।

9. संस्कृति मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है- मानव एक सामाजिक प्राणी हैं। समाज में उसकी अनेक प्रकार की आवश्यकताएं होती है; जैसे-शारीरिक, मानसिक, सामाजिक आदि जिनकी पूर्ति के लिए उसने संस्कृति निर्मित की है। संस्कृति ही मानव की प्राणीशास्त्रीय एवं सामाजिक दोनों प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति कराती हैं। समाजविद् **मैलिनोव्स्की** एवं **रेडक्लिफ-ब्राउन** संस्कृति को जीवन व्यतीत करने की एक सम्पूर्ण विधि मानते हैं, जो व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। यदि संस्कृति, निरन्तर अपने समाज के सदस्यों की महत्वपूर्ण शारीरिक, मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असफल रहती हैं तो सम्पूर्ण संस्कृति ही समाप्त हो सकती है- उदाहरण के लिए मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही नवीन-नवीन आविष्कारों का निर्माण होता रहता हैं और वे आविष्कार संस्कृति का ही अंग हाते हैं।

10. संस्कृति अधि - वैयक्तिक हैं - क्रोबर ने संस्कृति की यह विशेषता बताई हैं कि संस्कृति अधि-वैयक्तिक ही नहीं अधिसावयवी भी हैं। संस्कृति की ये दोनों ही विशेषताएं महत्त्वपूर्ण हैं। सर्वप्रथम देखें कि संस्कृति को अधि-वैयक्तिक क्यों कहा गया हैं ? संस्कृति एक व्यक्ति की नहीं, अपितु सम्पूर्ण समाज अथवा समूह की होती हैं। यद्यपि मनुष्य ही संस्कृति का निर्माता हैं इसके उपरान्त भी संस्कृति की निरन्तरता अथवा उसका अधिकार व्यक्ति-विशेष द्वारा नहीं, अपितु सम्पूर्ण समूह द्वारा निर्मित होती हैं। यह बात भले ही हैं कि किसी का अनुभव, सहयोग इन्हें आगे बढ़ाने में सहायक रहा हो। लेकिन यह अक्षरश: सत्य हैं कि संस्कृति अनेक व्यक्तियों की विचार-विनिमय के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती हैं, कोई भी व्यक्ति इसमें अपना योगदान दे सकता हैं- संस्कृति का निर्माण, विकास, परिमार्जन, संशोधन एवं परिवर्धन होना एक स्वाभाविक क्रिया है जिसे नियन्त्रित करने की क्षमता किसी व्यक्ति में नहीं हो सकती। इसी रूप में संस्कृति को अधिवैयक्तिक कहा गया हैं।

11.संस्कृति अधि-सावयवी हैं- क्रोबर ने संस्कृति को अधि-सावयवी भी कहा हैं। अधि-सावयवी कहने का आशय हैं कि प्राणिशास्त्रीय या जैविक (सावयवी) क्षमताएं और संस्कृति (अधि-सावयवी) भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रघटनाएं हैं। संस्कृति को जैविकीय से ऊँचा माना गया हैं क्योंकि संस्कृति से ही मानव जीवन को नियन्त्रित-निर्देशित करती हैं। इससे प्रभावित हुए बिना मानव का अस्तित्व नहीं हैं, संस्कृति के अनुसार ही उसे चलना पड़ता हैं। साथ ही केवल जैविकीय या सावयवी घटनाएँ भी संस्कृति की जनक नहीं हो सकती क्योंकि संस्कृति वंशानुक्रमण द्वारा किसी व्यक्ति को प्राप्त नहीं होती। वंशानुक्रमण में यह क्षमता नहीं कि उनके

माध्यम से सांस्कृतिक लक्षण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित हों, इस कारण भी संस्कृति अधि-सावयवी हैं।

इस प्रकार प्राणिशास्त्रीय क्षमताएं संस्कृत से भिन्न होने के कारण तथा शारीरिक विशेषताओं के समान सांस्कृतिक विशेषताएं वंशानुक्रम से व्यक्ति को प्राप्त न होने के कारण संस्कृति अधि-सावयवी हैं। संस्कृत ही व्यक्ति के जीवन को दिशा-निर्देश देती हैं तथा उसे नियन्त्रित भी करती हैं ।

1.5 गौरवशाली भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति हैं। इसके साथ की अन्य संस्कृतियां या सभ्यताएं चाहे वह यूनानी सभ्यता हो या मिस्त्री सभ्यता, आज अपने मूल स्वरूप में प्राप्त नहीं होती हैं। उनके स्वरूप का आकलन पुरातात्विक अवशेषों या लिखित अभिलेखों से ही हो पाता हैं। किन्तु भारतीय संस्कृति में एक अविच्छिन्नता हैं, इसका कारण कल्पना और यथार्थ का लगभग संरूप आदर्श प्रस्तुत कर, समाज का व्यवस्थापन तथा उसको उदात्त लक्ष्य की ओर प्रेरित करना। भारतीयता की शाश्वत विकास यात्रा का रहस्य, मानव के आचार व्यवहार का यथासंभव सीमा तक सुव्यवस्थापन, तर्क एवं श्रद्धा का समन्वय कर, सन्तुलित और सोद्देश्य जीवन प्रणाली की स्थापना में हैं। भारतीय एक सनातन यात्रा हैं, एक अमृत पंथ हैं, जो अनादि से अनन्त तक विस्तृत हैं। भारत की आत्मा या भारतीयता को मात्र इतिहास के दिशा सन्दर्भ में नहीं समझा जा सकता हैं क्योंकि भारतीय संस्कृति का इतिहास घटनाओं और तथ्यों का पुंज मात्र नहीं हैं। प्रत्येक घटना, प्रत्येक काल का इतिहास एक मूल्यदृष्टि का सृजन करता हैं जो देशानुकूल, कालानुकूल, व्यावहारिक परिवर्तनों के साथ ही सत्य के खोज एवं उसकी प्राप्ति के आग्रह से युक्त हो सर्वतो भावेन लोक मंगल के लिए प्रयासरत समष्टि जीवन का मूल्याधिष्ठित स्वरूप प्रस्तुत करता हैं। भारतीय संस्कृति एवं परम्परा को इन सन्दर्भों में ही समझा जा सकता है।

1.5.1 संस्कृति का अवधारणा

संस्कृति अपने कलेवर में जीवनविधा तथा विचारविधा के समस्त आयामों जैसे व्यक्ति से व्यक्ति का सम्बन्ध, धर्म, कला, साहित्य, विश्राम एवं मनोरंजन की विधि, समाज का व्यवस्थापन, जीवनमूल्य, इत्यादि से व्यक्त होने वाली समष्टिगत प्रकृति को समाविष्ट करती हैं। अतः इसकी कोई सरल परिभाषा संभव नहीं हैं। किन्तु यह एक अवधारणात्मक तथ्य हैं जो ऐतिहासिक विकास में किसी भूमि पर बसने वाले जन समूह की विशिष्टता को व्यावर्तित कर, उसे अन्य भूमि से पृथक करती हैं। इसलिए उसको किसी भूमि पर लम्बे समय से निवास कर रहे जन समूह के स्थिति के रूप में समझा जा सकता है अर्थात् समष्टिगत अनुभव को जो ऐतिहासिक विशिष्टता से युक्त होता हैं, संस्कृति कहा जा सकता हैं। इस स्पष्टीकरण की भी अपनी सीमा है। व्यक्ति से अतिरिक्त समाज का अस्तित्व नहीं होता है, अतः व्यक्तियों से समाज पृथक समाज की कल्पना नहीं की जा सकती हैं। इस समस्या का पश्चिम की तर्कणा पद्धति से कोई उत्तर नहीं प्राप्त हो सकता। शायद यही कारण रहा होगा कि भारतीय वांड.मय में समाज की उत्पति को तर्क से सिद्ध करने की चिन्ता न करके यह मान लिया गया कि यह विश्व तथा समाज अनादि और इसी सामाजिक एवं सांकेतिक विश्व में मनुष्य अपने मौलिक संस्कार अर्जित करते हैं और उसे चिरकाल से एक सनातन आदर्श व्यवस्था का लौकिक अनुकरण समझा जाता हैं।

अर्थात् संस्कृति किसी समाज के मानस पर पड़ने वाले प्रभावों की ऐसी प्रवृति का द्योतक है, जो विशेषतः उसकी अपनी होती है और पुनः उसके समस्त इतिहास में उसके भावों, उद्वेगों, विचार, वाणी एवं कर्म का संयुक्त तथा संचित प्रभाव होता हैं । संस्कृति विशिष्ट आत्मचेतना है, जिसको सामाजिक अनुभव का विश्लेषण कर, संकल्पनाओं, प्रतीकों और मूल्यों, दृष्टिकोणों तथा
मनोवृतियों के रूप में ढाला जाता हैं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृति समष्टिगत समान अनुभव से उत्पन्न होती है। एक ही जलवायु में पले, एक ही प्रकार के पर्वतों, नदियों, झरनों तथा सागर को देखने वाले एक ही प्रकार के सामाजिक, आर्थिक अनुभव एवं सुख-दुःख को भोगने वाले, एक ही प्रकार की ऐतिहासिक परंपरा का वहने करने वाले, समान पूर्वजों की सन्तान समझने वाले ऐसे, समूह को एक संस्कृति वाला कहते हैं जो इन सबके साथ समान रूप से मानापमान का अनुभव करें।

भारतीय संस्कृति - यह स्पष्ट हो चुका हैं कि संस्कृति उस दृष्टिकोण को कहते हैं जिसमें कोई समुदाय विशेष जीवन की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है और जीवन लक्ष्य को निर्धारित करता है । अतः भारतीय संस्कृति के स्वरूप को समझने के लिए उसकी विशिष्ट संकल्पना, प्रतीक, तथा मूल्यों एवं मनोवृतियों को विश्लेषित कर समझना आवश्यक हैं । भारतीय संस्कृति शब्द से एक विशिष्ट भू-सांस्कृतिक क्षेत्र का बोध होता है अर्थात् भारत नामक वह भू-भाग है जो इतिहास के प्रारंभ के साथ, पूर्वोक्त विशिष्टताओं से युक्त है । भारत भूमि पर रहने वाले जन समूह ने इतिहास के प्रारंभ से वर्तमान तक बहुत कुछ समान अनुभव अर्जित किये हैं। इन अनुभवों से जिन संस्कारों का निर्माण हुआ है, जो वैचारिक दृष्टिकोण विकसित हुआ हैं, उन सबका द्योतन संस्कृत में होता है । इस संस्कृति की अभिव्यक्ति धर्म, वांगमय, विज्ञान, तकनीक, कला, राज व्यवस्था सभी में स्पष्ट रूप से होती है। लौकिक एवं पारलौकिक स्तर पर व्यक्ति एवं समष्टि के स्तर पर इस विशिष्टता का पूरी स्पष्टता के साथ अनुभव किया जा सकता हैं। श्री0 अरविन्द ने संस्कृति के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए कहा है कि ज्ञान, विज्ञान, कला, चिन्तन और नैतिकता, दर्शन, धर्म ये मनुष्य के वास्तविक व्यापार हैं और उसी से संस्कृति रूप ग्रहण करती है। इसे भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में देखना होगा। भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य उसकी परिष्कारवादी विधि में हैं । यह एक ऐसी सामूहिक जीवन-प्रणाली हैं, जो प्रकृति प्रदत पदार्थों के निरन्तर संस्कारपूर्वक उसे सर्वश्रेष्ठ रूप में प्राप्त करने का प्रयास करती हैं । इस सर्वश्रेष्ठता की पूर्णता एक ऐसे अखण्ड बोध की प्राप्ति हैं जिसमें जगत की समस्त वस्तुएं अंगांगी भावपूर्वक एक ही सता के विविध अवयवों के रूप में प्रतिस्थापित हो जाती हैं। परिणामतः मनुष्य और उसके समस्त व्यापार एक दूसरे के पूर्वक बन कर, अपनी सार्थकता प्राप्त करते हैं। भौतिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक, समस्त आयाम एक दूसरे के अविरोधपूर्वक सामजंस्य की प्राप्ति के लिए अपने व्यापारों को संस्कारित करने का जो प्रयास करते हैं, उसी का नाम भारतीय संस्कृति हैं। यह काल की एक ऐसी सनातन यात्रा है जिसमें इतिहास की दयता उसके मूल्यबोध में समाहित है जिसमें घटना की अपेक्षा घटना से उत्पन्न मूल्यबोध अधिक महत्वपूर्ण है अर्थात् घटना प्रधान काल के इतिहास के स्थान पर घटना से प्राप्त होने वाली शिक्षा या उपदेश अधिक महत्वपूर्ण हैं।

प्रथमतः यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति अत्यन्त आशावादी जीवन पद्धति है। इसमें जीवन का उद्देश्य ही आनन्द की प्राप्ति है। तैतरीयोपनिषद् में

स्पष्ट कहा गया है कि 'कोई क्यों जीवित रहता, कोई क्यों सांस भी लेता यदि आनन्द न होता' अर्थात् जीवन पर्व हैं, उसको अनुष्ठित करने के लिए, ठीक से जीवन जीने के लिए, जो दत्त जीवन हैं, जिसमें मनुष्य एवं पशु के बीच कोई अन्तर नहीं हैं अर्थात् मौलिक आवश्यकताओं की दृष्टि से पशु एवं मनुष्य दोनों समान है, जिसमें सभी भोजन करते हैं, सोते हैं, भय होता है और यौन सुख की अभिलाषा होती हैं। इस समानता को छोड़कर मनुष्य को श्रेष्ठ बनाने के लिए संस्कारों की आवश्यकता होती हैं। यही संस्कार की प्रणाली धर्म के नाम से ही जानी पहचानी जाती है। संस्कारित होना तथा संस्कारित करने की परंपरा को आगे बढ़ाना, सब तक पहुँचाना ही संस्कृति हैं।

इस व्यापक दृष्टिकोण पर विचार किया जाय तो भारतीय संस्कृति जीवन के समस्त आयामों में विस्तार प्राप्त करने वाली प्रणाली या जीवन विधि हैं। यह किसी निश्चित विशिष्टता से युक्त होने तथा धरती की शेष संस्कृतियों से अलग होने के कारण महत्वपूर्ण नहीं हैं। अपितु इसलिए महत्वपूर्ण है कि इस संस्कृति में युगानुकूल देशानुकूल परिवर्तनों को स्वीकार करते हुए अपनी नित्य जीवन दृष्टि या मूल्य प्रणाली को संरक्षित करने की क्षमता हैं। इसलिए भारतीय संस्कृति विश्ववारा संस्कृति हैं। काल के थपेड़ों के साथ इसमें क्षरण तो संभव हैं किन्तु यह मर नहीं सकती। यह अमर संस्कृति है क्योंकि यहां जीवन की अखण्डता और सम्पूर्णता पर बार-बार बल दिया गया है, यहां मान्यता है कि न तो राज्य अपेक्षित है न ही मोक्ष अभीष्ट है, अपेक्षा है, कामना है, तो मात्र इतनी कि कोई दुःखतप्त न रहे अर्थात् दुःखी लोगों के कल्याण के लिए सब कुछ, यहां तक कि अपना जीवन भी समर्पित करने की कामना ही, प्रति क्षण संस्कार के परिष्कार का आदर्श हैं। इसको अत्यन्त संतुलित शब्दों में प्रस्तुत करते हुए प्रसिद्ध साहित्यकार एवं **संस्कृतिविद् प्रो0 राधाकमल मुखर्जी** कहते हैं कि- ''व्यक्ति का लक्ष्य है प्रवीणता की प्राप्ति तथा समाज का लक्ष्य है संस्कृति की उपलब्धि, दोनों लक्ष्य एक ही है, पूर्ण संतुलित एवं व्यावहारिक हैं।'' यहां प्रवीणता जीवन में सद्गुणों का विकास ही हैं।

1.5.2 भारतीय संस्कृति के मानदण्ड—

विशाल एवं उदात्त जीवन पद्धति होने के नाते भारतीय संस्कृति को एक विशेष प्रकार की अमर्तता प्राप्त हो जाती है। जगत् में मनुष्य का कोई व्यापार या व्यवहार नितान्त एकाकी एवं अन्य से नितान्त अलग क्रिया नहीं है। किन्तु इस मान्यता के कारण अनेक दृष्टियां या मत संभव हैं, यद्यपि कि यह भी भारतीय संस्कृति की का एक वैशिष्ट ही है कि इसमें मनुष्य को अपने दृष्टि के निर्माण का व्यापक स्वातन्त्र्य प्राप्त है। किन्तु सामान्य बोध की दृष्टि से भारतीय संस्कृति के कुछ अवधारणात्मक संप्रत्ययों को अवश्य गिनाया जा सकता है जो समग्र भारतीय संस्कृति के मानदण्ड के रूप में समझे जाये और भारतीय दृष्टि से सुसंगत मानव व्यवहार में इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सके। इस दृष्टि से कुछ प्रमुख अवधारणायें निम्नवत् हैं-

1.जीवन की पूर्णता एवं इस जीवन की नश्वरता का बोध।
2.कर्म के प्रति जोर तथा नैतिक सिद्धान्तों की सर्वव्यापकता।
3.मानव मात्र की एकात्मकता में विश्वास।
4.उतरदायित्व की पवित्रता।
5.करूणा का आदर्श।
6.मनुष्य की सर्वविध उन्नति पर जोर।
7.भू-सांस्कृतिक राष्ट्रीयता।

इन पर अलग-अलग विचार किया जाए तो ये विशिष्टतायें सार्वभौम एवं मानव मात्र के लिए अपेक्षित है, वरेण्य हैं, ऐसा प्रतिपादित किया जा सकता है यद्यपि कि ऐसा प्रतिपादन सर्वथा संभव हैं और अपेक्षित भी। किन्तु भारतीय संस्कृति के वैशिष्ट्य प्रतिपादक मानदण्ड के रूप में इसे इसलिए प्रस्तुत करना आवश्यक हैं कि भारतीय संस्कृति ही एक मात्र ऐसी संस्कृति हैं, जिसमें ये सभी एक साथ तथा अत्यन्त प्राचीन ऐतिहासिक परंपरा में प्राप्त होते हैं।

1.5.3 जीवन की पूर्णता एवं जीवन का नश्वरता बोध

भारतीय संस्कृति का सर्वाधिक विचित्र पक्ष मानव जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण हैं। एक तरफ जीवन को नश्वर तथा मनुष्य को मरणधर्मा मान जीवनोतर व्यापारों के लिए व्यापक अवकाश प्रदान किया गया हैं। वहीं दूसरी ओर इसके सर्वविध रक्षा के प्रयत्न का उपदेश दिया गया हैं। कठोपनिषद् में यम और नचिकेता के विख्यात संवाद में जीवन और मृत्यु के रहस्यों का अत्यन्त गंभीर विवेचन प्राप्त होता हैं। यह विवेचन भारतीय संस्कृति का अत्यन्त विशिष्ट प्रतिपाद्य हैं अर्थात् मृत्यु सत्य है किन्तु यह समस्त जीवन की समाप्ति नहीं हैं बल्कि इस जीवन से दूसरे जीवन की ओर होने वाली यात्रा मात्र है।

यह जीवन, अर्थात् शरीर में बंधा हुआ वर्तमान जीवन, जो शरीर के नष्ट होने के साथ समाप्त हो जाने वाला हैं। शरीर की दृष्टि से नश्वर है। इसका उद्देश्य और लक्ष्य कर्म साधना मात्र है, इसलिए इस नश्वर जीवन को अत्यन्त सचेत रूप से कर्मयज्ञ में समिधा (हवन, सामग्री आदि) के रूप में झोंक देने की साधना ही जीवन यज्ञ हैं किन्तु यज्ञ बिना दक्षिणा को पूरा नहीं होता। इसलिए शरीर में बंधे जीवन की आहुति देने के बाद भी तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य को बचाकर जीवन की निरन्तरता में प्रवाहित करना, जीवन यज्ञ की दक्षिणा है। इसके लिए शरीर में बंधा जीवन आवश्यक है, साधन है अर्थात् मनुष्य का मरणधर्मी होना सत्य है, किन्तु मरणधर्मी मनुष्य को भी मानव-कर्तव्यों की पूर्ति के लिए शरीर को साधन के रूप में स्वीकार करना होगा। इसलिए शरीर को भी साधन के रूप में ग्रहण करना पड़ता हैं। अनिवार्य रूप से ग्रहण करना पड़ता हैं।

यद्यपि कि भारत को इस जीवन की नश्वरता का ज्ञान प्रारंभ में ही था किन्तु यही नश्वर जीवन, इस नश्वरता के बोध और भय से मुक्ति का माध्यम भी है। इसलिए आपको पर्याप्त महत्व दिया गया हैं- इस जीवन की सर्वाधिक मूल्यवता है क्योंकि यहीं से यह प्रयास और प्रार्थना की जा सकती है कि-**असतो मा सद् गमय तमसो मा ज्योर्तिगमय** – अर्थात् मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो, मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो। इस प्रकार इस जीवन को मृत्यु-दोष से युक्त मानने के बाद भी इसे त्यागने और उपेक्षित करने की वृति का भारतीय संस्कृति धारा में स्पष्टतः विरोध है। जैसा कि ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँसमा:।
एवं त्वयि नान्यथतोऽस्ति,न कर्म लिप्यते नरे।। (ईशा0 2)

''केवल कर्म करते हुए ही एक सौ वर्ष की आयु तक मनुष्य को जीवित रहने की आशा करनी चाहिए।'' यह दृष्टि जीवन की पूर्णता के प्रतिपादन का आधार है कर्म। कर्म करना है और कर्म के लिए शरीर साधन आवश्यक है। इस हेतु शरीर की किसी विधि रक्षा करना ही परम धर्म है जैसा कि महाभारत में भीष्म ने युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहा है कि ''जीवन जिस प्रकार से सुरक्षित रहे, उस प्रकार का प्रयत्न बिना किसी अवहेलना के करना चाहिए। मरने से जीवित

रहना श्रेष्ठ है, क्योंकि जीवित पुरूष पुनः धर्म का आवरण कर सकता हैं। यह जीवन धर्म के आचरण का आधार है। धर्म भी मात्र आध्यात्मिक नहीं हैं इसकी पूर्णता तभी है, जब मानव जीवन के सभी पक्षों, भौतिक, नैतिक, भावात्मक तथा आध्यात्मिक का सम्यक विवेचन एवं उनकी पूर्ति का प्रयास हो।

इसके लिए भारत में कर्मवादी दृष्टि अत्यन्त प्रखरता से प्रतिपादित की गयी है। कर्म मीमांसा का एक महत्वपूर्ण निकाय ही विकसित हुआ। गीता में श्री कृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं कि बिना कर्म के किसी भी व्यक्ति का एक क्षण भी स्थित रहना संभव नहीं हैं। देश या भूमि पर विचार करते हुए भी भारतवर्ष को कर्म क्षेत्र के रूप में प्रतिपादित किया गया हैं। यहाँ यह स्पष्ट मान्यता रही है और है कि इस लोक में विश्राम नहीं हैं। यहाँ तो जीवन भर कर्म करते रहना चाहिए। कर्म ही संसार चक्र की गति को जारी रखता है और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर से पूरा प्रयत्न कर इसकी गति को जारी रखना चाहिए।

कर्म के प्रति यह जोर कर्म-परिणाम की दृष्टि से नैतिकता के आधारभूत सिद्धान्तों की अपेक्षा करता है। भारतीय संस्कृति इस दृष्टि से भी विशिष्ट है कि यहां कर्म या मानवचारण को नियमित करने के लिए नैतिक उपदेशों को अपेक्षा नियामक सिद्धान्तों का प्रवर्तन दुनिया में प्रथम बार किया गया। यद्यपि नैतिक आचरण का वर्णन भी दुनिया की किसी भी अन्य संस्कृति से अधिक विपुल और व्यापक है किन्तु सामान्य नियामक सिद्धान्तों की प्रस्तुति विश्व में प्रथम बार की गयी है। अर्थात् हमें क्या करना चाहिए या मनुष्य के लिए क्या-क्या करणीय है अथवा क्या अकरणीय ? इसकी लम्बी सूची गिनाने की अपेक्षा किस प्रकार कर्म करने चाहिए कि वे नैतिक कर्म हों, यह प्रमुख प्रतिपाद्य हैं। यह इस समस्या से जुड़ा है कि किस प्रकार कर्म से उत्पन्न होने वाले परिणाम बन्धनों से मुक्त रह सके।

इस पर गहराई से विचार किया जाय, तो यह ध्यान में आयेगा कि प्रकृति नियन्त्रित अथवा ईश्वर नियन्त्रित कर्म सिद्धान्त की अपेक्षा कर्म स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन तथा उसे धर्माचरण का भाग बनाना भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य है। इसको नीति दर्शन की तुला पर मूल्यांकित करते हुए डॉ0 एस0 राधाकृष्णन कहते हैं कि केवल अवस्था मात्र है। यह नियति नहीं हैं। कर्म की सिद्धि के लिए पांच अवयवों का होना आवश्यक है। ये हैं अधिष्ठान, अथवा आधार, या कोई ऐसा केन्द्र जहाँ से कर्म किया जा सके, कर्ता अर्थात् कर्म करने वाला, करण अर्थात् प्रकृति का साधन, चेष्टा अर्थात् प्रयत्न या पुरूषार्थ और दैव अथवा भाग्य।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि नियति या भाग्य मनुष्य के कर्म का एक आयाम या अवयव मात्र है, उसके कर्म को नियन्त्रित करने वाली अन्तिम सता नहीं। इसलिए मनुष्य को कर्म करने तथा कर्मों का चयन करने की पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त हैं। इस प्रकार किसी भी प्रकार के भाग्यवाद का यहाँ स्पष्ट निषेध भी परिलक्षित होता हैं। कर्म के इस स्वातन्त्र्य और इसके नियामकस्वरूप का वर्णन करते हुए डॉ0 राधाकृष्णन् कहते हैं कि- जिससे हमारा ईश्वर मनुष्य और प्रकृति के साथ यथार्थ एक्य अभिव्यक्त हो, वही शुद्ध आचरण है और अशुद्ध आचरण है और अशुद्ध आचरण वह है जो यथार्थता के इस अनिवार्य संगठन के प्रतिपादन में असमर्थ हैं। विश्व का एकल आधारभूत सिद्धान्त है। जिससे पूर्णता की प्रगति हो सके, वही पुण्य है और जिसकी इससे संगति न बैठे, वह पाप हैं।

कर्म के इस सिद्धान्त के प्रति मुक्त एवं बद्धपुरूष तथा ईश्वर सभी उत्तरदायी हैं। मुक्तपुरूष, पूर्णता को प्राप्त पुरूष को भी लोकसंग्रह की भावना से कार्य करना चाहिए और संसार

मात्र के कल्याण को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। श्रमण धारा में भी बोधिसत्व का यही आदर्श है कि जब तक पृथ्वी पर एक भी व्यक्ति कलि के कलुष से दुःखतप्त है, उसे निर्वाण नहीं चाहिए।

इस नैतिकता के नियामक सिद्धान्त के पीछे ऋतु की अत्यन्त प्राचीन व्यवस्था है। नैतिक पूर्णता एवं कर्म सिद्धान्त के बीच इसी में निहित हैं। जो आदमी जैसा काम करता है और जिस प्रकार का जीवन बिताता है, उसी के अनुसार वह बन जाता है। इसको व्याख्यायित करते हुए कहा गया हैं कि- मनुष्य स्वयं इच्छानुसार अपना निर्माण करता है और उसी की इच्छा के अनुसार उसका निश्चय होता है तथा अपने निश्चय के अनुसार कार्य करता हैं और उसके कार्यों के अनुसार उसका प्रारब्ध होता हैं।

यह संकल्प एवं कर्म की स्वतन्त्रता का वो उच्चतम आदर्श है, जो अन्य किसी ऐतिहासिक संस्कृति में उपलब्ध नहीं होता तथा वर्तमान सांस्कृतिक समूहों में भी कठिनाई से प्राप्त होता हैं।

एकात्मवाद - लोकतंत्र का भाव या कर्म की पूरी स्वतन्त्रता के बाद भी अनिवार्य रूप से श्रेष्ठ कर्म का ही चुनाव करके एक ऐसी लोकोत्तर मान्यता पर प्रतिष्ठित है, जिसे एकात्मभाव या सर्वात्मभाव का सिद्धान्त कहा जा सकता है। भारतीय संस्कृति की चिति, उसके द्वारा प्रस्तुत सबमें एक आत्मा के होने की मान्यता है। इसका स्पष्ट रूप उपनिषदों में देखा जा सकता हैं। ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र में ही कहा गया हैं कि- **ईशावास्यामिदं सर्वं यत् किञ्चंजगत्यां जगत् --------** इस संसार में जो कुछ हैं वह सब ईश्वर का प्रकाश है अर्थात् सभी सांसारिक पदार्थ एक ही अद्वैत विश्वातीत किन्तु सर्वव्यापी तत्व की अभिव्यक्ति है, वहीं तुरीय तत्व समस्त वह ब्राह्मण्य के साथ एकाकार हो करके, अविद्या और मोह के बल पर सुख की स्थूल वस्तुओं का अनुभव करता हैं। इस महनीय सिद्धान्त के आधार पर ही भारतीय संस्कृति में मानव मात्र को ज्ञान प्राप्त करने तथा सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति करने का अधिकार दिया गया हैं। यह अद्वैतवाद में अपनी चरम परिणिति प्राप्त करता है जो समस्त विश्व के विभेदों में एक परम सत् और उस परम सत् में अनन्त विश्व का भेद खोजने की दृष्टि हैं।

1.5.4 उतरदायित्व की पवित्रता

जिस प्रकार के कर्मवाद की प्रतिष्ठा भारतीय संस्कृति में की गई है और कर्म को मुक्ति के साधन के रूप में स्वीकार किया गया हैं। उससे यह संभावना बनती हैं कि व्यक्ति समस्त कर्मों को अपनी व्यक्तिगत मुक्ति के लिए करेगा। किन्तु यह संकट भारतीय जीवन पद्धति में खड़ा नहीं होता है, क्योंकि यहां उन सभी सम्भावनाओं को समाप्त करते हुए दायित्व के भाव की सहज प्रतिष्ठा के लिए आनृण्य 'ऋण मुक्त होना' व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया हैं। यह चिन्तन अपने ढंग का अद्वितीय है और विश्व की किसी अन्य संस्कृति में प्राप्त नहीं होता हैं। आनृण्य व्यवस्था व्यक्ति को माता, पिता के प्रति, गुरू के प्रति, देवताओं के प्रति कृतज्ञता के भाव को उत्पन्न करते हुए उनसे जो कुछ प्राप्त हुआ, उससे उऋण होने की प्रस्तावना प्रस्तुत करती हैं। इस व्यवस्था की विशिष्टता यह है कि जिससे ऋण प्राप्त होता है, उसे नहीं लौटाना है अपितु उसके लिए अन्य को लौटाना है, यह समष्टि के प्रति कृतज्ञता का भाव हैं। इस व्यवस्था के फलस्वरूप मनुष्य अपने समस्त कर्तव्यों की पूर्ति के लिए उत्तरदायी बनता है और अपने उत्तरदायित्व की पूर्ति में अक्षम होने पर वह पाप का भाजन तो होता ही है, लोकनिन्दा का भी पात्र बनता हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को, जो गृहस्थ है अर्थात् जिसका उत्पादन व्यवस्था में सहकार है, जिसने समाज से अपना प्राप्तव्य प्राप्त कर लिया है। उसका समाज के प्रति यह दायित्व है कि वह उसके

भरण-पोषण एवं अभ्युन्नति के लिए प्रयास करें। इस प्रयास को यज्ञ के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हैं। प्रत्येक गृहस्थ की यह जिम्मेदारी हैं कि वह अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में तीन महत्वपूर्ण यज्ञों को स्थान दें। ये यज्ञ है, ब्रह्म यज्ञ अर्यात् अध्यापन, इस अनादि विश्व में अनेकों प्रयास से जो ज्ञान का विकास हुआ है और व्यक्ति तक पहुंचा हैं, उसके आगे संक्रान्त करना, विकसित करना और अगली पीढ़ी तक पहुँचाना प्रत्येक का कर्तव्य हैं। जो इस कर्तव्य का पालन नहीं करता है, वह ज्ञान का द्रोही है, ब्रह्म दोषी हैं। इसी प्रकार पितृयज्ञ अर्थात् तर्पण और प्रजापालन अर्थात् अतिथि सेवा, मानव सेवा, यह मानव का परम उत्तरदायित्व है। प्रतिदिन, प्रत्येक व्यक्ति भोजन के पूर्व एक निश्चित समय सीमा तक, भोजन के पूर्व एक निश्चित समय सीमा तक, भोजन के पूर्व घर के बाहर खड़े होकर, किसी अतिथि की प्रतीक्षा अवश्य करें, जिसे भोजन करा कर, वह अपने नृयज्ञ की पूर्ति की दिशा में, एक सार्थक प्रयास को सम्पन्न कर सके। मनुष्य को इस प्रकार की उदात्त भावना से प्रेरित करने की व्यवस्था मात्र भारतीय संस्कृति में ही प्राप्त होती हैं। अतिथि का स्वागत परम कर्त्तव्य है, और जो मनुष्य अतिथि का स्वागत नहीं करता हैं, वह घोर एवं गम्भीर पाप का भागी होता हैं। इसका विस्तृत वर्णन करते हुए मार्कण्डेय पुराण में कहा गया है कि जो गृहस्थ अतिथि का सत्कार नहीं करता है, वह स्वयं केवल पाप का भक्षण करता है। यह व्यवस्था मानव के भाव पक्ष के उदात्तीकरण का अद्भुत प्रयास हैं। भारतीय वंश परंपरा इस व्यवस्था के माध्यम से यात्रियों एवं भोजनावास इत्यादि की व्यवस्था, न केवल व्यवस्था अपितु सम्मानपूर्वक व्यवस्था का प्रबन्ध करती हैं।

भारतीय संस्कृति में प्रत्येक व्यक्ति को देवता, गुरू तथा माता-पिता के ऋण के माध्यम से अन्यों के प्रति उत्तरदायी होने की जो व्यवस्था की गयी हैं, वह उत्तरदायित्व की पवित्र भावभूमि पर मानव कर्म को स्थापित करने का प्रयास हैं। जिसमें कोई छोटा नहीं हैं, जिसमें कोई अनुत्तरदायी नहीं, सभी विशिष्ट मानवीय गरिमा से युक्त हैं, प्रत्येक पीढ़ी पूर्वजों से प्राप्त भौतिक आध्यात्मिक एवं अन्य उपलब्धियों को अपनी उत्तवर्ती पीढ़ी को देने के लिए जिम्मेदार हैं। इस प्रकार की व्यवस्था के कारण सामाजिक अनुबन्ध और समाज के प्रति व्यक्ति का दायित्व उसका सहज भाव हो जाता है। इसके लिए किसी बाध्यतामूल नीति की आवश्यकता नहीं होती हैं।

करूणा का आदर्श - भारतीय संस्कृति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता हैं करूणा की भावना। ऐसी भावना जो करूणा को विश्वबन्धुत्व के उत्कर्ष तक ले जाती हैं। मानव पीड़ा के प्रति असीम व निर्मल करूणापूर्वक चिन्ता, सार्वभौम करूणा एवं सद्भावना हमारी अनादि विशिष्टता है। सामान्यजन ने विशिष्ट करूणा, धैर्य एवं कृपा से संयुक्त बद्ध एवं महावीर जैसे युग-पुरूषों को भगवान के उच्चासन पर बैठाकर पूजा करते हैं। अनेक स्मारकों एवं प्रतीकों में आज भी वैश्विक करूणा के ये मूर्तिमान स्वरूप पूरे देश में पाये जाते हैं।

करूणा की यह भावना मनुष्य के दैनिक जीवन व्यवहार का ही हिस्सा नहीं रही। अपितु उससे आगे बढ़कर के यह कला एवं अन्य भावनात्मक क्रियाओं का स्थायीभाव बन गयी। करूणा को केन्द्रित करके दुनिया में कहीं भी इतनी रचनाओं की, इतने विस्तृत क्षेत्रों में प्राप्ति नहीं होती हैं। जहां मिस्र सभ्यता के कलातथ्य मिस्र के वैभव, राजा के प्रताप एवं ऐश्वर्य का प्रतिबिम्बन करते हैं, वहीं ग्रीक व रोमन सभ्यता के कलावशेष नागरिक जीवन की जटिलता एवं श्रृंगार एवं विलास से युक्त नगर-जीवन की झलक प्रस्तुत करते हैं। इन दोनों ही सभ्यताओं के विपरीत भारतीय संस्कृति में करूणा की प्रतिष्ठा, शिव, बुद्ध, महावीर, पशुपति, प्रजापति इत्यादि की प्रतिमाओं में अपनी रचनात्मक भावभूमि से सहज ही होती है और सकल विश्व के दुःख से

कातर और उसके परिहार के लिए चिन्तित मानव के उदात्त स्वरूप का दर्शन करती हैं। हमारी संस्कृति में दूसरों के लिए अपने जीवन का त्याग करने की जो महनीय प्रवृति पायी जाती हैं, वह किसी भी अन्य संस्कृति के लिए वरेण्य हैं। करूणा ही इसका आधार हैं। करूणा के भाव से अनासक्ति का उदय होता है। करूणा ने धर्म एवं कला का ऐसा गठबन्धन किया कलाकृतियों में चाहे वह किसी भी पन्थ से अनुप्राणित कृति हो वही प्रेरणा, वही साधना, वही तन्मयता दिखायी देती है जिसने पृथ्वी पर स्वर्ग निर्माण किया है।

1.5.5 मनुष्य के सर्वविधि उन्नति पर जोर—

करूणा के विस्तार का स्वाभाविक परिणाम था कि मनुष्य की सर्वविध उन्नति के प्रयास हुए। परिणामतः भारतीय संस्कृति का जोर मात्र मनुष्य के आध्यात्मिक और बौद्धिक जगत की सन्तुष्टि तक ही नहीं हैं, बल्कि उसे आगे तर्कशास्त्र, भाषाविज्ञान, आयुर्विज्ञान, ज्योतिषशास्त्र एवं अन्य विज्ञानों के विकास में भी पाया जाता हैं अर्थात् स्थापत्य से लेकर प्राणिविज्ञान तक सभी स्थानों पर करूणा की दृष्टि और दुःखकार प्राणियों के दुःखमोचन का प्रयास सर्वत्र दृष्टिगोचर होता हैं। जैसा कि चर्चा हो चुकी हैं, कि मनुष्य कल्याण, उसकी उन्नति मात्र आध्यात्मिक या उपासना दृष्टि से संभव नहीं हैं। इसके लिए अन्य पक्षों का भी विस्तार एवं विकास आवश्यक हैं। भारतीय संस्कृति में यह विस्तार अत्यन्त प्रबलता एवं प्रखरता से प्राप्त होता हैं। विज्ञान एवं तकनीक क्षेत्र में प्राप्त उपलब्धियां अत्यन्त विस्मयकारी एंव गौरवशाली हैं। भारतीयों ने गणित एवं यन्त्रविद्या की नींव डाली। उन्होंने भूमि का मापन किया, वर्ष के विभाग किये, आकाश का मानचित्र बनाया और सौरमण्डल के परिभ्रमण चक्र का परिशीलन किया और उपग्रहों की गति का अत्यन्त सूक्ष्त सीमा तक मूल्यांकन प्रस्तुत किया। प्रकृति विज्ञान के क्षेत्र में पक्षियों, पशुओं, पेड़ों, पौधों ओर बीजों आदि तक का अध्ययन किया। चिकित्सा विज्ञान में भी ज्योतिष एवं अध्यात्म विद्या के समान भारतीय संस्कृति की प्रमुखता सन्देह से परे है। आयुर्वेद एवं शल्य चिकित्सा के क्षेत्र में भारतीय उपलब्धियां आज भी कई दृष्टियों से दुनिया के आधुनिकतम ज्ञान-विज्ञान को चकित कर देने वाली हैं। खगोल विद्या के क्षेत्र में तो मात्र एक उद्धरण ही भारतीय सांस्कृतिक धारा के मनीषा की श्रेष्ठता को सिद्ध की देने के लिए पर्याप्त हैं। कि कोपरनिकस से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व (न्यूनतम) लिखे गये ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा गया हैं कि ''सूर्य न तो कभी अस्त होता है न तो कभी उदय, जब लोग सोचते हैं कि सूर्य अस्त हो रहा है, तब वह केवल एक परिवर्तन में आता हैं। दिन के अन्त में नीचे के हिस्से में रात हो जाती हैं और दूसरी ओर दिन हो जाता हैं, फिर जब लोग सोचते हैं कि सूर्य उदित हो रहा हैं, तब वह केवल रात्रि के अन्त में पहुँच कर केवल एक परिवर्तन में आ रहा होता हैं और नीचे के हिस्से में दिन और दूसरे हिस्से में रात कर देता हैं।'' भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में भी भारत की उपलब्धियां अत्यन्त आह्लादकारी हैं। इस प्रकार समाज विज्ञान के समस्त आयामों का सम्यक् विवेचन राजशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं धर्मशास्त्रों में पाया जाता हैं। लोकतंत्र एवं कल्याणकारी-राज्य की अवधारणा भारत में ही विश्व में सबसे पुरानी हैं। इतना ही नहीं सर्वपन्थ-समभाव की अवधारणा को भी राज्य के नीतिनियामक तत्व के रूप में स्वीकार करने के प्राचीनतम उदाहरण भारत में ही प्राप्त होते हैं। यदि राजनीति के क्षेत्र में अंग्रेजों के द्वारा लिखे कल्पित इतिहास से प्रभावित होकर, वेदों एवं उपनिषदों के महान् युग तथा महानतम शिक्षाओं को इस क्षेत्र में कल्पना भी माने तो चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक के शासन को तो यथार्थ स्वीकार करना ही पड़ेगा और पश्चिम में लोककल्याणकारी राज्य एवं सेकुलर राज्य की स्थापना से लगभग दो हजार वर्ष

पूर्व भारत में राज्य के लोककल्याणकारी स्वरूप एवं उसके सर्वपन्थ समभाव की दृष्टि से इनकार नहीं किया जा सकता हैं। चन्द्रगुप्त जिस अर्थशास्त्र को आधारित करके राज्य व्यवस्था का संचालन करता था, उसमें स्पष्टतः स्वीकार किया गया है कि जनता के सुख एवं नैतिक जीवन का दायित्व राज्य पर है। अर्थशास्त्र में कौटिल्य लिखते हैं कि ''प्रजा का सुख ही राजा का सुख है तथा प्रजा का हित ही राजा का हित है। राजा का हित अपने आनन्द में नहीं वरन् प्रजा के आनन्द में हैं।''

अशोक के शिलालेखों से भी यह बात स्पष्ट रूप से ध्वनित होती हैं। राज्य सभी के प्रति सहिष्णु हो तथा सभी के आचारों, विचारों का आदर करें, सबका सब के प्रति समत्व भाव बनें तथा कानून के समक्ष सबकी समानता हो, इसका भारतीय राज्य व्यवस्था में विशेष आदर रखा जाता था।

1.5.6 भू- सांस्कृतिक राष्ट्रीयता—

भारतीय संस्कृति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवधारणा उसकी भू-सांस्कृतिक राष्ट्रीयता हैं। इसको भारतीय संस्कृति के अत्यन्त व्यावर्त्तक लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता हैं। पश्चिम की राज्य राष्ट्र की अवधारणा के विपरीत भारत में प्राचीनतम काल से ही भू-सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का सिद्धान्त रहा हैं। यही कारण हैं कि अनेक प्रभुसता सम्पन्न राज्यों के होते हुए भी भारत भूमि को एक राष्ट्र के रूप में सर्वत्र स्वीकृति मिली, जो कि एक राष्ट्र एक जन की मान्यता का प्रतिपादन करता हैं। इस विशिष्टता को यूरोपीय इतिहास अथवा यूरोपीय इतिहास की दृष्टि से भारतीय इतिहास का लेखन और मूल्यांकन करने के तर्कों ये समझ पाना संभव नहीं हैं। युद्ध, राजनीति और आर्थिक संघर्ष को भारतीय विकास का स्त्रोत मानकर हम भारत तथा भारतीय इतिहास की राष्ट्रीय दृष्टि से कदापि नहीं समझ सकते हैं। स्वयं भारत शब्द भी एक भू-सांस्कृतिक अवधारणा को ही प्रस्तुत करता हैं, भारतीय संस्कृति में भूमि को माता माना गया है, एक भूमि पर रहने वाले समस्त जन उसके पुत्र हैं, भारत जो इस देश के पूर्वजों में श्रेष्ठतम हैं, उसके नाम पर इसे भारत कहा गया हैं। माता को ज्येष्ठ पुत्र के नाम से जोड़ कर बुलाने की परंपरा भी इस भूमि पर प्राप्त होती हैं। दूसरा अर्थ यह भी प्राप्त होता हैं कि **'भा' यानि प्रकाश, 'रत'** यानि लगा हुआ, अर्थात् प्रकाश की प्राप्ति में लगे हुए लोगों का जो जन भूमि संघात है, वह ही भारत हैं। राष्ट्र शब्द वैदिक काल से ही अपने मूल अर्थ में प्राप्त होता हैं। राष्ट्र एक सुघटित इकाई हैं, राज्य या किसी प्रकार की शासकीय सत्ता से इसका अर्थ सम्बन्ध रंच मात्र का भी नहीं हैं, माता भूमि, भारती वाक्, राष्ट्र इन वैदिक अवधारणाओं का पल्लवन ही भारत हैं। इस भारतवर्ष को एक यज्ञ वेदी के रूप में प्रस्तुत किया गया हैं। जो उत्तर की ओर ऊँची हैं, दक्षिण की ओर ढलुआ है। इसे बाणयुक्त चढ़ा हुआ धनुष कहा गया हैं। हिमालय का विस्तार उस धनुष का आधार दण्ड हैं और दक्षिणपथ खिंची हुई डोरी, जिसके बीच में बाण रखा हुआ हैं। कन्याकुमारी का अन्तरीप उस बाण की नोक हैं। इस भू-सांस्कृतिक अवधारणा का वर्णन सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में प्राप्त होता हैं। वेद जीवन की श्रेष्ठता को राष्ट्रीय सम्पन्नता की मांग में देखते हैं, तो पुराण भारतवर्ष का विहंगम मानचित्र खींचते हैं, पर्वतों एवं नदियों के माध्यम से समूचे भारत का विस्तृत वितान प्रस्तुत करते हैं। जीवन पद्धति की दृष्टि से भी प्रातः उठकर, स्नान करते समय, उपासना के समय, सोते समय, नदियों, नगरों, महापुरूषों के स्मरण का एक ऐसा विधान नियोजित होता है जो किसी अन्य संस्कृति में दुर्लभ हैं। पूरब के व्यक्ति को पश्चिम से, पश्चिम के व्यक्ति को पूरब से, उतर का दक्षिण से, दक्षिण को उतर से प्रतिदिन के व्यवहार में जोड़ने और

सुदूर भारत को अपने नित्य के अनुभव का विषय बनाने की जो अनुपम विधि प्रस्तावित की गयी हैं, वह उत्कृष्टतम हैं। यह भारत-भाव ही जीवन विधि हैं, भारत-भाव की प्रतिष्ठा मात्र, भारत के लिए नहीं हैं, वह तो तभी चरितार्थ होता है जब हम अपने, दायित्वों को पूरा करते हुए, सबमें अपनी चेतना का दर्शन करते हुए, सबकी पीड़ा बांटते हुए, समस्त सृष्टि के कल्याण के लिए आकुलता का जागरण करते हुए, अपनी भारतीयता को प्रमाणित करें।

1.5.7 सभ्यता और संस्कृति का संबन्ध—

सभ्यता के द्वारा ही संस्कृति एक समाज से दूसरे समाज को एवं एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित की जाती है। सभ्यता का निर्माण करके ही मनुष्य सांस्कृतिक विकास के पथ पर अग्रसर होता है। प्रायः मनुष्य की उपयोगिता से संबन्ध रखने वाली तथा निरुपयोगी रुचियां एक.दूसरे से मिली रहती हैं। जब मनुष्य खेतों में काम करता है, तबवह गीत भी गाता है। उपयोगी वस्तुओं को बनाते हुए वह प्रयास करता है किवे वस्तुएं सुन्दर भी हों। जब मनुष्य भवनों का निर्माण करता है, तब उन्हें उपयोगी बनाते हुए सुन्दर बनाने का प्रयत्न भी करता है। मनुष्य के उपयोगी क्रिया.कलापों पर उसके नैतिक तथा दार्शनिक विचारों और निष्ठाओं का प्रभाव पड़ता है। वास्तविक जीवन में मनुष्य के उपयोगी और सांस्कृतिक क्रियाकलाप परस्पर मिश्रित हो जाते हैं। प्रत्येक सभ्यता, प्रत्येक संस्कृति अपने आप में पूर्ण होती है। उसके सभी अंश एक दूसरे पर अवलम्बित और किसी एक केन्द्र से संलग्न होते हैं। सभ्यता का संबन्ध उपयोगिता के क्षेत्र से है और संस्कृति का मूल्यों के क्षेत्र से है। मैकाइवर तथा हुमायूं कबीर के मतानुसार सभ्यता और संस्कृति में वही संबन्ध है, जो साध्य और साधनों में होता है। परंतु जिस प्रकार साध्य और साधनों को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार सभ्यता तथा संस्कृति को भी एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। मनुष्य की कल्पना के कुछ क्षेत्र जैसे कला, काव्य और साहित्य , जहां सौन्दर्य और उपयोगिता के पहलू एक दूसरे से अनिवार्य रूप से सम्मिश्रित हो जाते हैं, वहां सभ्यता और संस्कृति दोनों का ही समन्वय हो जाता है। डी.डी. कोसंबी का कथन है कि ''कुछ लोग संस्कृति को धर्म, दर्शन, कानून व्यवस्था, साहित्य, कला, संगीत आदि के साथ जोड़कर नितांत बौद्धिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के रूप में ही ग्रहण करते हैं। कभी.कभी इसका विस्तार करके शासक वर्ग के शिष्टाचारों का भी इसमें समावेश कर लिया जाता है। परंतु इस प्रकार की संस्कृति को इतिहास का प्रेरणास्रोत मानने में अनेक कठिनाइयां हैं। किसी भी समुन्नत संस्कृति का मूलाधार है अनाज की सुलभता और वह भी वास्तविक अनाज उत्पादक की अपनी निजी आवश्यकता की पूर्ति के बाद बचे हुए अनाज की सुलभता। मेसोपोटामिया के भव्य जिक्कुरात मन्दिर, चीन की महान दीवार, मिस्र के पिरामिड या आधुनिक गगनचुम्बी इमारतें खड़ी करने के लिए उस काल में अतिरिक्त अनाज की उतनी ही अधिक सुलभता भी अवश्य रही होगी।'' सभ्यता और संस्कृति मनुष्य के सृजनात्मक क्रियाकलापों के ही परिणाम हैं। जब ये क्रियाकलाप मूलभावना ,चेतना और कल्पना को प्रबुद्ध करते हैं, तब संस्कृति का उदय होता है। किन्तु वैज्ञानिक चिन्तन तथा सामाजिक और राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उपयोगिता , मूल भावना, चेतना और कल्पना के पहलू परस्पर मिल जाते हैं। जब एक वैज्ञानिक अपने प्रयोगों और अन्वेषणों में सत्य की खोज करता है , तब उसके क्रियाकलाप सांस्कृतिक हैं। परंतु जबवह एक आविष्कारक और निर्माता के रूप में प्राकृतिक शक्तियों को मनुष्य की उपयोगिता के लिए नियंत्रित करता है, तब वह सभ्यता का सृजन करता है। मनुष्य स्वभावतः प्रगतिशील प्राणी है। वह बुद्धि के प्रयोग से अपने चारों ओर की प्राकृतिक परिस्थिति

को निरंतर सुधारता और उन्नत करता रहता है।ऐसे समाज, जाति या वर्ग जो सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत या श्रेष्ठ नहीं हैं, उच्च कोटि की सभ्यता को जन्म नहीं दे सकते हैं। जब तक लोग संस्कृति के एक विशिष्ट स्तर तक नहीं आ जाते, तब तक वे लोकतंत्र, समाजवाद और साम्यवाद जैसे जटिल सामाजिक और आर्थिक संगठनों तथा संस्थाओं को आयोजित या विकसित नहीं कर सकते। इस प्रकार आप समझ पाए होंगे कि सांस्कृतिक क्रियाकलापों से सभ्यता विकसित होती है। संस्कृति के अभाव में सभ्यता अपना अस्तित्व बनाए नहीं रख सकती। संस्कृति और सभ्यता की प्रगति अधिकतर एक साथ होती है और दोनों का एक.दूसरे पर प्रभाव भी पड़ता है। संस्कृति मनुष्य के जीवन और अस्तित्व को अधिक सचेतन, व्यापक और समृद्ध बनाती है, उसकी आध्यात्मिकता में वृद्धि करती है, धर्म और दर्शन का विकास करती है, संस्कृति की यह सार्थकता है।अक्सर हम सभ्यता और संस्कृति शब्दों का प्रयोग अपने व्यवहार में प्रायः एक ही अर्थ में करते हैं।पर समाजशास्त्रियों ने इन दोनों में विभेद भी किया है। सभ्यता का तात्पर्य प्रायः उच्च आदर्शों और मूल्यों से युक्त समाज के अर्थ में किया जाता है।पर कई मानवशास्त्रीय अध्ययनों से यह निष्कर्ष भी निकले हैं कि बहुत से आदिम समाजों के अपने जीवन मूल्य , धारणाएं, विश्वास, नियम, धर्म तथा परंपराएं रही हैं। समय के साथ.साथ उन्होंने भी प्रकृति के सापेक्ष्य अपनी जीवन पद्धति में कुछ परिवर्तन किए, जो आधुनिक संदर्भों में उनकी संस्कृति की विशेषता थी।

1.6 पुराण भारतीय संस्कृति के आधारस्तम्भ

भारतीय संस्कृति में पुराणों का स्थान न केवल प्राचीन काल में ही अत्यंत महत्वपूर्ण रहा हैं, वरन आज भी है । क्योंकि इनके ही माध्यम से पुरातन भारतीय मनीषा, कला तथा इतिहास की त्रिवेणी का संरक्षण अत्यन्त ही व्यवस्थित रूप में किया जा सका हैं । पुराण आर्य साहित्य रूपी मन्दिर के उन दैदीप्यमान स्वर्णिम कलशों के समान हैं, जिनका अवलोकन करने मात्र ही से मन्दिर की भव्यता, महानता, सुन्दरता और उपयोगिता का आभास हो जाता हैं । वास्तव में पुराण भारत के त्रिकालज्ञ ऋषियों- महर्षियों और महान विद्वानों, चिन्तकों तथा तत्वज्ञों का वह प्रसाद हैं, जिसमें प्राणीमात्र की सर्वांगीण उन्नति और परम कल्याण की साधना-सम्पति अक्षय भण्डार निहित हैं । इस भण्डार के बल पर भारत बौद्धिक दृष्टि से आज भी एक ऐसा सम्पन्न देश हैं, जो प्राणी मात्र के कल्याण के लिए विश्व को बहुत कुछ दे सकता हैं । पुराण मानव सृष्टि की आदि स्थिति के साथ-साथ उसके क्रमिक विकास के अन्तर्गत आधुनिक काल तक का ब्योरा देने के बेजोड़ साधन हैं । विश्व के किसी भी देश या जाति धर्म में ऐसा कोई भी ग्रन्थ नहीं हैं, जिसमें इस प्रकार से अनादि काल से सृष्टि क्रम का इतना पुष्ट विवरण सुलभ हो । आज के इतिहासकारों द्वारा जिस युग को प्रागैतिहासिक अथवा अंधयुग कहा जाता है, उसमें भी पुराणों की दिव्य-प्रभा प्रकाश स्तम्भ के रूप में कार्य करती हैं । भारतीय संस्कृति और इतिहास की जो आधारभूत सामग्री पुराणों के माध्यम से हजारों-हजारों वर्ष पूर्व प्रस्तुत की गई हैं, वह आज के भारतीय शिक्षाविदों के लिए भी सुखद विस्मय प्रस्तुत कर देती हैं । वास्तव में पुराण भारतीय संस्कृति की एक अनुपम, अद्भुत, अद्वितीय और अमूल्य निधि है ।

अभ्यास प्रश्न -

1.कौन-सी संस्कृति विश्व की प्राचीनतम् संस्कृति है ?

अ. भारतीय ब. चीन

स. अमेरिका द. यूरोप

2.मानव संस्कृति विहीन हो जाये तो किसके समतुल्य माना जाता है ?

अ. देवता ब. असुर

स. पषु द. गन्धर्व

3.मनुष्य और पशु के बीच किसका अन्तर है ?

अ. मनुष्यता ब. पशुता

स. संस्कृति द. उपरोक्त कोई नहीं

4.संस्कृति किसके लिए आदर्शसूचक है ?

अ. समाजआदि का समूह ब. सामाजिक स्तर का समूह

स. भौगोलिक स्थिति का समूह स. अन्तर्जातिक स्तर का समूह

5.संस्कृति में किसका गुण निहित होता है ?

अ. सामाजिकता ब. भौतिकता

स. आदर्शता द. नश्वरता

6.संस्कृति आदर्श होती हैं -

अ. समूह के लिए ब. खुद के लिए

स. परिवार के लिए द. जाति के लिए

7.संस्कृति निर्मित हैं -

अ. मानव से ब. देवता से

स. असुर से द. नेता से

1.7 सारांश

संस्कृति का वर्णन सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में प्राप्त होता हैं। वेद जीवन की श्रेष्ठता को राष्ट्रीय सम्पन्नता की मांग में देखते हैं, तो पुराण भारतवर्ष का विहंगम मानचित्र खींचते हैं, पर्वतों एवं नदियों के माध्यम से समूचे भारत का विस्तृत वितान प्रस्तुत करते हैं। जीवन पद्धति की दृष्टि से भी प्रातः उठकर, स्नान करते समय, उपासना के समय, सोते समय, नदियों, नगरों, महापुरूषों के स्मरण का एक ऐसा विधान नियोजित होता है जो किसी अन्य संस्कृति में दुर्लभ हैं। पूरब के व्यक्ति को पश्चिम से, पश्चिम के व्यक्ति को पूरब से, उतर का दक्षिण से, दक्षिण को उतर से प्रतिदिन के व्यवहार में जोड़ने और सुदूर भारत को अपने नित्य के अनुभव का विषय बनाने की जो अनुपम विधि प्रस्तावित की गयी हैं, वह उत्कृष्टतम हैं। यह भारत-भाव ही जीवन विधि हैं, भारत-भाव की प्रतिष्ठा मात्र, भारत के लिए नहीं हैं, वह तो तभी चरितार्थ होता है जब हम अपने, दायित्वों को पूरा करते हुए, सबमें अपनी चेतना का दर्शन करते हुए, सबकी पीड़ा बांटते हुए, समस्त सृष्टि के कल्याण के लिए आकुलता का जागरण करते हुए, अपनी भारतीयता को प्रमाणित करें।

संस्कृति अर्जित व्यवहार तथा समाज में रहने वाले व्यक्तियों का विचार है। संस्कृति की विशेषताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृति अमूर्त है। इसका संबन्ध समाज और व्यक्ति से है।दूसरी ओर सभ्यता में हम मानव निर्मित भौतिक वस्तुओं को सम्मिलित करते हैं। सभ्यता शब्द का प्रयोग मानव समाज के एक सकारात्मक, प्रगतिशील और समावेशी विकास को इंगित करने के लिए किया जाता है।सभ्यता और संस्कृति में विभेद होते हुए भी दोनों

की प्रगति अधिकतर एक साथ होती है। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करती हैं और परस्पर प्रभावित भी होती हैं। प्रायः प्रत्येक समाज में राजनीतिक और आर्थिक रूप से प्रभुत्व सम्पन्न समूह ही सभ्यता का प्रतीक होता है। लोग अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार उनके रहन-सहन, आचार-विचार, वेश-भूषा आदि का अनुकरण करने लगते हैं। उनकी भाषा सभ्य और सुशिक्षित होने की पहचान का मानक और शिक्षा ज्ञान, विधान और प्रशासन का माध्यम बन जाती है।

1.8 पारिभाषिक शब्दावली

संस्कृति - संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा की 'कृ' (करना) धातु से बना है। अंग्रेजी में संस्कृति के लिए प्रयुक्त कल्चर शब्द लैटिन भाषा के 'कल्ट' या 'कल्टस से लिया गया है, जिसका अर्थ है जोतना, विकसित करना या परिष्कृत करना।

1.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1-(अ) 2- (स) 3- (स) 4- (अ)
5- (अ) 6- (अ) 7- (अ)

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.भारतीय संस्कृति,चौखम्भा वाराणसी
2. समाजशास्त्र के सिद्धान्त, वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा
4. संस्कृति के ज्ञान,सुधानन्द सरस्वती,राउरकेला आर्य समाज मन्दिर
5. महापुराण सार,रघुनन्दन शर्मा,विश्व हिन्दू परिषद् नई दिल्ली

1.11 उपयोगी ग्रन्थ

1.भारतीय संस्कृति, चौखम्भा वाराणसी
2. राष्ट्र गौरव,डॉ. कौशल किशोर मिश्र अंजनी कुमार मिश्र मिश्रा ट्रेडिंग कोर्प. शाप नं.12, ज्ञानमण्डल प्लाजा मैदागिन वाराणसी
3. समाजशास्त्र के सिद्धान्त वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा
4. संस्कृति के ज्ञान,सुधानन्द सरस्वती,राउरकेला आर्य समाज मन्दिर
5. महापुराण सार, रघुनन्दन शर्मा,विश्व हिन्दू परिषद् नई दिल्ली
6. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पटना, 1956

1.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संस्कृति की विभिन्न विशेषताओं का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. संस्कृति के लक्षणों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
3. संस्कति के मानवशास्त्रीय अर्थ तथा समाजशास्त्रीय अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. संस्कृति का अर्थ स्पष्ट करते हुए बताइये कि संस्कृति से आप क्या समझते हैं ?
5. संस्कृति की प्रकृति की विस्तार से व्याख्या कीजिए। 3.संस्कृति के तत्वों की विवेचना कीजिए।
6.सभ्यता और संस्कृति पर एक निबन्ध लिखिए।

इकाई-2 कर्म की अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 भारतीय दार्शनिक-सांस्कृतिक चिंतन परंपरा में कर्म की अवधारणा
2.3.1 श्रुति (वेद), स्मृति और उपनिषद में कर्म की अवधारणा
2.3.2 नास्तिक दर्शनों (वेद को न मानने वाले) में कर्म की अवधारणा
2.3.3 षड्दर्शन अर्थात् आस्तिक दर्शनों में कर्म की अवधारणा
2.3.4 गीता में कर्म की अवधारणा
2.3.5 स्मृति ग्रंथों में कर्म की अवधारणा
2.3.6 कर्म की अवधारणा और पुरुषार्थ से अन्तःसम्बन्ध
2.3.7 कर्म की अवधारणा के साथ संकल्प
2.4 सारांश
2.5 पारिभाषिक शब्द-
2.6. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.7 संदर्भ ग्रंथ
2.8 निबंधनात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

'कर्म' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के शब्द 'कृ' धातु से हुई है। जिसका अर्थ है-- 'करना'। कर्म शब्द का शाब्दिक अर्थ है-- कार्यवाही या करना। व्याकरण में क्रिया से निष्पादित फल के आश्रय को कर्म कहते हैं।कर्म के अंतर्गत शारीरिक,मानसिक और वाचिक क्रियाएं आती हैं अर्थात शरीर द्वारा किए गए कार्य के अलावा हमारी वाणी से निकले शब्द और भावनाएं भी कर्म के अंतर्गत आती हैं। इस प्रकार कर्म मेंमूर्त और अमूर्त क्रियाएं या गतिविधियां भी शामिल होती हैं।कर्म की अवधारणा सनातन भारतीय सामाजिक-दार्शनिक-धार्मिक व्यवस्था से इतनी गहराई से जुड़ा है कि इसे भारतीय सभ्यता और संस्कृति की नैतिक पृष्ठभूमि भी माना जाता है। नैतिक दर्शन में मनुष्य के प्रयासों और कर्मों को ही प्रमुखता दी जाती है। कर्म का सिद्धांत मानवीय प्रयासों की सर्वोच्चता तथा सार्वभौमिकता के सिद्धांत पर टिका है। मनुष्य की वर्तमान में जो भी स्थिति होती है,वह उसके कर्मों के परिणाम की ही निष्पत्ति है। कर्म की अवधारणा के दो मूल आधार हैं-- पहला कृतप्रणाश अर्थात किये हुए कर्म का फल नष्ट नहीं होता और अकृताभ्यागम अर्थात बिना किये हुए कर्म का फल भी नहीं मिलता। दूसरा-जैसा बोओगे, वैसा काटोगे। कहा भी गया है कि 'बोया पेड़ बबूल के तो आम कहां से खाएं' अर्थात जैसा हम करते हैं, वैसा ही हमें फल मिलता है।

कर्म एक संचयी प्रक्रिया है। इसमें सभी कर्मों के परिणाम एकत्रित होते रहते हैं, जो समयानुसार फलित होते रहते हैं। कर्म की सत्ता असीमित और व्यापक है। यह निरंतर चलने वाली तथा कभी खत्म नहीं होने वाली सत्ता है। मनुष्य की मृत्यु के बाद भी इसकी सत्ता बनी रहती है। इसके फलों के परिणाम के मुताबिक ही जीवन में सुख-दुख मिलता है। कर्म के सिद्धांत का कोई अपवाद नहीं है।ऐसा माना जाता है कि ईश्वर भी इस नियम के अपवाद नहीं है। मनुष्य के वर्तमान जीवन में जो सामाजिक-आर्थिक विभिन्नताएं होती हैं, वह पिछले जन्मों के कर्मों के अंतर के कारण होती हैं। एक बार कर्म की प्रक्रिया शुरू हो जाने पर यह तब तक समाप्त नहीं होती, जब तक कि कर्म के फलों से उसकी मुक्ति प्राप्त नहीं हो जाती।

एक तथ्य का यहां उल्लेख करना जरूरी है कि कर्म सिद्धांत का क्षेत्र सीमित है। यह केवल उन्हीं कर्मों पर लागू होता है,जो फल की कामना या किसी उद्देश्य से की जाती है। जब कर्म निष्काम भाव से किया जाता है, तो वह कर्म सिद्धांत के दायरे में नहीं आता है।

भारतीय परंपरा में कर्म के तीन प्रकार माने गए हैं-

(1) संचित कर्म- यह अतीत जीवन के कर्म हैं, जिनका फल अभी मिलना शुरू नहीं हुआ है।

(2) प्रारब्ध कर्म- यह भी अतीत जीवन से सम्बन्धित है, जिनका फल मिलना शुरू हो गया है।

(3) क्रियमाण कर्म- यह वर्तमान जीवन के कर्म है, जिनका फल भविष्य में मिलेगा।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई लेखन (कर्म की अवधारणा) का उद्देश्य यह बताना है कि कर्म मनुष्य के भौतिक,नैतिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक आदि जीवन की आधारशिला है। कर्म सिद्धांत एक अकाट्य तथ्य है। 'जैसा बोएंगे वैसा काटेंगे' अर्थात कर्मों के अनुरूप ही फल मिलता है, यह सुनिश्चित है। जैसा हम कर्म करेंगे, वैसा ही हमारा जीवन होगा। इसके लिए कोई दैवी सत्ता नहीं, बल्कि हम स्वयं उत्तरदायीं हैं।मनुष्य कर्म करने के लिए स्वतंत्र है, पर उसकी स्वतंत्रता असीमित

नहीं है, फिर भी वह भाग्य निर्माता और भविष्य निर्माता है। संक्षेप में "कर्म बन्धन भी है और मुक्ति भी।"

इस लेख में उपर्युक्त तथ्यों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

2.3 भारतीय दार्शनिक-सांस्कृतिक चिंतन परंपरा में कर्म की अवधारणा

2.3.1 श्रुति (वेद), स्मृति और उपनिषद में कर्म की अवधारणा-

कर्म सिद्धांत का सूक्ष्म स्वरूप हमें सबसे पहले वेदों में देखने को मिलता है। वैदिक काल के ऋषियोंका नैतिक मूल्यों और व्यवस्था में अटूट विश्वास था। इस नैतिक व्यवस्था को वेद में 'ऋत' कहा गया है। इसे 'जगत की व्यवस्था' भी कहा गया है। 'ऋत' का सीधा और सरल अर्थ है-- 'नियम'। यह नियम ईश्वरीय व्यवस्था है। इसी 'ऋत' के नियम से जीव-जन्तु, पशु-पक्षी, समस्त प्राकृतिक शक्तियां जैसे नदी,पर्वत,समुद्र, सूर्य,चंद्र,नक्षत्र आदि अनुशासित और नियंत्रित होते हैं और अपना-अपना कार्य करते हैं। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार--"समस्त ब्रह्मांड 'ऋत' पर आधारित है और इसी के अंदर रहकर सभी गति करते हैं।"1

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार-"ऋग्वेद प्रतिपादित सदाचार की ओर ध्यान देने पर ज्ञात होता है कि यहां 'ऋत' के विचार का बहुत महत्व है। यह कर्म सिद्धांत का,जो कि भारतीय विचारधारा का एक विशिष्ट स्वरूप है, पूर्व रूप है। यह वह कानून है, जो संसार में सर्वत्र व्याप्त है और जिसे सब देवता एवं मनुष्यअवश्य पालन करते हैं। यदि संसार में कोई कानून (त्रिकालाबाधित नियम, ऋत) है, तो उसे अवश्य क्रियात्मक रूप में आना ही चाहिए। जहां यह नियम कार्य करता है,वहां अव्यवस्था अथवा अन्याय केवल अस्थायी एवं आंशिक रूप से ही रह सकते हैं।2

जैसा कि विदित है कि एक तरफ 'ऋत' कर्म सिद्धांत है, वहीं दूसरी ओर वह एक नैतिक नियम भी है। 'ऋत' सत्य और धर्म है। देवता इस नैतिक नियम का पालन करने तथा करवाने वाले हैं। पाप अनृत और अधर्म है। पुण्य का पुरस्कार तथा पाप का दंड अवश्य मिलता है। पुण्य का अर्थ-"केवल नैतिक नियम के अनुसार आचरण करना नहीं है, बल्कि यह आंतरिक शुद्धि और संयम भी है।"3

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक 'ऋत' कर्म सिद्धांत का पूर्व रूप था। बाद के वैदिक साहित्यों, उपनिषदों तथा धार्मिक ग्रंथो में यह 'ऋत्त' विकसित होकर कर्म सिद्धांत का रूप ले लेता है। कर्म की महत्ता को बताते हुए अथर्ववेद में एक जगह कहा गया है- "मैं स्वभावतः विजयशील हूँ। पृथ्वी पर मेरा उत्कृष्ट पद है। मैं विरोधी शक्तियों को परास्त कर सभी विघ्न-बाधाओं को हटाकर प्रत्येक दिशा में सफलता पाने वाला हूँ।"4

ऐतरेय ब्राह्मण अपने 'चरैवेति' श्लोक में कहता है कि-- "जो बैठा रहता है, उसका सौभाग्य बैठा रहता है। पर जब कोई खड़ा होता है तो उसका सौभाग्य भी खड़ा होता है। पड़े रहने वाले का सौभाग्य भी पड़ा रहता है तथा चलने वाले (कर्मरत) का सौभाग्य भी चलने वाला होता है। अतः कर्मशील बनों। पुनः आगे कहा गया है कि सोने वाला व्यक्ति कलि है, निद्रा से उठने वाला द्वापर है, उठकर खड़ा होने वाला त्रेता और कर्मरत व्यक्ति कृतयुग बन जाता है। अतः कर्मशील बनो। कर्मशील व्यक्ति ही जीवन का मधु पाता है। वही सुस्वादु फल का आस्वादन करता है। सूर्य की ओर देखो, वह निरंतर कर्मरत रहता है। अतः कर्मशील बनो।"5कर्म करने में आलस्य ठीक नहीं है। जो हो चुका है, अतीत है, उससे चिपके रहने में कोई सार नहीं और जो

आने वाला है, वह आगामी भविष्य है, उसका सपने देखते रहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि भविष्य का क्या ठिकाना? इसीलिए आज पर ही भरोसा कर सामने वाले कर्म का संपादन करना बुद्धिमान व्यक्ति का कर्तव्य है। इसीलिए शतपथ ब्राह्मण कर्म को इसी वक्त करने का परामर्श देता है।6 कर्म में विश्वास रखने वाले एक प्राचीन ऋषि को अपने कर्म पर इतना भरोसा था कि वह कहता था कि "मेरे दाहिने हाथ में पुरुषार्थ है और बाएं हाथ में सफलता रखी है।"7 परंतु धीरे-धीरे समय बीतने के साथ कर्म सिद्धांत को कर्मकाण्ड समझे जाने लगा। इसके पीछे धूर्त पुरोहितों और विद्वानों का अपना लाभ था। जिस यज्ञ को पवित्र कार्य माना जाता था, उसे बलि, हिंसा आदि का पर्याय बना दिया गया। भगवतगीता में कहा गया है-- "यज्ञार्थ किए गए कार्य बंधनकारी नहीं होते, पर अनधिकारी, अज्ञानी तथा पाखंडी पुरोहितों ने यज्ञ का अर्थ भी बदल डाला"8 और विधि विधान से संपन्न यज्ञों को स्वर्ग के द्वार के रूप में सीमित कर दिया गया (स्वर्गकामो यज्ञेत)। ऐतरेय ब्राह्मण में बताया गया है कि कई ऋत्विज भय, आडंबर, अनाचार के वशीभूत होकर भी यज्ञ कराते थे।9जबकि वास्तविकता यह है कि ऐसे कर्म यज्ञ की श्रेणी में नहीं आते हैं। कर्म सिद्धांत का अत्यन्त विकृत रूप सामने आया।10यज्ञों में पशु बलि एक सामान्य बात हो गई थी। कालांतर में बौद्ध और जैन धर्म के उदय में एक प्रमुख कारण यज्ञ में पशु बलि दिया जाना था, जो हिंसा का पर्याय था। चार्वाक दर्शन ने यज्ञ के नाम पर किये जाने वाले इन कर्मकाण्डों की तीव्र आलोचना की और इन कर्मकाण्डों को करने वालों को 'भांड निशाचरा' भी कहा।11 पर ऐसा नहीं है कि इन कर्मकाण्डों की आलोचना चार्वाक,बौद्ध और जैन आदि नास्तिक दर्शनों ने ही की है। आडंबर से भरे इन कर्मकाण्डों की आलोचना उपनिषदों में भी की गई है। कर्मकाण्डों कराने वाले और उनके समर्थकों को उपनिषद 'आत्महंता' कहता है। इसमें मुण्डक और कठ उपनिषद प्रमुख है। वस्तुत: भारतीय दार्शनिक चेतना का प्रमुख चिंतन बिन्दु ब्रह्म और आत्मा रही है। कर्मकाण्ड उसकी अभिरुचि का विषय नहीं था।12महाभारत में ऐसे धूर्त कर्मकांडियों को मंद प्रज्ञा तथा अविपश्चित (मूर्ख) तक कहा गया है।13श्रीमद्भागवत गीता ने ऐसे लोगों को जड़ी, कृतिमति आदि कहा है।14

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि कर्म की अवधारणा से सम्बंधित सिद्धांत और कर्मकाण्ड नितांत भिन्न है। उपनिषदों ने कर्म सिद्धांत को उसके तात्विक स्वरूप में स्वीकार किया है।15मुण्डक उपनिषद में कहा गया है-- "कर्मकाण्ड से प्राप्त लोक नश्वर होता है।16इस तत्वज्ञान से ही मनुष्य के हृदय में निर्वेद उत्पन्न होता है। बृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार यह पुरुष काममय है। जैसे उसकी इच्छा है, वैसे ही उसका कृतु (संकल्प) होता है और संकल्प के अनुसार ही वह कर्म करता है।17मुक्ति उपनिषद कहता है--"वासना रूपी नदी दो भागों में प्रवाहित होती है-- शुभ मार्ग में और अशुभ मार्ग में। मनुष्य को यह चाहिए कि वह प्रयत्न द्वारा अशुभ मार्ग में लगी वासना को शुभ मार्ग में ही ले जाए।18

श्रुति और औपनिषदिक परम्परा के अलावा चार्वाक, बौद्ध और जैन जैसे नास्तिक दर्शनों (जो वेद को नहीं मानते) के साथ-साथ षड्दर्शन (जो वेद को मानते हैं) में भी कर्म की अवधारणा या कर्म सिद्धांत पर बहुत जोर दिया गया है। ये सभी दार्शनिक परम्पराएं (आस्तिक और नास्तिक) अपनी निष्पत्तियों का आधार कर्म सिद्धांत को भी बनाती हैं।

2.3.2 नास्तिक दर्शनों (वेद को न मानने वाले) में कर्म की अवधारणा

चार्वाक दर्शन एक भौतिकवादी और सुखवादी दार्शनिक चिंतन है। वह कर्म की अवधारणा की भारतीय परम्परा को नहीं मानता। उसे नैतिक मूल्यों में कोई विश्वास नहीं है,जबकि कर्म की अवधारणा एक नैतिक मूल्य है। उसका मानना है कि कर्मों का भोग करने के लिए हमें इस संसार में नहीं आना पड़ता है, क्योंकि वह पुनर्जन्म को नहीं मानता है। पुनर्जन्म को नहीं मानने का कारण यह है कि वह आत्मा की सत्ता में विश्वास नहीं रखता है । जो कुछ सत्य है, वह यह लौकिक संसार ही है। वह आत्मा, पुनर्जन्म, परलोक की अवधारणा को केवल कपोल-कल्पना मानता है। इसीलिए कर्म और उसके फल अर्थात पुण्य और पाप के विचार को भी निरर्थक मानता है।'खाओ पीयो और मौज करो','जब तक जीयो सुख से जीयो', 'कर्ज लेकर के लेकर के घी पीयो'अर्थात जो कुछ इन्द्रिय इच्छा करे,वह करो। कर्मो के फल भोग का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं। वह जीवन को भौतिक और आनंदमय रूप से जीने की सलाह देता है, न कि किसी अदृश्य शक्ति या भविष्य के फल की चिंता में जीवन जीया जाय।

जैन दर्शन अपनाएक विशिष्ट कर्म सिद्धांत प्रस्तुत करता है। इस कर्म सिद्धांत में आत्मा के बंधन और मुक्ति की प्रक्रिया को समझाया गया है।जैन दर्शन में कर्म को पृथ्वी,अग्नि,जल आदि की भांति 'भौतिक' या 'पौद्गालिक' माना गया है। इसी 'कर्म' को बंधन का कारण माना गया है। यही सत्ता (कर्म) वेदांत में 'माया' या 'अविद्या', सांख्य में 'प्रकृति', न्याय में 'अदृष्ट' और मीमांसा में 'अपूर्व' के नाम से जानी गई है। कर्म का जीव से सम्बन्ध अनादि है। यह सम्बन्ध ही बन्धन है और जब तक यह सम्बन्ध है,तब तक बन्धन है।

जैन दर्शन में कर्म को आठ प्रकार का माना गया है

1. ज्ञानावरणीय कर्म- यह आत्मा की ज्ञानात्मक शक्ति को दूषित करता है।
2. दर्शनावरणीय कर्म- यह आत्मा की आनुभविक एवं प्रत्यक्षीकरण की शक्ति को आच्छादित करता है।
3. वेदनीय कर्म- इसके कारण आत्मा को सुख-दु:ख का अनुभव या संवेदन होता है।
4. मोहनीय कर्म-इस कर्म के कारण जीव का विवेक नष्ट हो जाता है। यह व्यक्ति के यथार्थ दार्शनिक ज्ञान और सदाचरण में बाधक होता है।
5. आयुष्य कर्म- यह व्यक्ति के भावी जीवन की योनि और आयुष्य का निर्धारण करता है।
6. नाम कर्म- यह व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माता है। यही शारीरिक सौंदर्य और असौंदर्य के लिए भी उत्तरदायी है।
7. गोत्र कर्म- यह व्यक्ति की जाति और कुल का निर्धारण करता है।
8. अंतराय कर्म- यह प्राणी की अभीष्ट उपलब्धियो में बाधा उत्पन्न करता है।

पुनः इन आठों कर्मों को दो अन्य रूपों में विभाजित किया गया है-

1. घाती कर्म - इसके अंतर्गत ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय ये चार कर्म आते हैं। घाती कर्म आत्मा के ज्ञान,दर्शन और शक्ति नामक स्वाभाविक गुणों को आच्छादित करते हैं। ये कर्म आत्मा की स्वभाव दशा को विकृत करते हैं। अतः जीवनमुक्ति में बाधक होते है।
2. अघाती कर्म- इसके अन्तर्गत नाम,गोत्र,आयुष्य और वेदनीय कर्म आते हैं। अघाती कर्म वह है,जो आत्मा की स्वभावदशा की उपलब्धि और विकास में बाधक नहीं होते हैं। अघाती कर्म भुने हुए बीज के समान है, जिनमें नवीन कर्मों की उत्पादन क्षमता नहीं होती है। वे 'कर्म परंपरा' का प्रवाह बनाए रखने में असमर्थ होते हैं और समय की परिपक्वता के साथ ही अपना फल देकर सहज ही अलग हो जाते हैं। ये उस शरीर को प्रभावित करते हैं, जिसमें आत्मा निवास

करती है। जैन इन कर्मों के क्षय को ही मोक्ष या मुक्ति मानते हैं। अर्थात् इन कर्मों के क्षय होने पर जीव पर कर्म सिद्धांत लागू नहीं होता है। चूंकि जैन दर्शन में ईश्वर की सत्ता स्वीकार्य नहीं है, इसलिए सत्कर्मों के द्वारा ही इनका क्षय संभव है। जैन दर्शन निम्न पांच अवस्थाओं का वर्णन करता है, जिसके द्वारा कर्म पुद्गलों का नाश होता है और मोक्ष मिलता है।

1.आश्रय- कर्म पुद्गलों काजीव की ओर प्रवाहित होना।

2.बन्ध- कर्म पुद्गलों काजीव को बांध लेना।

3.संवर- नये कर्म पुद्गलों काजीव की ओर प्रवाह रोकना।

4.निर्जरा- पुराने कर्मपुद्गलों को जीव से निकालना।

5.मोक्ष- दर्शन, ज्ञान, चरित्रकी रगड़ से जब अंतिम कर्म पुद्गल भी समाप्त हो जाता है तो मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

बौद्ध दर्शन में बंधन का कारण अविद्या को माना गया है। आत्मा अविद्या के वशीभूत होकर कर्म करती है तो बंधनग्रस्त होती है। इस अविद्या के क्षय होने पर ही मुक्ति संभव है। इस अविद्या के क्षय हेतु बौद्ध दर्शन आर्य अष्टांगिक मार्ग की अवधारणा प्रस्तुत करता है, जो कर्म की अवधारणा का व्यावहारिक रूप है।ये अष्टांगिक मार्ग निम्न हैं-

1.सम्यक दृष्टि- वस्तुओं केयथार्थ स्वरूप को जानना।

2.सम्यक संकल्प- इन चारआर्य सत्यों का जीवन में पालन करने का निश्चय।

3. सम्यक वाक- सत्य औरप्रिय वचनों का प्रयोग।

4. सम्यक कर्मान्त- बुरेकर्मों यथा हिंसा, स्तेय और इन्द्रिय भोग का परित्याग।

5.सम्यक आजीविका-ईमानदारीपूर्वकजीवकोपार्जन।

6. सम्यक व्यायाम- पुरानेबुरे विचारों को बाहर निकालना, नए बुरे विचारों को मन में आने से रोकना, अच्छे भावों को मन में भरना और इन भावों को मन में कायम रखने के लिए सतत प्रयास करना ही सम्यक व्यायाम है।

7. सम्यक् स्मृति- वस्तुओंके वास्तविक स्वरूप (वे अनित्य है, नश्वर हैं, क्षणिक है आदि) के विषय में जागरूक रहना ही सम्यक् स्मृति है।

8.सम्यक समाधि- चित्तकी पूर्ण एकाग्रता ही सम्यक समाधि है।

ये आठों मार्ग अनासक्त कर्म करने की प्रेरणा देते हैं। इस अनासक्त कर्म की वजह से अविद्या फल उत्पादन में असमर्थ हो जाती है और व्यक्ति मुक्ति या निर्वाण को प्राप्त हो जाता है। पर निर्वाण प्राप्त व्यक्ति अकर्मण्य नहीं होता है। बुद्ध का सारा जीवन कर्मरत जीवन है। वह ज्ञान प्राप्ति के बाद भी अर्थात् जीवनमुक्ति के बाद भी करुणा और मैत्री के भाव से संसार के कल्याणार्थ कर्मरत रहे। हां ! उनका यह कर्मरत जीवन अनासक्त भाव से था। जिस तरह भुने हुए चने से अंकुरण नहीं होता है, ठीक उसी तरह से अनासक्त भाव से किए गए कर्म फल प्रदान नहीं करते।

2.3.3 षड्दर्शन अर्थात् आस्तिक दर्शनों में कर्म की अवधारणा-

षड्दर्शनअर्थात् न्याय,वैशेषिक, सांख्य,योग, मीमांसा और वेदांत दर्शन के समूह को कहा जाता है। इसे आस्तिक इसलिए कहा जाता है, क्योंकि ये वेद में विश्वास करते हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन में कर्म की अवधारणा को पर्याप्त स्थान मिला है। न्याय कर्म के 12 प्रकार मानता है।

उनके अनुसार आत्मा,शरीर,इन्द्रिय,अर्थ,बुद्धि,मन,प्रवृत्ति,दोष,प्रेत्यभाव,फल,दु:ख और अपवर्ग कर्म के12 प्रकार हैं। प्रवृत्ति का अर्थ है-- 'शारीरिक,मानसिक,वाचिक व्यापार।' इस प्रवृत्ति के तीन कारण है-'राग,द्वेष और मोह। इसलिए गौतम ऋषि ने इन तीनों के सम्मिलित रूप को 'त्रैराश्य'20 नाम दिया हैं।

वैशेषिक दर्शन में तो कर्म को 'पदार्थ' तक माना गया है। वैशेषिक के अनुसार सात पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष,समवाय तथा अभाव है। कर्म द्रव्य पर आश्रित रहने वाला पदार्थ है, जो गुण से भिन्न है। कर्म मूर्त द्रव्यों में पाया जाता है। मूर्त द्रव्य है-- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और मन। विभु द्रव्यों में कर्म संभव नहीं है। विभु द्रव्य है---आकाश,दिक,काल तथा आत्मा। वैशेषिक के अनुसार कर्म पांच प्रकार के होते हैं,जो निम्न है-21

1.उत्क्षेपण- ऊपर की ओरफेंकना।

2.अपक्षेपण-नीचे की ओर फेंकना।

3.आकुंचन- सिकुड़ना।

4. प्रसारण-फैलाना।

5. गमन- चलना।

कर्मों के फल प्राप्ति के सम्बन्ध में भारतीय दर्शन में ईश्वरवादी मत का प्रमुख रूप से प्रतिनिधित्व न्याय-वैशेषिक दर्शन करता है। जिसके अनुसार ईश्वर संचालित 'अदृष्ट' से मानव को उसके शुभ-अशुभ कर्मों का सुख-दु:ख के रूप में फल मिलता है।

सांख्य दर्शन में पुरुष चैतन्य स्वरूप है, पर 'अकर्ता' है। वह केवल ज्ञाता और भोक्ता है। बावजूद प्रकृति और पुरुष के बीच भेद का 'विवेक ज्ञान' नहीं होने से जीव अज्ञानवश कर्म करता है और संसार चक्र में संसरण करता हुआ दु:ख को भोगता है। जब प्रकृति और पुरुष के बीच भेद का 'विवेक ज्ञान' हो जाता है तब जीव जीवनमुक्त हो जाता है।पर इस अवस्था में भी जीव कर्मरत रहता है। 'विवेक ज्ञान' से उसके संचित कर्म और क्रियमाण कर्म का क्षय तो हो जाता है, परंतु प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होता है। इन कर्मों का क्षय भोग से ही होता है। चूँकि जीवनमुक्त व्यक्ति का कर्म फल की आकांक्षा से रहित होता है। इसीलिए वह बंधनकारी नहीं होता है।

उपर्युक्त तथ्य को वाचस्पति मिश्र अपनी आलंकारिक भाषा में व्यक्त करते हुए कहते हैं-- "क्लेश रूपी जल से सिक्त बुद्धि रूपी भूमि में कर्म बीज के अंकुर होते हैं, परंतु तत्वज्ञान रूपी ऊष्मा के कारण क्लेश रूपी जल के सूख जाने पर उस जमीन में क्या कभी कर्म बीज उत्पन्न हो सकते हैं?"22

योग दर्शन के प्रवर्तक पतंजलि के अनुसार-- "चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है।"23चित्त की विक्षेप रहित एकाग्रता से ही समाधि संभव है। ईश्वर प्राणिधान जो कि एक प्रकार का क्रिया योग भी है, से ही चित्त की विक्षेप रहित एकाग्रता मिलती है। ईश्वर प्राणिधान का अर्थ है--"ईश्वर का निरंतन ध्यान, उनके प्रति पूर्णतः समर्पण।" ईश्वर प्राणिधान को साधना की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है।24सभी कर्मों को ईश्वर के चरणों में समर्पित कर अपना जीवन व्यतीत करना ही मनुष्य का यौगिक उद्देश्य है। सभी कर्मों को ईश्वर को समर्पित करने से निष्कामता का भाव आता है और अंततः कर्म बंधनकारी नहीं होते हैं।

मीमांसा दर्शन में कर्म सिद्धांत को इतना महत्व प्रदान किया गया है कि उसे 'कर्म मीमांसा' भी कहा जाता है। मीमांसा ने वैदिक कर्म सिद्धांतों की दार्शनिक व्याख्या की और इसे दार्शनिक आधार प्रदान किया। मीमांसा के अनुसार कर्म का फल शीघ्र नहीं भी मिल सकता है।

कर्म और कर्मफल के बीच अंतराल भी हो सकता है। यज्ञ करने पर स्वर्गरूपी फल को प्राप्त होने में समय भी लग सकता है। प्रश्न यह उठता है कि कर्म से फल प्राप्त होने की क्या प्रक्रिया है? यह प्रश्न इसलिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि मीमांसा ईश्वर को नहीं मानता है। फिर कर्माध्यक्ष कौन होगा और कौन न्याससंगत रूप से मनुष्य को उसके शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार सुख और दु:ख रूपी फल प्रदान करेगा?

वस्तुतः भारतीय दर्शन में कर्म के फल की प्राप्ति के संदर्भ में निरीश्वरवादी मत का प्रतिनिधित्व मीमांसा दर्शन करता है। उपर्युक्त समस्या का समाधान मीमांसा 'अपूर्व' नामक शक्ति के माध्यम से करता है। यह 'अपूर्व' ही है, जो मनुष्य को उसके शुभ-अशुभ कर्मों के अनुरूप सुख-दु:ख रूपी फल देता है। यह 'अपूर्व' स्वसंचालित है। इसके संचालन के लिए किसी ईश्वर आदि की कोई आवश्यकता नहीं है। 'अपूर्व' का अर्थ है --शुभ या अशुभ कर्म करने से उत्पन्न अदृष्ट शक्ति। यह शक्ति कर्म से उत्पन्न होती है और समय पर कर्म फल का निष्पादन करती है। यह मीमांसाका निश्चित मत है।25

शंकर वेदांत में जीव को ब्रह्म स्वरूप ही कहा गया है-- 'जीवो ब्रह्मैव नापर:'। अपने स्वरूप को माया के वशीभूत हो भूल जाना बंधन है और इसी बंधन की अवस्था में कर्म करने से हम नाना जन्म जन्मांतरों में संचरण कर सुख-दु:ख भोगते हैं। अपने स्वरूप की अनुभूति या ब्रह्मानुभूति ही 'मुक्ति' है। यह तत्वज्ञान से संभव है। यह मुक्ति दो प्रकार की है- जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति।जीवनमुक्ति इसी जीवन में जीवित रहते मिलती है। विदेहमुक्ति जीवनमुक्ति के बाद की अवस्था है।

विदित है कि कर्म के तीन प्रकार है--संचित कर्म, प्रारब्ध कर्म और क्रियमाण कर्म। तत्वज्ञान या ब्रह्म ज्ञान से संचित कर्म और क्रियमाण कर्म नष्ट हो जाते हैं, परंतु प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं होते।प्रारब्ध कर्मों का क्षय भोग से ही संभव है। जिस प्रकार कुंभकार का चाक घुमाकर छोड़ देने के बाद भी कुछ काल तक चलता रहता है, ठीक उसी प्रकार प्रारब्ध कर्मों के कारण यह शरीर भी कुछ काल तक चलती रहती है। जब प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाता है तो यह शरीर भी नष्ट हो जाता है। यही विदेह मुक्ति की अवस्था है। परंतु जब तक विदेहमुक्ति नहीं मिलती है अर्थात जीवनमुक्ति की स्थिति में मनुष्य जो भी कर्म करेगा, वह बंधनकारी नहीं होता है, क्योंकि जीवनमुक्ति काम,क्रोध, लोभ,मोह अहंकार आदि से रहित अवस्था होती है और इन विकारों से मुक्ति के बाद कर्म फल उत्पादक नहीं होते हैं।

2.3.4 गीता में कर्म की अवधारणा-

भारतीय वांग्मय की चर्चा गीता के बिना अधूरी है। कर्म की अवधारणा के संबंध में गीता का क्या संदेश है? इसकी विवेचना अत्यंत आवश्यक है। गीता के केंद्र में 'कर्म दर्शन' है। महाभारत में अर्जुन मोहग्रस्त हो गए थे। कर्म से विरत हो रहे थे। इन्हीं परिस्थितियों में कृष्ण ने अर्जुन को युद्ध हेतु तत्पर करने के लिए कर्म करने का कालजयी सिद्धांत दिया। भगवान कृष्ण कहते हैं--"मुझे तीनों लोक में कुछ भी करने को नहीं है, पाने योग्य कुछ भी प्राप्त नहीं करना है। फिर भी मैं कर्म में लगा रहता हूँ। यदि मैं कर्म ना करूं तो यह लोक भ्रष्ट हो जाएगा। अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी और लोकों का भी नाश हो जाएगा। अतः लोककल्याणार्थ, लोकसंग्रह हेतु ईश्वर को भी कर्म करना पड़ता है। मनुष्य की तो बात ही क्या है?

गीता के अनुसार किसी भी रूप में मनुष्य बिना कर्म किए नहीं रह सकता। शारीरिक, मानसिक, वाचिक कर्म निरंतर होते रहते हैं। कर्म के बिना भौतिक-आध्यात्मिक उपलब्धियां तो

दूर, जीवन निर्वाह असंभव है। जीवन की सार्थकता लोक कल्याण कर्म करने से ही संभव है। संसार की पूरी व्यवस्था कर्म की धुरी पर टिकी है। गीता में कर्म को दो रूपों में विभाजित कर कर्म की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। पहले विभाजन के अनुसार कर्म के तीन भेद हैं।26

(अ) कर्म

(ब) अकर्म

(स) विकर्म

कर्म- कर्म का अर्थ-- "किसी भी कार्य को शारीरिक, मानसिक और वाचिक रूप से करना।" गीता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। कर्म करना जीवन का एक आवश्यक हिस्सा है और यह अवश्यम्भावी है। इसीलिए श्रीकृष्ण अर्जुन को अपने योद्धा धर्म के पालन की प्रेरणा देते हैं,क्योंकि यही मानवीय कर्तव्य है

अकर्म- अकर्म का शाब्दिक अर्थ है-- "क्रिया का अभाव।" गीता में इसे उस स्थिति के रूप में वर्णित किया गया है, जहां व्यक्ति कर्म तो करता है, लेकिन वह कर्म उसे बांधता नहीं है। इसे और स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति शरीर से कर्म करता दिखता तो है, पर उसे कर्म से किसी प्रकार की आसक्ति या फलाकांक्षा नहीं होती है। अर्थात कर्म करते हुए भी कर्म नहीं करता। कर्म से जुड़ी इच्छाएं और तृष्णा ही व्यक्ति को बांधती है।27

विकर्म- विकर्म का अर्थ है--"अनुचित कर्म या शास्त्र के विपरीत कर्म।" यह व्यक्ति के लिए बंधनकारी तो है ही, यह पापजन्य होता है। जीवन के लिए विनाशकारी होता है।

संक्षेप में कहे तो कर्म, अकर्म और विकर्म की चर्चा करके भगवान कृष्ण ने यह समझाने की कोशिश की है कि व्यक्ति को किन कर्मों को किस प्रकार से करना चाहिए। सही तरीके से किया गया कर्म व्यक्ति को मोक्ष या आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाता है।

एक अन्य विभाजन के अनुसार कर्म को तीन भागों में बांटा गया है-28

(अ) सात्विक कर्म- जो कर्म शास्त्र सम्मत हो, निष्काम भाव से किये गये हो, वे कर्म सात्विक कर्म की श्रेणी में आते है।

(ब) राजसिक कर्म- जो कर्म फल प्राप्ति की इच्छा से युक्त हो तथा कर्तापन लिए हुए हो, वह राजसिक कर्म है।

(स) तामसिक कर्म- जो कर्म प्रमाद,आलस्य, अज्ञानवश किए जाते हैं,वे तामसिक कर्म कहलाते हैं।

वस्तुतः गीता में कर्मों की विशद व्याख्या के पीछे मूल उद्देश्य मानव जाति का यह मार्गदर्शन करना है कि हमें कौन से कर्म करने चाहिए और कौन से नहीं। संक्षेप में कहे तो शास्त्रसम्मत तथा वर्ण आश्रम विहित कर्म अहंकार से रहितनिष्काम भाव से किए जाएं। यदि ज्ञान द्वारा यह संभव नहीं है, तो सभी कर्मों के फल ईश्वर के चरणों में समर्पित कर कर्म करना चाहिए। इससे कर्म सिद्धांत की क्षति नहीं होती है क्योंकि ईश्वर पर विश्वास या ईश्वर प्राणिधानभी एक प्रकार का कर्म ही है।

गीता में कर्म के पांच घटक बतलाए गए हैं--अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव29। पर इस 'दैव' नामक तत्व पर मनुष्य का कोई नियंत्रण नहीं है। पर यह दैव ही मनुष्य के कर्मों की सफलता और असफलता का प्रदाता है। इसीलिए सफलता से खुश और असफलता से दुखी

नहीं होना चाहिए। समभाव की स्थिति में रहने के लिए फल की चिंता का परित्याग अत्यंत जरूरी है। इसी को 'कुशलतापूर्वक कर्म' करना कहा गया है।

गीता में दो अन्य प्रकार के कर्मों की चर्चा है।

सकाम कर्म- जब मनुष्य किसी कामना या इच्छा से प्रेरित होकर कोई शारीरिक- मानसिक कर्म करता है, तब वह सकाम कर्म है। यह किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए अर्थात किसी फल की आकांक्षा से किया गया कर्म होता है। अतः उसका शुभ या अशुभ फल मिलना निश्चित है। इस प्रकार कर्म की श्रृंखला चलती रहती है।

निष्काम कर्म- इसमें कामनाओं का सर्वथा अभाव रहता है। यह तृष्णारहित कर्म है। यदि कर्मफल अर्थात कुछ पाने की इच्छा छोड़ दी जाए तो कर्म करने में आसक्ति नहीं होगी। मन को इंद्रियों के विषय से हटाकर कर्म करना निष्काम कर्म है। अतः कर्मवाद की फलाकांक्षा और अकर्मवाद की अकर्मण्यता से दूर रहने पर ही निष्काम कर्म की स्थिति आती है। गीता में कहा गया है-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संग स्तवकर्मणि।।

अर्थात् कर्म करने पर ही तुम्हारा अधिकार है, न कि कर्म के फल पर। कभी कर्म फल को अपना हेतु मत बनाओ।वस्तुत: गीता कर्म के त्याग की बात नहीं करती, बल्कि कर्म में फल की आकांक्षा के त्याग की बात करती है।

निष्काम कर्म के दो पक्ष है-- एक इस भावना का त्याग कि 'मैं कर्ता हूँ'। अर्थात अहं का त्याग और दूसरा 'आसक्ति का त्याग'। अहं और आसक्ति से रहित कर्म ही निष्काम कर्म हैं। 'मैं कर्ता हूं' इसका बोध तभी समाप्त होता है,जब यह समझ आती है कि मनुष्य के सभी कर्म प्रकृति के तीनों गुण सत्व, रज और तम द्वारा कृत है। इन तीनों से हीज मन,बुद्धि,अहंकार, इंद्रियां और शब्द आदि उत्पन्न होते हैं। इन्हीं से क्रियाएं होती हैं। अतः अपने को कर्ता मानना अज्ञान और बंधन का कारण है। फिर आसक्ति का त्याग तभी हो सकता है, जब आत्मलाभ या ईश्वर लाभ की दृष्टि से कार्य किया जाए। इसी में लोक संग्रह भी है, क्योंकि वह भी ईश्वर का ही कार्य है। इस प्रकार कर्म फल में आसक्ति का अभाव हो जाता है। किसी अन्य इच्छा से किया गया कर्म अनासक्त कर्म नहीं है। ईश्वर लाभ की दृष्टि से किया गया कर्म अनासक्त कर्म है और यही निष्काम कर्म है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि गीता निरन्तर कर्म करने की प्रेरणा देती रही है। गीता अपने कर्म सिद्धांत के द्वारा उत्कृष्ट जीवन जीने का संदेश देती है।

2.3.5 स्मृति ग्रंथों में कर्म की अवधारणा-

स्मृति ग्रंथों की रचना विद्वान ऋषियों द्वारा समाज में अनुशासन और व्यवस्था बनाए रखने के लिए की गई थी। इनमें मनुष्य के धार्मिक,सामाजिक और राजनीतिक जीवन आदि से संबंधित आचरण और विधि और न्याय से संबंधित नियम वर्णित है। राजा और प्रजा के कर्तव्य और कर व्यवस्था का भी वर्णन मिलता है। मनुष्य के पुरुषार्थ यथा धर्म, अर्थ,काम और मोक्ष के विषय में भी मार्गदर्शन मिलता है। कुल मिलाकर इन स्मृति ग्रन्थों का उद्देश्य व्यक्ति और समाज को अनुशासित और व्यवस्थित करना है। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारदस्मृति, आपस्तम्ब स्मृति, कात्यायन स्मृति आदि महत्वपूर्ण स्मृति है। इन स्मृति ग्रन्थों में कर्म एक नैतिक एवं

दार्शनिक अवधारणा है। मनुस्मृति के अनुसार शरीर, मन और वाणी इन तीनों द्वारा किये गये कार्य कर्म की श्रेणी में आते हैं। सभी स्मृतियां संचित कर्म, प्रारब्ध कर्म और क्रियमाण कर्म की व्यवस्था को स्वीकार करती है। स्मृतियों के अनुसार मनुष्य अपने कर्मों द्वारा ही प्रारब्ध का निर्माण करता है। मनुस्मृति में इस बात का स्पष्ट वर्णन है कि-- "मनुष्य अपने कर्मों द्वारा ही उर्ध्वगामी, अधोगामी या मध्यगामी होता है।"(मनुस्मृति 12.3) स्मृति ग्रन्थों में कर्म के फलों के सिद्धांत का प्रमुखता से वर्णन है। प्रत्येक मनुष्य को अपने शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार सुख-दु:ख भोगना पड़ता है। मनुस्मृति में कहा गया है—

अकार्यं कर्मयो विद्वान् अकुर्वन् सुखमेधते।

कार्यं चानुतिष्ठन् सर्वं न प्राप्नोति विपरीतम्।। मनुस्मृति (8.84)

इसका अर्थ है कि जो विद्वान अनुचित कर्म नहीं करता और उचित कर्म करता है, वह जीवन में सुख प्राप्त करता है। दार्शनिक ग्रन्थों की तरह स्मृति ग्रंथ भी कर्म को पुनर्जन्म का कारण मानते हैं-

कर्मणा जायते जन्तु: कर्मणैव विलीयते।

सुकृतं दु:खहेतुं च कर्तव्यं नान्यथाश्रयम्।। (मनुस्मृति 12.54)

अर्थात् जीव कर्मों के कारण जन्म लेता है और उन्हीं कर्मों के कारण पुनः मरता है।अच्छे कर्म सुख का और बुरे कर्म दुख का कारण बनते हैं।

स्मृति ग्रन्थों में वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था के द्वारा भी कर्म के महत्व का प्रतिपादन किया गया है। वर्ण व्यवस्था के द्वारा ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्यऔर शुद्र के कर्तव्य का वर्णन है। जबकि आश्रम व्यवस्था के अंतर्गत ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम से संबंधित कर्तव्यों की विस्तृत विवेचना की गई है। इन स्मृति ग्रन्थों में राजा के कर्तव्यों का भी विस्तृत वर्णन देखने को मिलता है।

यथा- 'धर्मनैव प्रजा: सर्वा रक्षेत्।' (मनुस्मृति 7.27)

अर्थात् राजा प्रजा की रक्षा धर्म के अनुसार करें।

राजा प्रजानां दण्डधार: (मनुस्मृति 7.17)

अर्थात् राजा को न्याय करने के लिए दंड देना चाहिए,पर यह दंड न्याय संगत हो।

षष्ठं भागं प्रजाभ्य: सम्पद्येत धर्मत: (मनुस्मृति 7.130)

अर्थात् राजा को प्रजा की आय का छठा भाग 'कर' के रूप में लेना चाहिए।

इसके अलावा राजा को शिल्प, कला, व्यापार, शिक्षा, कृषि को बढ़ावा देना चाहिए। साथ ही धार्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों का संरक्षण भी करना चाहिए।

वस्तुत: स्मृति ग्रन्थों में वर्णित कर्म की अवधारणा मानव जीवन के सभी पक्षों को नियंत्रित और निर्देशित करती है। व्यक्ति का जीवन समुन्नत तथा अनुशासित हो और सामाजिक व्यवस्था भी व्यवस्थित तथा विकासशील हो, स्मृति ग्रन्थों का यही उद्देश्य रहा है।

2.3.6 कर्म की अवधारणा और पुरुषार्थ से अन्त:सम्बन्ध-

भारतीय चिंतन परम्परा में पुरुषार्थ का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। पुरुषार्थ कर्म की अवधारणा को पुष्ट करता है। पुरुषार्थ और कर्मवाद भारतीय जीवन दर्शन के महत्वपूर्ण सिद्धांत हैं। यह व्यक्ति के जीवन के उद्देश्य और क्रियाकलापों के बीच अन्तर्सम्बन्धों को समझने में सहायक होता हैं।

पुरुषार्थ का अर्थ है-- जीवन के उद्देश्यों या लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किए गए प्रयास। भारतीय दर्शन और संस्कृति में चार प्रकार के पुरुषार्थ माने गए हैं--

1. धर्म- वेद विहित तथा शास्त्र अनुकूल कर्तव्यों और नैतिकता का पालन।
2. अर्थ- वे भौतिक संसाधन जो व्यक्ति,परिवार तथा समाज के संचालन के लिए जरूरी है। जैसे रोटी, कपड़ा,मकान,शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन आदि की वस्तुएं अर्थ के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती हैं।
3. काम- मानवीय इच्छाओं, कामनाओं, संवेगों तथा भोगों की पूर्ति।
4. मोक्ष- आत्म स्वरूप की प्राप्ति तथा आत्मा की मुक्ति।

पुरुषार्थ जीवन के विभिन्न लक्ष्यों की दिशा में कर्म करने की प्रेरणा देते है। धर्म के अनुसार सही कर्म करना,अर्थ की दिशा में संसाधनों का संचय करना, काम के माध्यम से इच्छाओं की पूर्ति करना और मोक्ष के लिए आत्मिक प्रयास करनाये सभी पुरुषार्थ कर्मवाद के नियमों के अधीन होते हैं।

धर्म के अनुरूप कर्म करना व्यक्ति के नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति धर्म का पालन करते हुए कर्म करता है तो वह सही दिशा में अपने पुरुषार्थ की पूर्ति कर रहा है। कर्मवाद के अनुसार व्यक्ति के कर्मों के फल उसके पुरुषार्थ की दिशा को प्रभावित करते हैं। अच्छे कर्म सकारात्मक और बुरे कर्म नकारात्मक फल प्रदान करते हैं, जो व्यक्ति के जीवन के लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक या बाधक हो सकते हैं।पुरुषार्थ का अंतिम लक्ष्य मोक्ष है,जो कि कर्म के बंधनों से मुक्ति है। इसके लिए कर्म की शुद्धता और वैराग्य की आवश्यकता होती है। व्यक्ति को निष्काम कर्म के माध्यम से मोक्ष की ओर अग्रसर होना चाहिए, ताकि कर्मों के बंधन में वह फंसे नहीं।

संक्षेप में पुरुषार्थ और कर्मवाद दोनों का उद्देश्य व्यक्ति को जीवन के विभिन्न लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रेरित करना है। कर्मवाद जहां व्यक्ति को उसके कर्मों के प्रति उत्तरदायी ठहराता है, वहीं पुरुषार्थ उसे जीवन के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मार्गदर्शन प्रदान करता है। येदोनों सिद्धांत मिलकर जीवन को सार्थक और उद्देश्यपूर्ण बनाने में सहायक होते हैं।

2.3.7 कर्म की अवधारणा के साथ संकल्प-

स्वातंत्र्य और नियतिवाद या भाग्यवाद का सामंजस्य कैसे ? नैतिक दर्शनों में एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया जाता है कि मनुष्य संकल्प स्वातंत्र्य से युक्त है या वह नियतिवाद या भाग्यवाद का शिकार है। यह एक जटिल प्रश्न है,क्योंकि दोनों ही सिद्धान्त परस्पर विरोधी हैं। संकल्प स्वातंत्र्य का अर्थ है-- "कुछ करने या ना करने की स्वतंत्रता। नियतिवाद का अर्थ है--"मनुष्य के सभी कर्म ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति के द्वारा पहले से ही निश्चित कर दिए जाते हैं। वह अधिकतम प्रयास करके भी इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता है अर्थात जो पहले से निश्चित है, उसी के अनुरूप जीवन निर्वाह और कर्म करना। यदि पहले से ही सब कुछ निश्चित है तो मनुष्य कर्म करने के लिए स्वतंत्र नहीं है। फिर मनुष्य इन कर्मों के लिए उत्तरदायी भी नहीं हो सकता। यदि मनुष्य को संकल्प स्वातंत्र्य प्राप्त है अर्थात उसके कर्म किसी बाह्य या किसी अतीन्द्रिय या रहस्यात्मक अमूर्त सत्ता से प्रभावित नहीं है, तो इन प्रारब्ध कर्मों (पूर्वजन्म के कर्म) का समाधान कैसे होगा ?, क्योंकि समस्या यह है कि हमारे जीवन की दशा और दिशा बहुत हद

तक प्रारब्ध कर्मों के अनुरूप निर्धारित होती है और प्रारब्ध कर्मों का भोग अटल है। यहां मनुष्य को संकल्प स्वातंत्रय नहीं है।

कर्म की अवधारणा के संबंध में संकल्प की स्वतंत्रता और भाग्यवाद के बीच विवाद एक अत्यंत जटिल समस्या है। पर भारतीय दर्शन और परंपरा में इसका सुंदर समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

वस्तुतः व्यक्ति अपने माता-पिता,भाई-बहन,कुल, गोत्र, परिवार,देश आदि चुनने में स्वतंत्र नहीं है। संसार में जो कुछ पहले से प्रदत्त है, व्यक्ति को उसी में से चयन करना होता है,उसी में से चुनना होता है। यही उसकी स्वतंत्रता है। पाश्चात्य दार्शनिक सार्त्र भी कुछ ऐसी ही बातें कहता है,किन्तु दूसरे रूप में। जहां पर वह उद्घोषणा करता है कि-- "मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है।" वहीं वह यह भी कहता है कि पांच चीजें उसके (मानव) लिए तथ्य है---- मानव का अतीत,उसका देश, परिवेश,उसका सहयोगी और उसकी मृत्यु। चूँकि यह पांचो बातें पहले से विद्यमान होती है। जिसका व्यक्ति चुनाव नहीं करता। अतः उसे हटाने में वह स्वतंत्र नहीं है। इन पांचों को चुनने में वह स्वतंत्र नहीं है। अर्थात व्यक्ति के कार्य करने की एक सीमा है। वही उसकी स्वतंत्रता की परिधि है। उसकी स्वतंत्रता असीमित नहीं है,पर यह विरोधाभास नहीं है। भारतीय दार्शनिक और चिंतन परंपरा की यह खूबी है कि इन दोनों विरोधाभासी सिद्धांतों (संकल्प स्वातंत्र्य और भाग्यवाद) में कोई तार्किक असंगति पैदा नहीं होने देती है। इससे कर्म सिद्धांत की अवधारणा खंडित नहीं होती है। उनके अनुसार वस्तुतः जितनी स्वतंत्रता मिली है, उसी स्वतंत्रता के आधार पर हम अपना चरित्र और अपनी आदतें बना सकते हैं। इन आदतों को अभ्यास में लाकर अपना भविष्य निश्चित कर सकते हैं। इस विचार या सिद्धांत को 'आत्मनिश्चिततावाद' कह सकते हैं।

कर्म की अवधारणा और आत्मनिश्चिततावाद में कोई असंगति नहीं है, बल्किआत्मनिश्चिततावाद से कर्म की अवधारणा पुष्ट होती है। यह सही है कि हम पूर्वजन्म के कर्म फलों से, अपने प्रारब्ध से बंधे हैं। पर अपने वर्तमान जीवन को बेहतर कर्म कर संवार भी सकते हैं,बना भी सकते हैं, उसे एक अच्छा स्वरूप दे सकते हैं। वर्तमान जीवन में अच्छे और बुरे विकल्प हमारे सामने उपस्थित रहते हैं। हम अच्छे विकल्पों का चुनाव करने के लिए स्वतंत्र है। यही स्वतंत्रता है।यह चुनाव की स्वतंत्रता है। चुनाव का अर्थ है- अच्छे निर्णयों का चुनाव, अच्छे कर्मों का चुनाव, अच्छे आदर्शों और सिद्धांतों का चुनाव, अच्छे विकल्पों का चुनाव। निश्चित रूप से हम इन सभी चुनावों के लिए स्वतंत्र हैं। इसलिए गीता हमें कुशलतापूर्वक कर्म करने की सलाह देती है।31

वस्तुतः वर्तमान में हमारे द्वारा किए गए कर्म फल हमारे लिए भाग्य या प्रारब्ध बनकर आएंगे ही। अतीत में किए गए कर्मों का फल अटल है, इन्हें समाप्त नहीं किया जा सकता। इन्हें भोगना ही भोगना है। यह हमारी सीमा है,परंतु कर्म सिद्धांत हमें यह स्वतंत्रता देता है कि हम कौन से कर्म करें या ना करें। जिस तरह के कर्म हम करेंगे, उसी तरह के फल हमें भविष्य में भोगने पड़ेंगे। इसलिए सुखद और सुंदर भविष्य के लिए हमें अच्छे कर्म करने चाहिए। हम अपने भविष्य का निर्माण अपने हिसाब से कर सकते हैं। मनुष्य भाग्य निर्माता है, भविष्य निर्माता है। इसी कारण भारतीय दर्शन में भाग्य निर्माता के रूप में, भविष्य निर्माता के रूप में व्यक्ति की स्वतंत्रता, गरिमा और उत्तरदायित्व के बोध प्राप्त होते हैं। इसीलिए भारतीय कर्मवाद भाग्यवाद का पोषक नहीं है, बल्कि कर्म करने स्वतंत्रता का समर्थक है।

वर्तमान में हम क्या हैं?, हमें क्या प्राप्त है? यह प्रारब्ध कर्मों से पहले ही निर्धारित है। परंतु वर्तमान जीवन में हम क्या करेंगे? यह पूर्व निर्धारित नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय कर्मवाद में नियतिवाद और संकल्प की स्वतंत्रता दोनों का अद्भुत सामंजस्य है। नियतिवाद कहीं से भी कर्म करने की स्वतंत्रता को बाधित नहीं करता।

2.4 सारांश

उपर्युक्त स्थिति को डॉ. राधाकृष्णन ने बड़े सहज और सुबोध शैली में समझाया है। ताश के खेल के रूपक से वे समझाते हैं कि अपने को प्राप्त पारिवारिक स्थिति, अपने माता-पिता, अपने को प्राप्त शारीरिक-मानसिक संपदा, जिन परिस्थितियों में हम पैदा हुए हैं और पल रहे हैं- ये सब बातें हमें मिले ताश के पत्तों जैसी है। उनको हम बदल नहीं सकते। यह हमारा भाग्य है। परंतु प्राप्त पत्तों में से कौन सा पत्ता चलना है, यह हम पर निर्भर है। इसके लिये हम स्वतंत्र हैं।यही हमारी स्वतंत्रता है। हम अपनी इच्छानुसार उनका उपयोग कर सकते हैं, जो खेल चाहे खेल सकते हैं और खेलते हुए जीत भीसकते हैं और हार भी सकते हैं। यही स्वतंत्रता है। यही व्यक्ति स्वातंत्र्य है। कर्म की अवधारणा का यही मंतव्य और सार है।

2.5 पारिभाषिक शब्द-

कृत प्रणाश- किए हुए कर्मका फल नष्ट नहीं होता।

अकृताभ्यागम- बिना किएहुए कर्म का फल भी नहीं मिलता।

त्रिकालाबाधित- जो तीनों कालों (भूत,वर्तमान और भविष्य) में बाधित न हो अर्थात खंडित ना हो,जो शाश्वत और नित्य हो।

आस्तिक दर्शन- जो वेद को मानते हैं, वे आस्तिक दर्शन हैं। जैसे--षड्दर्शन

नास्तिक दर्शन- जो वेद को नहीं मानते हैं, वे नास्तिक दर्शन हैं। जैसे-- चार्वाक दर्शन, जैनदर्शन और बौद्ध दर्शन।

ईश्वर प्राणिधान- ईश्वर की आराधना।

पुरुषार्थ- जीवन के उद्देश्य।

जीवनमुक्ति- काम, क्रोध,लोभ, वासना, इन्द्रिय भोग से मुक्त होने पर ज्ञान का उदय होता है और ज्ञान उदय होते ही व्यक्ति जीवित रहते हुए भी मुक्त हो जाता है। इस अवस्था को जीवनमुक्ति कहते हैं।

विदेह मुक्ति- जब जीवनमुक्त व्यक्ति के प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाता है, तो उसका शरीर भी समाप्त हो जाता है। यह विदेह मुक्ति है।

षड्दर्शन- योग, सांख्य,न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदांत।

सात्विक- जिसमें सत्वगुण की प्रधानता हो।

राजसिक- जिसमें रज गुण की प्रधानता हो।

तामसिक- जिसमें तम गुण की प्रधानता हो।

स्थितप्रज्ञ- जिसकी बुद्धि प्रत्येक स्थिति (सुख-दु:ख, जय-पराजय, लाभ-हानि) में स्थिर रहे अर्थात समभाव में हो।विचलित ना हो।

निष्काम कर्म- फलाकांक्षा का त्याग।

लोकसंग्रह- लोककल्याण।

2.6. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर-

1. ऋत क्या है?

(A) जगत की व्यवस्था

(B) नैतिक व्यवस्था

(C) प्राकृतिक नियम

(D) उपर्युक्त सभी

उत्तर-D

2. कर्मवाद का बीजरूप है-

(A) ऋत

(B) ऋण

(C) यज्ञ

(D) उपर्युक्त सभी

उत्तर-A

3. कर्म के प्रकार हैं-

(A) संचित कर्म

(B) प्रारब्ध कर्म

(C) क्रियमाण कर्म

(D) उपर्युक्त सभी

उत्तर-D

4. बौद्ध दर्शन के अनुसार कर्म सिद्धांत का व्यावहारिक रूप है-

(A)चतुर्थ आर्य सत्य

(B)तृतीय आर्य सत्य

(C)द्वितीय आर्य सत्य

(D)प्रथम आर्य सत्य

 उत्तर-A

5. निम्न में कौन आस्तिक दर्शन नहीं है।

(A) सांख्य दर्शन

(B) जैन दर्शन

(C) योग दर्शन

(D) न्याय दर्शन

उत्तर-B

6. निम्नलिखित में से कौन नास्तिक दर्शन है?-

(A) चार्वाक

(B) जैन

(C) बौद्ध

(D) उपर्युक्त सभी।

उत्तर-D

7. गीता के अनुसार कर्म के प्रकार है-
(A) कर्म
(B) अकर्म
(C) विकर्म
(D) उपर्युक्त सभी।
उत्तर-D
8. कौन मानता है कि कर्म भौतिक है-
(A) बौद्ध दर्शन
(B) सांख्य दर्शन
(C) जैन दर्शन
(D) वेदांत दर्शन
उत्तर-C
9. निम्नलिखित में से कौन मानता है कि बंधन का कारण कर्म है-
(A) जैन दर्शन
(B) बौद्ध दर्शन
(C) योग दर्शन
(D) वैशेषिक दर्शन
उत्तर-A
10. जैन दर्शन के अनुसार कर्म के कितने प्रकार हैं-
(A) 7
(B) 8
(C) 9
(D) 10
उत्तर- B
11. अपूर्व का सिद्धांत किस दर्शन से सम्बद्ध है-
(A) जैन दर्शन
(B) न्याय दर्शन
(C) मीमांसा दर्शन
(D) चार्वाक दर्शन
उत्तर- C
12. अदृष्ट का सिद्धांत सम्बद्ध है-
(A) वेदांत दर्शन
(B) सांख्य दर्शन
(C) मीमांसा दर्शन
(D) न्याय दर्शन
उत्तर-D
13. पुरुषार्थ की संख्या है-
(A) 2

(B) 3
(C) 4
(D) 5
उत्तर-C
14. पुरुषार्थ है-
(A) धर्म
(B) अर्थ
(C) काम
(D) मोक्ष
(E) उपर्युक्त सभी
उत्तर-E
15. गीता से सम्बद्ध है-
(A) निष्काम कर्म
(B) स्थित प्रज्ञ
(C) लोकसंग्रह
(D) उपर्युक्त सभी
उत्तर-D

2.7 संदर्भ ग्रंथ-

1. डॉ. राधाकृष्णन—भारतीय दर्शन,भाग-1 और 2, हिंदी अनुवादक, नंदकिशोर गोभिल,राजपाल एन्ड संस,दिल्ली,1988.
2. डॉ. राधाकृष्णन- उपनिषदों की भूमिका, रामनाथ शास्त्री द्वारा अनुदित,राजपाल एंड संस, तृतीय संस्करण,1971.
3. डॉ. राधाकृष्णन : हिंदुओं का जीवन दर्शन,अनुवादक डॉ. कृष्णा किंकर।
4. डॉ. सिन्हा,जे.एन.- भारतीय दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, पांचवा संस्करण, 2014.
5. डॉ. वर्मा,वेदप्रकाश-नीतिशास्त्र के मूल सिद्धांत, एलायड पब्लिशर्स प्राईवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2016.
6. गीता: गीता प्रेस, गोरखपुर।
7. तैत्तिरीय,छन्दोग्य,बृहदारण्यक,मुंडक शांकर भाष्य तथा हिंदी अनुवाद सहित अलग-अलग प्रकाशित,गीता प्रेस,गोरखपुर।
8. शर्मा,डॉ. चंद्रधर- भारतीय दर्शन: आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली,2013.

9. सांख्य तत्वकौमुदी- संस्कृत हिंदी व्याख्या सहित,पं ज्वाला प्रसाद गौड़, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन,वाराणसी।
10. ऐतरेय ब्राह्मण-चौखम्भा संस्कृतसंस्थान,वाराणसी।
11. शतपथ ब्राह्मण- हिंदी व्याख्याकार डॉ. सुंदर नारायण झा, चौखम्भा ओरियन्टालिया, नई दिल्ली।
12. तंत्रवार्तिक- संपादक महामहोपाध्याय पं गंगाधर शास्त्री,चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस, 1903.
13. पतंजलि योगसूत्र- व्याख्याकार डॉ.बीना अग्रवाल, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर 2022.
14. वैशेषिक सूत्र- कणाद मुनि, नोशन प्रेस मीडिया प्राइवेट लिमिटेड, चेन्नई, तमिलनाडु।
15. न्यायसूत्र- गौतम ऋषि,संपादक डॉ. महेश झा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी 2013.
16. सर्वदर्शनसंग्रह- श्री मनमाधवाचार्यकृत,व्याख्याकार डॉ.माधव जनार्दन भारती विद्या भवन, वाराणसी, 2020.

2.8 निबंधनात्मक प्रश्न

1.गीता के निष्काम कर्मयोग की विवेचना कीजिए।
2.कर्मों के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।
3.कर्म के संदर्भ में 'संकल्प स्वातंत्र्य' और 'नियतिवाद' के बीच के विरोधाभास का समाधान क्या है? विवेचना कीजिए।
4. 'ऋत' की अवधारणा की विस्तृत विवेचना कीजिए।
5.वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था से संबंधित कर्मों (कर्तव्यों) की विवेचना कीजिए।
6.क्या बौद्ध अष्टांगिक मार्ग कर्मवाद का व्यावहारिक रूप है? विवेचना कीजिए।
7.जैन दर्शन में कर्म की अवधारणा की विवेचना कीजिए।
8.कर्म की अवधारणा और पुरुषार्थ के बीच के अन्तःसंबंधों पर प्रकाश डालिए।

इकाई-3 धर्म और रिलीजन में अन्तर

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2. उद्देश्य
3.3. धर्म और रिलीजन का अन्तर
    3.3.1 भारतीय संदर्भ में 'धर्म'
    3.3.2 धर्म का ऐतिहासिक विकास
    3.3.3 वैदिक काल
    3.3.4 औपनिषदिक काल
    3.3.5 बौद्ध धर्म में धर्म/ धम्म की अवधारणा
    3.3.6 जैन धर्म में 'धर्म' की अवधारणा
    3.3.7 भक्ति आंदोलन में धर्म
    3.3.8 आधुनिक काल में धर्म और उसकी प्रासंगिकता
3.4 'रिलीजन' शब्द का अर्थ और उसकी व्याख्या
    3.4.1 रिलीजन की विभिन्न परिभाषाएं
3.5 धर्म और रिलीजन में भेद
3.6 सारांश
3.7 पारिभाषिक शब्दावली
3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.9 संदर्भ ग्रन्थ
3.10 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

'सत्यं, शिवं, सुंदरम' जैसे आदर्श की प्राप्ति के लिए मनुष्य अपने अस्तित्व के साथ से ही प्रयासरत रहा है। इसी प्रयास के अंतर्गत धर्म का स्वरूप आकार लेता है और अस्तित्व में आता है। आदिम काल से ही मनुष्य का अपने धर्म के साथ प्रगाढ़ अंत:संबंध रहा है। मानव की सभ्यता- संस्कृति के विकास के साथ और समानांतर भी धर्म का विकास होता चला गया। यद्यपि इस लंबे विकास यात्रा में धर्म का स्वरूप बदलता रहा, नए-नए अर्थ बनते रहे,फिर भी उसकी मूल आत्मा और आदर्श अक्षुण्ण रहें--- 'सत्यं,शिवं सुंदरम'। इसीलिए मैक्समूलर कहते हैं--"मानव का इतिहास धर्म का इतिहास है।"1अर्थात् धर्म को समझे या जाने बिना मानव समाज के इतिहास, सभ्यता और संस्कृति को नहीं समझा जा सकता।

मानव समाज और जीवन में धर्म के अत्यधिक महत्व के बावजूद ऐसे भी विद्वान हुए हैं, जो धर्म के अस्तित्व और उसकी महत्ता को एक सिरे से खारिज करते हैं। कार्ल मार्क्स इसे 'गरीबों की अफीम' कहते हैं।2फायरबाख के अनुसार 'रिलीजन मानव मात्र की कल्पना मात्र है।' सिगमंड फ्रायड तो इसे 'मनोव्याधि' मानते हैं। उनके अनुसार 'रिलिजन भ्रम है'।3धर्म को लेकर इन दार्शनिकों के विचारों से धर्म की महत्ता कम नहीं हो जाती। इन दार्शनिकों की इन टिप्पणियों से इतना तो स्पष्ट है कि धर्म सदैव से मनुष्य के चिंतन का विषयरहाहै।

3.2. उद्देश्य

'धर्म' और 'रिलीजन' शब्द दोनों ही धार्मिक अनुभव से जुड़े हैं, इसीलिए प्राय: 'धर्म' और 'रिलीजन' को एक ही समझ लिया जाता है। परंतु उनके बीच महत्वपूर्ण भिन्नताएं हैं। उनके बीच की भिन्नताओं को स्पष्ट करने का उद्देश्य 'धर्म' और 'रिलीजन' के अर्थ को अच्छी तरह से समझना है, जिससे हमारा दृष्टिकोण व्यापक और समग्र हो सके। साथ ही व्यक्तिगत जीवन, समाज, सभ्यता और संस्कृति में इसके वास्तविक योगदान को समझने, उनके प्रभाव का विश्लेषण करने और परिभाषित करनेमें मदद मिलेगी।'धर्म' और 'रिलीजन' के बीच भेद को स्पष्ट करने से उनके बीच की सांस्कृतिक और वैचारिक भिन्नता भी स्पष्टहोगी और तमाम तरह की भ्रांतियां का भी उन्मूलन होगा।

1.3. धर्म और रिलीजन का अन्तर

'धर्म' और 'रिलीजन' के भेद को समझने के लिए सबसे पहले हमें 'धर्म' और 'रिलीजन' के अर्थ,स्वरूप और उसके विकासक्रम के विषय में जानना आवश्यक है। तभी हम 'धर्म' और 'रिलीजन' के भेद को स्पष्ट रूप से पूरी समग्रता के साथ समझ सकते है।

1.3.1 भारतीय संदर्भ में 'धर्म'

भारतीय संस्कृति और दर्शन में 'धर्म' एक ऐसा सिद्धांत या तत्व है जो व्यक्ति, समाज और सम्पूर्ण सृष्टि को संयमित, संरक्षित तथा संतुलित करता है। भारतीय सन्दर्भ में 'धर्म' का बहुत ही व्यापक एवं गहरा अर्थ है। यह धर्म शब्द 'धृ' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है-- धारण करना। अतः जिसको धारण किया जाए, वही 'धर्म' है। महाभारत में कहा गया है-- "धारणाद् धर्ममित्याहु: धर्मो धारयते प्रजा:।"4धर्म से ही प्रजा का धारण और संरक्षण होता है। वैशेषिक दर्शन में धर्म को लौकिक उन्नति और पारमार्थिक कल्याण का साधन माना गया है।5गीता

कर्तव्य को ही धर्म मानती है। मनु के अनुसार धर्मवस्तुतः सदाचार है। उन्होंने धर्म के दस लक्षण बताए गए हैं-

धृतिः क्षमादमो अस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।

धीर्विद्या सत्यम क्रोधा दशकं धर्म लक्षणम्।। मनुस्मृति 6/ 92

वस्तुत: धर्म को समझने के लिए वैयक्तिक तथा सामाजिक दो दृष्टिकोण उपयुक्त होंगे। वैयक्तिक दृष्टिकोण से मानव का धर्म है कि वह परम सत्ता से अपना संबंध स्थापित करें। धर्म का सामाजिक दृष्टिकोण हमें याज्ञवल्क्य स्मृति में बताए गए धर्म के छः भेद में दिखता है- 1.वर्ण धर्म, 2.आश्रम धर्म 3.वर्णाश्रम धर्म4.गुण धर्म 5.निमित्त धर्म 6.साधारण धर्म। मनु के अनुसार वेद, स्मृति, सदाचार और आत्महित धर्म के लक्षण हैं। उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट है कि व्यक्ति और समाज को धारण करने वाली और अनुशासित करने वाली शक्ति ही 'धर्म' है।

1.3.2 धर्म का ऐतिहासिक विकास

अभी तक की विवेचना से आप धर्म के सामान्य स्वरूप से परिचित हो गए होंगे। वस्तुतः भारतीय परंपरा में धर्म का विचार समय के साथ बदलता और विस्तृत होता गया है। यह केवल धार्मिक आस्थाओं और अनुष्ठानों तक ही सीमित नहीं रहा है, बल्कि यह एक नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक व्यवस्था के रूप में भी देखा गया है। भारतीय संस्कृति और धर्म की जड़े सिंधु घाटी सभ्यता से लेकर वैदिक युग, उत्तर वैदिक युग, बौद्ध और जैन धर्म के विकास, मध्य युग के भक्ति आंदोलन तक फैली है। यह यात्रा हजारो वर्षों की है, जिसमें धर्म की अवधारणा विभिन्न रूपों में विकसित होती गई।

1.3.3 वैदिक काल:-

वैदिक धर्म का मुख्य उद्देश्य जीवन को संतुलित और व्यवस्थित करना था। जिसमें यज्ञ ,कर्म और ऋत का पालन महत्वपूर्ण था। ऋग्वेद में 'ऋत' और 'सत्य' की धारणाओं का विस्तृत विवेचन हुआ है। 'ऋत' को 'जगत की व्यवस्था' कहा गया है। इस जगत की व्यवस्था में नैतिक व्यवस्था भी समाहित है। अतः 'ऋत' जगत की व्यवस्था के साथ नैतिक व्यवस्था भी है। संसार की व्यवस्था 'ऋत' के अंतर्गत है। इसका उल्लघंन कोई नहीं कर सकता। यहां तक की देवता भी नहीं। संसार की सारी प्रक्रियाएं विभिन्न प्राकृतिक नियमों के अधीन है। इसी व्यवस्था और नियम को 'ऋत' कहा गया। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन के जो भी नैतिक आदर्श है, उन सबका आधार सत्य है।

वस्तुत: 'ऋत' और 'सत्य' सारे जगत का नैतिक आधार है। वैदिक आदर्श 'ऋत' और 'सत्य' को एक ही भौतिक तथ्य के दो रूप मानता है। इस प्रकार वैदिक काल में धर्म को 'सत्य' और 'ऋत' के रूप में परिभाषित किया गया है।

1.3.4 औपनिषदिक काल: -

वैदिक धर्म के बाद उपनिषदों का काल आया, जहां धर्म का रूप आध्यात्मिक और दार्शनिक हो गया। उपनिषदों के मुख्य प्रतिपाद्य विषय आत्मा और ब्रह्म हो गए। उपनिषदों में धर्म को केवल कर्मकांड से जोड़कर नहीं, बल्कि आत्मज्ञान, ध्यान, सदाचार जैसे नैतिक आदर्श के रूप में देखा गया है। जैसे--हे स्नातक! "तुम सत्य बोलो और धर्म का आचरण करो।"7"वाणी ही

धर्म और अधर्म के स्वरूप को बतलाती है"।8छान्दोग्य उपनिषद में धर्म के तीन स्तम्भ बताए गए हैं।9

1. यज्ञ (यज्ञ और अनुष्ठान)
2.अध्ययन (वेदों का अध्ययन और ज्ञान प्राप्ति)
3.दान (दान देना और परोपकार)

इन तीनों को धर्म का मुख्य आधार माना गया है,क्योंकि इनसे मानव में कर्तव्य,ज्ञान और परोपकार की भावना का विकास होता है। इन तीनों स्तंभों का पालन करने से मनुष्य अपने जीवन में धर्म का अनुसरण करने लगता है।

बृहदारण्यक उपनिषद में धर्म के स्वरूप में परिवर्तन देखने को मिलता है, जहां 'धर्म' शब्द आध्यात्मिक,नैतिक एवं भौतिक जगत के संचालक के रूप में,मूल तत्व के रूप में प्रयुक्त हुआ है।संक्षेप में कहें तो जगत का मूलतत्व और आधार 'धर्म' है। कहा गया है कि--"यह धर्म सब भूतों का मधु है और सब वस्तुएं इस धर्म की मधु है और जो इस धर्म में प्रकाशमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म धर्म संबंधी प्रकाशमय अमृतमय पुरुष है, वह आत्मा ही है। यह अमृत है, ब्रह्म है,यह सब है।"10बृहदारण्यक उपनिषद के ठीक अगले श्लोक में कहा गया है- "यह सत्य सब भूतों का मधु है और समस्त भूत इस सत्य के मधु है। यह जो इस सत्य में प्रकाशमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म सत्य संबंधी प्रकाशमय पुरुष है, वह यह आत्मा ही है। यह अमृत है,यह ब्रह्म है,यह सत्य है।11

आप सभी उपर्युक्त श्लोकों को ध्यान से देखें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि दोनों श्लोकों में 'धर्म' और 'सत्य' को एकात्मक रूप में परिभाषित किया गया है। 'धर्म' ही 'सत्य' है और 'सत्य' ही 'धर्म' है। वस्तुतः सत्य के समान धर्म भी समस्त जागतिक पदार्थों के स्वरूप का निर्धारक,नियंत्रक और नियामक है।

बृहदारण्यक उपनिषद के एक अन्य श्लोक में धर्म और सत्य के तादात्म्य या अभिन्नता का स्पष्ट उल्लेख है--"यह जो धर्म है, वह सत्य ही है। इसलिए सत्य बोलने वाले के प्रति कहा गया है कि 'वह धर्म बोल रहा है' तथा धर्म कहने वाले के प्रति कहा जाता है कि 'वह सत्य कह रहा है', क्योंकि निश्चय ही सत्य और धर्म में भेद नहीं है।"12

इसी प्रकार षड्दर्शनों के अंतर्गत आने वाले वैशेषिक दर्शन में 'धर्म' को सांसारिक और पारलौकिक उन्नति के रूप में परिभाषित किया गया है। "धर्म वह पदार्थ है जिससे सांसारिक जीवन में अभ्युदय और जीवन के परम लक्ष्य निःश्रेयस दोनों की सिद्धि होती है।13 वैशेषिक सूत्र के एक अन्य सूत्र में बतलाया गया है कि वेद जैसे अम्नाय या धार्मिक मूलग्रंथों का प्रामाण्य इसी कारण से माना जाता है, क्योंकि वे उक्त अर्थों में धर्म का प्रतिपादन करते हैं।14

1.3.5 बौद्ध धर्म में धर्म/ धम्म की अवधारणा

धर्म की अवधारणा में एक बड़ा बदलाव गौतम बुद्ध के समय हुआ। बौद्ध धर्म में वैदिक कर्मकांडों और यज्ञ में बलि की प्रथाओं का विरोध हुआ। यहां अहिंसा, तप, विपश्यना (ध्यान) और नैतिक आचरण पर बल दिया गया है।

बौद्ध दर्शन में 'धर्म' शब्द का अर्थ विशेष संदर्भ में लिया गया है। बौद्ध धर्म में 'धर्म' की व्याख्या एवं उसकी अवधारणा का विस्तृत विवरण महात्मा बुद्ध के उपदेशों में मिलता है। 'धम्म' शब्द पालि भाषा का है, जो संस्कृत के 'धर्म' का पर्याय है। 'धम्म' का अर्थ है-- 'सत्य','मार्ग' या

'प्रकृति का नियम'। भगवान बुद्ध ने धर्म (धम्म) को एक सार्वभौमिक सत्य के रूप में परिभाषित किया है। यह न केवल नैतिकता पर आधारित है, बल्कि व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के लिए उचित मार्गदर्शन भी प्रदान करता है। जिसके द्वारा व्यक्ति नैतिक और संयमित जीवन व्यतीत करते हुए अंततः निर्वाण को प्राप्त कर सके।

बौद्ध दर्शन के अनुसार त्रिरत्न है-- 'बुद्ध', 'धम्म' और 'संघ'। 'धम्म' का मतलब बुद्ध के उपदेशों से है, जो चार 'आर्यसत्य','अष्टांगिक मार्ग' और 'पंचशील' के रूप में व्यक्त किए गए हैं। इनसे जीवन की समस्याओं का समाधान तो होता ही है,यह निर्वाण प्राप्ति के लिए भी आवश्यक है।

चार आर्यसत्य:- बौद्ध दर्शन में धर्म की अवधारणा चार आर्यसत्यों पर आधारित है-

प्रथमआर्यसत्य-दुःख है।

द्वितीय आर्यसत्य- दुःखसमुदय अर्थात दुःख का कारण है। इसे प्रतीत्यसमुत्पाद भी कहा जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद कारणता का सिद्धांत है,जिसके अनुसार प्रत्येक कार्य सकारण है। उसका कोई न कोई कारण अवश्य है। बौद्ध दर्शन के अनुसार दुःख का कारण 'अविद्या' है।

तृतीय आर्यसत्य-'दुःखनिरोध' अर्थात दुःख का अंत संभव है। इसे निर्वाण भी कहा गया है। अविद्या का नाश ही निर्वाण है।

चतुर्थ आर्यसत्य-'दुःखनिरोधगामिनी' प्रतिपदा है। यह दुःख के निरोध या समाधान का मार्ग है। इसे अष्टांगिक मार्ग भी कहा जाता है। भगवान बुद्ध के अनुसार 'दुःख' एक सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक सत्य है। उनके अनुसार ये चारों आर्यसत्य इस दुःख की समाप्ति के उपाय मार्ग हैं। इस दृष्टिकोण से धर्म को जीवन के सत्य के रूप में देखा गया है।

अष्टांगिक मार्ग-अष्टांगिक मार्ग को बौद्ध धर्म का व्यावहारिक रूप माना गया है।

1. सम्यक दृष्टि (Right View)-वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को जानना।
2. सम्यक संकल्प (Right Intention)-इन चार आर्य सत्यों का जीवन में पालन करने का निश्चय।
3. सम्यक वाक (Right Speech)-सत्य और प्रिय वचनों का प्रयोग।
4. सम्यक कर्मान्त (Right Action)-बुरे कर्मों यथा हिंसा,स्तेय,इन्द्रियभोग का परित्याग।
5. सम्यक आजीविका (Right Livelihood)-ईमानदारीपूर्वकजीवकोपार्जन।
6. सम्यक व्यायाम (Right Effort):-पुराने बुरे विचारों को बाहर निकालना,नए बुरे विचारों को मन में आने से रोकना, अच्छे भावों को मन में भरना और इन भावों को मन में कायम रखने के लिए सतत प्रयास करना हीसम्यकव्यायाम है।
7. सम्यक स्मृति (Right Mindfulness):-वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप (वे अनित्य हैं,नश्वर हैं,क्षणिक हैं आदि) के विषय में जागरूक रहना ही सम्यक् स्मृति है।
8. सम्यक समाधि (Right Concentration):-चित्त की पूर्ण एकाग्रता ही सम्यक समाधि है।

बुद्ध का कथन है कि उपर्युक्त सभी नियमों का निष्ठापूर्वक पालन करके मनुष्य दुःख से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इसी कारण इन नियमों को दुःखनिरोध मार्ग कहा गया है। वस्तुतः मानव जीवन के लिए बुद्ध के इस अष्टांगमार्ग का बहुत महत्व है,क्योंकि इसमें अतिशय भोगवाद तथा अतिशय कठोर संन्यासवाद इन दोनों अतिवादी दृष्टिकोणों का परित्याग करके मनुष्य को संतुलित मध्यममार्ग का उपदेश दिया गया है। यह संतुलित मध्यममार्ग लोक कल्याण का मार्ग है। बौद्ध धर्म में मध्यम मार्ग को 'धर्म' कहा गया है।

पंचशील- पंचशील का पालन बौद्ध धर्म में अनिवार्य है। ये पंचशील है--अहिंसा,अस्तेय, सत्य भाषण, बुरे आचरण से दूर रहना और मद्यपान निषेध।

वस्तुतः बौद्ध धर्म में 'धर्म' की अवधारणा का मतलब है- एक ऐसा मार्ग जो सत्य,अहिंसा,मैत्री, करुणा,ध्यान और आत्मदीपोभव के द्वारा व्यक्ति को जाग्रति (बोधि) की दिशा की ओर ले जाना है। बौद्ध दर्शन में धर्म/धम्म नैतिकता,करुणा,सत्य,ध्यान और मानसिक शांति का मिश्रण है। यहां धर्म न केवल व्यक्तिगत मुक्ति के लिए, बल्कि समाज के कल्याण के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। धर्म का पालन करते हुए व्यक्ति स्वयं को और समाज को दु:ख,अशांति और पीड़ा से मुक्त कर सकता है। 'बोधिसत्व' की अवधारणा इसका प्रमाण है।

1.3.6 जैन धर्म में 'धर्म' की अवधारणा:-

जैन धर्म में 'धर्म' की अवधारणा अत्यंत गहन एवं बहुआयामी है। यह केवल धार्मिक नियमों का पालन या अनुष्ठानों तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें आचरण की शुद्धता, नैतिकता और अहिंसा के सिद्धांत निहित है। जैन धर्म मुख्य रूप से अहिंसा, सत्य,अस्तेय,ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों के पालन पर आधारित है। जैन धर्म में 'अहिंसा' पर सबसे ज्यादा जोर है। "अहिंसा परमो धर्म:" वाक्य इसका प्रमाण है।

जैन दर्शन के त्रिरत्न सम्यक दर्शन,सम्यक ज्ञान और सम्यक चरित्र में सम्यक चरित्र प्रत्यक्षत: धर्म से संबंधित है।

1.3.7 भक्ति आंदोलन में धर्म: -

7 वीं शती से 17 वीं शती तक विकसित भक्ति आंदोलन भारतीय समाज के धार्मिक और सामाजिक जीवन में एक महत्वपूर्ण बदलाव था। भक्ति आंदोलन ने धर्म के परंपरागत स्वरूप को बदलकर उसे एक व्यक्तिगत,सरल और भावनात्मक संबंध बना दिया। इसने जातिवाद,पाखंड और धार्मिक आडंबरों का विरोध करते हुए एक समतामूलक समाज की स्थापना का प्रयास किया।

भक्ति आंदोलन में 'धर्म' एक अखिल भारतीय सांस्कृतिक जागरण का माध्यम बना। दक्षिण में आलवार और नयनार भक्त और उत्तर भारत में कबीर, सूर, तुलसी, नानक,मीराबाई, रसखान, महाराष्ट्र में नामदेव, तुकाराम, गुजरात में नरसी मेहता, असम में शंकरदेव उड़ीसा में पंचसखा आदि कवियों ने धर्म के आवरण में अखिल भारतीय सांस्कृतिक जागरण का सूत्रपात किया।

इस आंदोलन के अंतर्गत भक्ति और आस्था पर जोर दिया गया। यह वेद,पुराण, ब्राह्मणवादी आचार संहिताओं और कर्मकांडों के बजाय भगवान प्रति व्यक्तिगत भक्ति और प्रेम पर केंद्रित था। इसके द्वारा एक साधारण और सुलभ धार्मिक जीवन की राह दिखाई गई। भक्तिकालीन इन कवियों तथा संतों ने धर्म को मानव सेवा और परोपकार से जोड़ा तथा उनके अनुसार धर्म का असली स्वरूप मनुष्य के प्रति प्रेम, करुणा और दया में है।

1.3.8 आधुनिक काल में धर्म और उसकी प्रासंगिकता:-

आधुनिक काल में 'धर्म' का स्वरूप और उसकी प्रासंगिकता एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। आधुनिक काल में वैश्वीकरण, आधुनिकतावाद,बाजारवाद और उपभोक्तावाद ने धर्म को व्यापक तरीके से प्रभावित किया है।

आधुनिकतावाद ने तर्क और विज्ञान के प्रभाव के कारण धर्म के पारंपरिक विश्वासों को चुनौती दी है। इससे वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले लोगों के लिए धर्म एक विशुद्ध सामाजिक संरचना के रूप में दिखने लगा है। आधुनिकतावाद के कारण समाज में व्यक्तिवाद की भावना बढ़ने से धार्मिक अनुशासन और धार्मिक संस्थाओं के नियंत्रण में कमी आई है। धार्मिक सहिष्णुता और बहुलता की भावना का विकास हुआ है। आधुनिक काल में धर्म व्यक्तिगत विश्वास के रूप में स्थापित होने लगा।

बाजारवाद की वजह से धर्म के व्यवसायीकरण की प्रवृत्ति तीव्र हुई है। धार्मिक स्थलों,प्रतीकों तथा विचारों का व्यवसायीकरण बढ़ा है अर्थात धर्म भी एक ब्रांड बन गया है। धार्मिक साहित्य, प्रवचन, पूजन सामग्री आदि बाजार में एक उपभोग्य वस्तु की तरह विज्ञापन के माध्यम से प्रस्तुत की जा रही है।

उपभोक्तावाद ने धर्म की मूलभूत शिक्षाओं से मनुष्य का ध्यान हटाकर केवल धार्मिक वस्तुओं, प्रवचनों, मूर्तियों,तीर्थाटन में केंद्रित कर दिया है। उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रभाव के चलते धर्म भी उपभोग की वस्तु के रूप में देखा जाने लगा है।

इन सभी प्रभावों के बावजूद आधुनिक समाज में धर्म की आवश्यकता और प्रासंगिकता बनी हुई है। आधुनिक समाज में विज्ञान और तर्क की प्रधानता के बावजूद लोग आध्यात्मिकता की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। धर्म एक नए स्वरूप में उभरा है,जो आध्यात्मिक अनुभव,ध्यान, योग और आंतरिक शांति की खोज पर आधारित है। धर्म अब केवल आस्था का विषय न होकर सामाजिक एकता, पहचान और सामुदायिकता को भी बढ़ावा दे रहा है। धार्मिक पर्व, सामूहिक प्रवचन धर्म के माध्यम से लोगों को जोड़ने का कार्य कर रहे हैं।

समय-समय पर धर्म ने समाज सुधार की राह दिखाई है। आधुनिक समाज में भी धर्म की भूमिका सामाजिक न्याय, समानता और नैतिक मूल्यों को स्थापित करने में देखी जा रही है।

वस्तुत: बाजारवाद, उपभोक्तावाद,आधुनिकतावाद और वैश्वीकरण ने धर्म को नई चुनौतियां दी है,लेकिन धर्म ने भी इन चुनौतियों का सामना करते हुए अपने मूल्यों तथा शिक्षाओं के द्वारा अपनी प्रासंगिकता को बना रखते हुए अपने अस्तित्व और महत्व को बनाए रखा है।

वस्तुत: धर्म के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय संदर्भ में 'धर्म' दो रूपों में विकसित हुआ। एक रूप में धर्म वस्तुओं का स्वभाव या स्वरूप है और इसी अर्थ में धर्म को समस्त सृष्टि का मूल विधायक तत्व समझा गया है। कहा भी गया है-- "धर्मोविश्वस्य जगत: प्रतिष्ठा" अर्थात धर्म ही समस्त जगत की प्रतिष्ठा या स्थिति का आधार है। धर्म के इस अर्थ में 'सत्य' और 'ऋत' धर्म का ही रूप है। कहा गया है-- 'सत्यमेव देवा' (देवता सत्य रूप ही है)15, देवा.....ऋतज्ञा (देवता ऋत को जानने वाले हैं)16इस प्रकार 'ऋत' और 'सत्य' एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं और दोनों धर्म का ही रूप है। यह धर्म की दार्शनिक व्याख्या है।17

धर्म की दार्शनिक व्याख्या से तात्पर्य आत्मा की उस आदर्श स्थिति से है, जिसमें वह बाह्य और आभ्यंतर जगत की मौलिक एकता का,'ऋत' और 'सत्य' की मौलिक एकता का साक्षात अनुभव करता है और उनको अपनी ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप समझता है।18.....इस अर्थ में धर्म साक्षात्कार की विषय वस्तु है। यह 'स्व' और 'पर' के द्वन्द्वों से ऊपर उठकर अद्वैत/अभेद की भावना में ही प्रकाशित होता है, प्रकट होता है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो यह 'सर्वभूतहित' और 'विश्व कल्याण की भावना' में ही अपने को प्रकट करता है।19

धर्म का दूसरा रूप 'आचरण' के रूप में विकसित हुआ। जब धर्म को मुख्यतः इसकी व्युत्पत्ति के संदर्भ में देखा जाता है,तो यह 'आचरणपरक' ज्यादा दिखता है। जैसे धर्म 'धृ' धातु से बना है अर्थात जिसको धारण किया जाए, वही धर्म है--अर्थात जिसको आचरण में उतारा जाए, वही 'धर्म' है। इस अर्थ में सत्य,अहिंसा,अस्तेय,अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय,शौच, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या,सत्य, अक्रोध साथ ही मीमांसा दर्शन में वर्णित वेदविहित कर्मकांड और आचरण भी धर्म है।

1.4'रिलीजन' शब्द का अर्थ और उसकी व्याख्या:-

किसी भी शब्द के अर्थ को जानने के लिए सबसे पहले उस शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करना चाहिए। यहीं से उस शब्द का अर्थ खुलना प्रारंभ होता है। प्रो. ऋषि कांत पांडेय के अनुसार शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'रिलीजन' के तीन अर्थ मिलते हैं।20पहला सिसरों के अनुसार 'Religion', 'Relegere' से बना है, जिसका अर्थ होता है- "ध्यान रखना अथवा सावधानीपूर्वक व्यवहार करना" अर्थात ईश्वर से संबंधित सभी चीजों को सावधानीपूर्वक स्वीकारना ही 'रिलीजन' है।

दूसरा लैक्टेन्टियस के अनुसार 'Religion', 'Religare' से बना है। जिसका अर्थ होता है-'बाँधना'। इस प्रकार 'रिलीजन' वह है,जो मनुष्य एवं ईश्वर के बीच संबंध स्थापित करता है। तीसरा मत संत ऑगस्टाइन का है,जिनका मानना है कि 'Religion, 'Relegio' से बना है। जिसका अर्थ है- पुनः प्राप्त करना। अर्थात 'रिलीजन' वह है,जो हमें असीमित ईश्वर के साथ बांधता है। 'रिलीजन' शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर तीनों अर्थों का सार यह है कि यह शब्द ईश्वर और मनुष्य के बीच के संबंधों की व्याख्या करता है।

'रिलीजन' के मुख्य घटक इस प्रकार है-

1.रिलीजन में एक अलौकिक ईश्वरीय सत्ता में विश्वास किया जाता है।

2.विश्वास रिलीजन का मूल तत्व है।

3.यह ईश्वरीय सत्ता मानव कल्याण हेतु अपने संदेशों को अपने पैगंबरों के माध्यम से लिखित रूप में या मौखिक रूप में या धर्म ग्रंथो के माध्यम से प्रस्तुत करती हैं।

4.'रिलीजन' में पैगंबर और धर्म ग्रंथों का होना अनिवार्य है। जैसे इस्लाम का कुरान,ईसाई धर्म का बाइबिल आदि। यहूदी धर्म में हजरत मूसा,ईसाई धर्म में जीसस क्राइस्ट, इस्लाम में मोहम्मद साहब पैगम्बर माने जाते है।

5. 'रिलीजन' में विशेष धार्मिक अनुष्ठान, प्रार्थनाएं और पूजा अर्चना के तरीके होते हैं, जिनका पालन करना अनुयायियों के लिए आवश्यक होता है।

6.'रिलीजन' अक्सर संगठन के रूप में होता है। एक जैसे रिलीजन मानने वाले पंथ, मजहब या संप्रदाय का निर्माण करते हैं। रिलीजन में चर्च, मस्जिद आदि का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

7.प्रत्येक 'रिलीजन' में कुछ आध्यात्मिक या धार्मिक नेता होते हैं, जो धार्मिक शिक्षाओं का प्रसार करते हैं। जैसे पादरी, मौलवी या धर्मगुरु आदि।

1.4.1 रिलीजन की विभिन्न परिभाषाएं:-

रिलीजन की अनेक परिभाषाएं दी गई है। इन परिभाषाओं को मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है-

1.ज्ञानात्मक

2.भावनात्मक

3.संकल्पनात्मक

ज्ञानात्मक परिभाषा के अन्तर्गत मैक्समूलर के अनुसार--"धर्म वह मानसिक प्रवृत्ति है, जो असीमित एवं पूर्ण सत्ता का ज्ञान कराने में सक्षम है।"21

भावनामूलक परिभाषा के अंतर्गत टील के अनुसार-- "यथार्थतः धर्म वह शुद्ध एवं श्रद्धामय मनोवृति या मनोभाव है, जिसे हम भक्ति कहते हैं।"22

संकल्पमूलक परिभाषा के अंतर्गत कांट के अनुसार--"अपने सभी कर्तव्यों की दैवी आदेश की रूप में स्वीकृति ही धर्म है।"23

पर उपर्युक्त परिभाषाएं पूर्ण नहीं कहीं जा सकती,क्योंकि इन परिभाषाओं में कहीं ज्ञान पर अधिक बल है,कहीं भावना पर अधिक बल है, तो कहीं संकल्प पर। इसको ध्यान में रखते हुए इन परिभाषाओं के अतिरिक्त विलियम जेम्स 'धर्म,' को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि धर्म का अर्थ- "व्यक्ति के एकांतिक भावों, क्रियाओं एवं अनुभवों से है, जो व्यक्ति एवं ईश्वर के संबंध के ज्ञान से विकसित होते हैं।24

इसी प्रकार जॉर्ज गैलवे ने भी धर्म को परिभाषित किया है। उनके अनुसार--"धर्म अपने से परे शक्ति में वह विश्वास है जिसके द्वारा वह अपनी भावनाओं की संतुष्टि और जीवन में स्थिरता प्राप्त करता है तथा जिसे वह पूजा एवं सेवा के माध्यम से प्रकट करता है।25यद्यपि जेम्स और गैलवे की परिभाषा में धर्म के तीनों ही पक्ष ज्ञान,भावना और संकल्प समाहित है। फिर भी यह परिभाषा भी पर्याप्त नहीं कहीं जा सकती है, क्योंकि इसमें धर्म के मूल्यात्मक ,व्यक्तिगत और सामुदायिक पक्ष उपेक्षित है। इन कमियों को देखते हुए प्रो. ऋषि कांत पांडेय ने धर्म के सभी पक्षों को समाहित करते हुए उसे परिभाषित करने का प्रयास किया है। प्रो.पाण्डेय के अनुसार-- "रिलीजन' आदर्शों, मूल्यों अथवा अलौकिक सत्ता के रूप में एक ऐसी आस्था है, जो हमारे आचरण में या तो आत्मानुभूति के रूप में या विभिन्न प्रकार के कर्मकांडों के रूप में अभिव्यक्त होती है तथा जो सामाजिक स्तर पर धार्मिक संगठन का निर्माण करती है।"..... "धर्म' की यह परिभाषा सामान्यतः सभी धर्मों की मूल मान्यताओं का स्पर्श करती है। यहां तक कि जैन और बौद्ध जैसे अनीश्वरवादी धर्म को भी। यद्यपि इन धर्मों में ईश्वर को तो स्थान प्रदान नहीं किया गया है, तथापि इनमें आदर्शात्मक मूल्यों को अवश्य ही स्वीकार किया गया है। इस दृष्टि से इसे रिलीजन की 'पर्याप्त परिभाषा' कहा जा सकता है।"26

1.5 धर्म और रिलीजन में भेद

धर्म और रिलीजन के स्वरूप के संबंध में उपर्युक्त जो भी वर्णन गया है,उसके आलोक में 'धर्म' और 'रिलीजन' के भेद को आसानी से समझा जा सकता है। 'धर्म' और 'रिलीजन' में निम्नलिखित भेद किए जा सकते हैं-

1. 'धर्म' का भारतीय संदर्भ बहुत ही व्यापक एवं गहरा है। यह केवल धार्मिक कर्मकाण्डों तक सीमित नहीं है,बल्कि जीवन के सभी पहलुओं को समाहित करता है--यथा नैतिकता, कर्तव्य, समाज और व्यक्ति के बीच का संबंध। धर्म अपने भीतर व्यक्तिगत विकास, पारिवारिक संबंधों, सामाजिक जिम्मेदारियों से लेकर आध्यात्मिक मुक्ति तक सभी को समाहित करता है।

दूसरी ओर 'रिलीजन' अक्सर एक संगठित संस्थागत संरचना में सीमित होता है। यह एक विशिष्ट विश्वास प्रणाली के अनुसार धर्मानुयायियों को निर्देशित करता है और उसमें ईश्वर,धार्मिक ग्रंथ,धार्मिक अनुष्ठान और सामुदायिक आस्था प्रमुख भूमिका निभाते हैं।

2.'धर्म' व्यक्ति की आंतरिक उन्नति और आत्मा की शुद्धता पर जोर देता है। इसमें बाहरी अनुष्ठानों और आडंबरों का उतना महत्व नहीं है,जितना कि आंतरिक शुद्धि और सत्य के प्रति समर्पण का।

'रिलीजन' संगठनात्मक और सामुदायिक पहलुओं पर आधारित होता है। इसमें विश्वासों,अनुष्ठानों और धार्मिक नियमों का पालन अनिवार्य होता है। 'रिलीजन' व्यक्ति को सामूहिक आस्था प्रणाली में बांधता है, जहां समुदाय को प्राथमिकता दी जाती है।

3.'धर्म' अधिक व्यक्तिगत और आंतरिक स्वायतता लिए होता है। इसमें व्यक्ति को अपने आध्यात्मिक विकास और मुक्ति का मार्ग चुनने की स्वतंत्रता होती है। भारतीय दर्शन में इसे योग, ध्यान,विपश्यना,भक्ति के माध्यम से समझा जा सकता है। जहां पर व्यक्ति को अपने स्वयं के आध्यात्मिक अनुभव के अनुसार चलने की स्वतंत्रता दी जाती है। अपने स्वयं के आध्यात्मिक अनुभव के आधार पर शंकराचार्य अद्वैतवाद, रामानुज विशिष्टाद्वैतवाद, माधवाचार्य द्वैतवाद, बल्लभाचार्य शुद्धाद्वैत की स्थापना करते हैं। जैन और बौद्ध धर्म भी वैदिक धर्म से अलग अपनी राह बनाते हैं।

इसके विपरीत 'रिलीजन' में नियमबद्धता और अनुशासन का कठोरता से पालन किया जाता है। इसमें धार्मिक नियमों, अनुशासनों और परंपराओं का पालन अत्यन्त आवश्यक होता है। इसमें प्रायः धार्मिक संस्थाओं का अधिकार प्रमुख होता है,जो नियमों, सिद्धांतों और कर्तव्यों को निर्धारित करते हैं।

4.'धर्म' व्यक्ति के व्यक्तिगत अनुभव और आत्मज्ञान पर आधारित होता है। इसे व्यक्ति की आत्मा और ब्रह्म के बीच के संबंध के रूप में देखा जाता है। 'धर्म' में व्यक्तिगत ध्यान, आत्मसाक्षात्कार, मोक्ष, योग आदि की प्रमुखता होती है।

'रिलीजन' में सामूहिक आस्था और संगठित धार्मिक क्रियाकलापों का महत्व होता है। इसका उद्देश्य समाज के विभिन्न लोगों को एकजुट करना, संगठित करना और सामूहिक रूप से ईश्वर या अलौकिक सत्ता की उपासना करना होता है।

5. 'धर्म' सहिष्णु होता है और विभिन्न मतों को स्वीकार करता है । भारतीय संदर्भ में 'धर्म' विभिन्न धार्मिक मान्यताओं के सह-अस्तित्व की अनुमति देता है और व्यक्ति की व्यक्तिगत आस्था का सम्मान करता है। हिंदू धर्म,बौद्ध धर्म,जैन धर्म, सिख धर्म आदि इस दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं। बहुदेववाद,एकेश्वरवाद, एकवाद,अद्वैतवाद सभी विचारधाराएं हजारों वर्षों से एक साथ फल-फूल रहीं हैं।शैव,शाक्त,वैष्णव पंथ आदि सभी सहअस्तित्व में अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। यहां इन सभी विचारधाराओं को समान मान्यता,सम्मान और महत्व मिलता रहा है।

'रिलीजन' में लचीलेपन की कमी होती है। यह अनन्यता के सिद्धांत पर आधारित होता है। इसमें एक विशिष्ट ईश्वर, पैगंबर या धार्मिक ग्रंथ को सर्वोच्च मान्यता दी जाती है, जैसा कि अब्राहमिक धर्मों (ईसाई धर्म, इस्लाम, यहूदी धर्म) में देखा जाता है, जहां एक ही ईश्वर या एक ही सत्य की अवधारणा प्रमुख है।

6.धर्म का दृष्टिकोण समग्र एवं समावेशी होता है। जिसमें लौकिक एवं पारलौकिक दोनों तत्वों का समन्वय होता है।लौकिक और पारलौकिक दोनों इच्छाओं को महत्व मिला है।

ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम में तथा चारों पुरुषार्थोंधर्म,अर्थ,काम और मोक्ष में लौकिक और पारलौकिक दोनों तत्वों का समन्वय है।'धर्म' को केवल मृत्यु के बाद के जीवन से नहीं जोड़ा जाता है,बल्कि यह जीवन के प्रत्येक क्षण में नैतिकता,कर्तव्य और आध्यात्मिकता को लागू करने पर जोर देता है।

'रिलीजन' में पारलौकिक जीवन पर अधिक ध्यान केंद्रित किया जाता है।इसमें ईश्वर, स्वर्ग, नर्क और मृत्यु के बाद के जीवन को विशेष महत्व दिया जाता है। 'रिलीजन' में मृत्यु के बाद के जीवन को महत्वपूर्ण माना जाता है और वर्तमान जीवन को उसकी तैयारी के रूप में देखा जाता है।

7.'धर्म' परिवर्तनशील होता है और समय और परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करता रहता है। इसमें जीवन की परिस्थितियों, देश,काल और युगदृष्टि के अनुसार स्वयं को ढालने की क्षमता होती है, जैसे भारतीय धर्म में समय-समय पर सुधारवादी आंदोलनों का उदय हुआ। बौद्ध धर्म, जैन धर्म, भक्ति आंदोलन, आर्य समाज, विवेकानंद जी के विचारों आदि को हिंदू धर्म में सामाजिक और धार्मिक सुधार के रूप में देखा गया।

'रिलीजन' अपेक्षाकृत स्थिर है। वह अपने धार्मिक सिद्धांतों और मान्यताओं में परिवर्तन का विरोधी है। इसमें धार्मिक ग्रंथो और धार्मिक नेताओं के विचारों को सर्वोपरि माना जाता है और उन पर प्रश्न उठाने की अनुमति नहीं दी जाती है। प्रश्न उठाना ईश निंदा की कोटि में आता है।

8.भारतीय धर्म में भक्ति मार्ग का विशेष स्थान है। जो किसी देवता के प्रति प्रेम एवंसमर्पण के माध्यम से मुक्ति प्राप्त करने का एक मार्ग है। गीता में भक्ति मार्ग की चर्चा है। रामानुज आदि भक्ति और शरणागति को मुक्ति का साधन मानते हैं। भक्ति आंदोलन के प्राय: सभी कवियों ने भी भक्ति को मुक्ति का माध्यम माना है। यहां भक्ति को आंतरिक शुद्धि, चित्त की निर्मलता और ध्यान की एकाग्रता और दिव्यता की अनुभूति का मार्ग माना गया है।

'पश्चिमी रिलीजन' में भी भक्ति का तत्व मौजूद है, लेकिन वहां यह मुख्यतः धार्मिक अनुष्ठानों और संस्थागत पूजा प्रणालियों के माध्यम से व्यक्त होता है। ईसाई धर्म में प्रभु यीशु मसीह के प्रति भक्ति और इस्लाम में अल्लाह के प्रति समर्पण महत्वपूर्ण है।

9.भारतीय संदर्भ में 'धर्म' की अवधारणा कर्म सिद्धांत पर आधारित है। यह कर्म सिद्धान्त भारतीय धर्म की नैतिक पृष्ठभूमि भी है। कर्मवाद के अनुसार मनुष्य को अपने शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार सुख और दुःख भोगना पड़ता है। कर्म का सिद्धांत अकाट्य है। देवता भी इसके अपवाद नहीं है। पूर्व जन्म में किए गए कर्म इस जन्म में भाग्य या प्रारब्ध के रूप में मिलते हैं और वर्तमान के कर्म भविष्य जीवन के आधार बनते हैं। भारतीय संदर्भ में कर्मवाद भाग्यवाद या नियतिवाद नहीं है। भारतीय संदर्भ में 'धर्म' व्यक्ति के पुनर्जन्म को मानता है और मुक्ति की प्राप्ति का मार्ग भी कर्मों से जुड़ा होता है। हम अपने भविष्य जीवन को वर्तमान के अच्छे कर्मों द्वारा बेहतर बना सकते हैं। यहाँ तक कि जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति भी सम्भव है।

'पश्चिमी रिलीजन' में कर्म की अवधारणा उतनी व्यापक नहीं है। ईसाई धर्म में कर्म के बजाय 'पाप' और 'प्रायश्चित' की अवधारणाएं प्रमुख हैं। यहां पर स्वर्ग और नर्क का विचार प्रचलित है, जो व्यक्ति के अच्छे या बुरे कर्मों पर आधारित होता है। इस्लाम में भी अच्छे कर्मों और ईश्वर के प्रति समर्पण के आधार पर जन्नत या जहन्नुम का सिद्धांत है।

10. भारतीय 'धर्म' में 'पुरुषार्थ' का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में मोक्ष परम श्रेय है। आत्मा शाश्वत, नित्य और अमर है। अज्ञानवश बंधन में पड़ती है और जन्म-मरण चक्र में संसरण करती है। मोक्ष के बाद ही आत्मा संसार चक्र से मुक्ति पाती है।'
पश्चिमी रिलिजन' में पुनर्जन्म या मोक्ष की अवधारणा नहीं है।

1.6 सारांश

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'भारतीय धर्म और दर्शन' में लिखा है कि--"अंग्रेजी शब्द रिलीजन के लिए धर्म को पर्याय मनाना गलत है। दोनों में विशिष्ट अंतर है। 'रिलीजन' का यथार्थ पर्याय मजहब है, न कि 'धर्म'। किसी देश विशेष में किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा सामयिक उपयोगिता की दृष्टि से एक-दूसरे को विशिष्ट समाज के रूप में बाँधने के लिए जो आचार प्रधान नियम बनाए जाते हैं, वे ही 'रिलीजन' के अंतर्गत आते हैं। .....'धर्म' समस्त विश्व को प्रतिष्ठा देने वाले,स्थिर तथा धारण करने वाले होते हैं। 'रिलीजन' या मजहब या मत या संप्रदाय देश तथा काल की परिधि से सीमित होता है। उसका उद्देश्य किसी विशिष्ट देश तथा काल में, व्यक्ति विशेष के प्रयत्नों को फलीभूत करना होता है। दूसरी तरफ 'धर्म' ईश्वर निर्मित, नित्य, सर्वदा स्थाई,देश-काल की सीमा का अतिक्रमण करने वाला वस्तुतत्व होता है। (धरणाद धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयति प्रजा:।) इसीलिए धर्म निरपेक्ष तत्व है, और संप्रदाय सापेक्ष तत्व है। .....धर्म तो धर्म ही है, अखंड सत्तात्मक नित्य पदार्थ भी है।27

वस्तुत: 'धर्म' शब्द का किसी भी अन्य भाषा में ठीक-ठीक रूपांतरण या अनुवाद नहीं किया जा सकता है,क्योंकि 'धर्म' एक व्यापक और गूढ़ शब्द है। प्रो. ऋषि कांत पांडेय ने धर्म के दो आयामों की विस्तार से चर्चा की है--"धर्म का पहला आयाम आंतरिक स्तर पर आत्म शुद्धि है और बाह्य स्तर पर सदाचार है। अर्थात केवल सदाचरण को ही धर्म मान लेना सत्यांश है। सदाचरण के बिना आत्मशुद्धि नहीं हो सकती। अर्थात सदाचरण साधन है और आत्मशुद्धि साध्य।

'रिलीजन' में भी बाह्य पक्ष अर्थात कर्मकांड पर बल दिया जाता है, पर कर्मकांड और सदाचरण में अंतर है। कर्मकांड का संबंध एक विशेष प्रकार की पूजा पद्धति से है, जबकि सदाचरण का संबंध पूजा-पद्धति से न होकर 'सम्यक आचरण' से होता है।कर्मकांड तो कोई भी व्यक्ति कर सकता है, परंतु सदाचार के लिए आत्म शुद्धि आवश्यक है। और आत्मशुद्धि के अभाव में ना तो परम सत्ता का साक्षात्कार संभव है और न ही परम शांति, जो सभी धर्म का निःश्रेयस है।

वस्तुत: धर्म का स्वरूप और सीमा अत्यंत व्यापक है और गूढ़ भी।
इसीलिए महाभारत (3/313/117) में कहा गया है-
"तर्को अप्रतिष्ठ: श्रुतयो विभिन्ना नैकोऋषिर्यस्य मतं प्रमाणं।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पंथा:।।"

तर्क तो अप्रतिष्ठित है, श्रुतियां भी भिन्न-भिन्न है, एक भी ऋषि नहीं है,जिनके मत को प्रमाण माना जाए। अतः धर्म का तत्व अत्यंत गूढ़ अर्थात रहस्यमयी है, अतः जिससे महापुरुष जाते रहे हैं, वही मार्ग है। इस प्रकार 'धर्म' को मात्र 'रिलीजन' तक सीमित करना उचित नहीं है। इस अर्थ में 'धर्म' तो केवल हिंदू धर्म ही है, अन्य सभी मात्र रिलीजन। यहाँ 'रिलीजन' का तात्पर्य विशेषकर 'सेमिटिक रिलीजन' से ही है। उल्लेखनीय है कि इन सूक्ष्म विभेदों के बावजूद भी

व्यवहारतः 'धर्म' और 'रिलीजन' का प्रयोग प्रयास समानार्थक रूप में होता रहा है, क्योंकि अंततः दोनों शब्द धार्मिक अनुभूति से सम्बद्ध हैं।"28

1.7 पारिभाषिक शब्दावली

निःश्रेयस- मोक्ष या मुक्ति।

चार वर्ण- ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य और शूद्र।

चार आश्रम- ब्रह्मचर्य,गृहस्थ,वानप्रस्थ, संन्यास।

ऋत- जगत की व्यवस्था,नैतिक व्यवस्था भी, प्राकृतिक नियम और अनुशासन।

सम्यक दर्शन- जैन तत्वों तथा सिद्धांतों के प्रति प्रगाढ़ आस्था।

सम्यक ज्ञान- जैन तत्वों तथा सिद्धांतों का अगाध ज्ञान।

सम्यक चरित्र- जैन तत्वों तथा सिद्धांतों का आचरण में व्यवहार।

स्वायत्तता- स्वतंत्रता।

आधुनिकतावाद- समाज, संस्कृति, साहित्य और कला के क्षेत्र में परंपरागत विचारों के स्थान पर नए विचारों और तकनीको को अपनाना।

उपभोक्तावाद- उपभोग ही जीवन का चरम लक्ष्य और सफलता का मापदंड।

बाजारवाद- एक ऐसी आर्थिक-सामाजिक प्रणाली जिसमें वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन, वितरण, मूल्य, बाजार की शक्तियों यथा मांग और पूर्ति से निर्धारित होती हैं।

वैश्वीकरण- एक ऐसी प्रक्रिया जिसमें विश्व के विभिन्न देशों की अर्थव्यवस्था आपस में जुड़ती है,जिससे पूंजी, वस्तु, सेवा, तकनीक, विचार, सूचना का मुक्त आदान-प्रदान होता है।

व्यक्तिवाद- वह विचारधारा जिसमें समाज और सामूहिकता के बजाय व्यक्तिगत विकास को महत्व दिया जाता है।

पुरुषार्थ- पुरुष या आत्मा का लक्ष्य जैसे धर्म,अर्थ,काम और मोक्ष।

अब्राह्मिक धर्म- वे धर्म, जो पैगंबर इब्राहिम की परंपरा और शिक्षाओं से जुड़ते हैं। यह एकेश्वरवाद से जुड़े हैं। अब्राहमिक धर्म में प्रमुख रूप से तीन धर्म है-- यहूदी,ईसाई और इस्लाम।

सेमेटिक धर्म- यह धर्म मुख्य रूप से मध्य पूर्व के क्षेत्र में विकसित हुए और एकेश्वरवाद को अपना मूल सिद्धांत मानते हैं। इसमें यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म आते हैं।

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. धर्म शब्द बना है-

(A) 'धी' धातु से

(B) 'धृ' धातु से

(C) 'धार्मिक' शब्द से

(D) उपयुक्त में से कोई नहीं।

उत्तर- (B)

2. भारतीय संदर्भ में 'धर्म' है-

(A) नैतिक सदाचरण

(B) आत्म शुद्धि

(C) उपर्युक्त दोनों

(D) केवल धार्मिक कर्मकांड

उत्तर—(C)

3. पुरुषार्थों का सही क्रम है-

(A) धर्म,अर्थ,काम,मोक्ष

(B) मोक्ष,काम,अर्थ,धर्म

(C) काम,धर्म,अर्थ,मोक्ष

(D) अर्थ,काम,मोक्ष,धर्म

उत्तर-(A)

4. आश्रमों का सही क्रम क्या है--

(A) ब्रह्मचर्य,गृहस्थ,वानप्रस्थ,संन्यास

(B) संन्यास,ब्रह्मचर्य,गृहस्थ वानप्रस्थ

(C) ब्रह्मचर्य,गृहस्थ,संन्यास वानप्रस्थ

(D) वानप्रस्थ,संन्यास,गृहस्थ, ब्रह्मचर्य

उत्तर--(A)

5. जैन धर्म के वास्तविक संस्थापक थे-

(A) ऋषभदेव

(B) पार्श्वनाथ

(C) नेमिनाथ

(D) महावीर स्वामी

उत्तर--(D)

6. बौद्ध धर्म के संस्थापक हैं-

(A) बुद्ध

(B) नागार्जुन

(C) दिंगनाग

(D) धर्मकीर्ति

उत्तर--(A)

7. रिलीजन शब्द बना है-

(A) Relegere

(B) Religare

(C) Relegio

(D) उपर्युक्त सभी से

उत्तर--(D)

8. बौद्ध धर्म के त्रिरत्न है—

(A) बुद्ध

(B) धम्म

(C) संघ

(D) उपर्युक्त सभी

उत्तर--(D)

9. जैन धर्म के त्रिरत्न है--

(A) सम्यक दर्शन
(B) सम्यक ज्ञान
(C) सम्यक चरित्र
(D) उपर्युक्त सभी
उत्तर--(D)
10. भक्ति काल के कवियों के अनुसार धर्म है-
(A) परस्पर प्रेम
(B) मानव सेवा
(C) परोपकार
(D) उपर्युक्त सभी
उत्तर--(D)

3.9 संदर्भ ग्रन्थ: -

1.शंकराचार्य-- a.शारीरिकभाष्य (ब्रह्मसूत्र-शंकर भाष्य), निर्णय सागर प्रेस, मुंबई
b.ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यम् (सत्यानंदी-दीपिकया-समलंकृम्),स्वामी सत्यानंद सरस्वती कृत हिंदी अनुवाद एवं व्याख्या सहित, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली 2007.
c.तैत्तिरीय, ऐतरेय, छांदोग्य, वृहदारण्यक, शांकर भाष्य तथा हिंदी अनुवाद सहित अलग-अलग प्रकाशित,गीता प्रेस,गोरखपुर।
1. शर्मा, चंद्रधर- भारतीय दर्शन: आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली,1988.
2. डॉ. राधाकृष्णन-a.भारतीय दर्शन, भाग 1 और भाग 2, हिंदी अनुवादक नंदकिशोर गोभिल, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1986.
b.उपनिषदों की भूमिका, रामनाथ शास्त्री द्वारा अनुदित, राजपाल एंड संस, तृतीय संस्करण, 1971.
3. मिश्र, डॉ.अर्जुन-- दर्शन की मूल धाराएं, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1989
4. उपाध्याय, बलदेव-- भारतीय धर्म एवं दर्शन,चौखंभा ओरिएंटालिया, दिल्ली, 2000.
5. पाण्डेय, प्रो. ऋषिकांत-- धर्म-दर्शन, प्रथम संस्करण,प्रियर्सन इंडिया, नोएडा, उत्तर प्रदेश।
6. Max Muller,F.,-- Introduction to the Science of Religion,Longmans, Green & Co.,London,1882.
7. Hick,John H.,--Faith and Knowledge,Cornell University Press,New York, 1966.
8. Swami Vivekananda-- The Complete Works of Swami vivekananda, Vol. ,1Mayavati Memorial Edition, Advaita Ashrama, Calcutta,1986.
9. Radhakrishnan,S--The Hindu View of Life,George Allen & Unwin Ltd,London,1927.
10. Radhakrishnan,S-- Eastern Religions and Western Thought, Oxford University Press, London,1940.
1.8.1 लेख में उद्धरित किये गए कथनों के संदर्भ: -

1. Muller Max :Contributions of the Science of Mythology Longmans, Green & Co., London, preface,
2. Marx, Karl :A contribution to the critique of Hegel's Philosophy, Cambridge University Press, (1970),Ed. Joseph O'Malley, Preface,p. 24.
3. Freud, Sigmund :New introductory lectures on psychoanalysis, Quoted from Mc Grath, Alister E.(1999): Science and Religion: An introduction, Blackwell, Oxford, pp.178-81.
4.कर्ण पर्व (69/58)
5.यतो अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि: स धर्म:। वैशेषिक सूत्र 1/1/2
6.शास्त्री, डॉ.मंगलदेव : भारतीय संस्कृति का विकास, (प्रथम खंड) वैदिक धारा,पृ० 104-105
7.सत्यमवदा धर्मंचर। तैत्तिरीय उपनिषद(1/ 11/1)
8.वाग्धर्ममधर्म विज्ञापयति। छान्दोग्य उप.,(7/2/1)
9.छान्दोग्य उप., (2/23/1)
10.वृहदारण्यक उप.,(2/5/11)
11.वही,(2/5/12)
12.वही,(1/4/15)
13.यतो अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि: स धर्म:।। वैशेषिक सूत्र--,(1/1/2)
14.तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। वही, (1/1/3)
15.शतपथब्राह्मण, (1/1/14)
16.ऋग्वेद, (10/65/14)
17.मिश्र,डॉ. अर्जुन : दर्शन की मूल धाराएं, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, द्वितीय संस्करण, 1989, पृo 53.
18.वही, पृo 53.
19.वही,पृo 53.
20.पाण्डेय, प्रो. ऋषि कान्त :धर्म दर्शन प्रथम संस्करण ,प्रियर्सन इंडिया,नोएडा,उ.प्र., पृo12.
21.Muller,Max :Introduction to the Science of Religion,Longmans, Green & Co, London, 1882, p13.
22.Tiele: Elements of the Science of Religion, Vol.2. Reprint, Forgotten Books,London (2013): pp. 198-99
23. Kant, Immanuel:Religion Within the Boundaries of Mere Reason, Trans. Allen Wood & George D. Giovanni (1988): Cambridge University Press, U.K., p.153.
24. William, James: The Varieties of Religious Experience, Longmans, Green & Co., New York, p.31.
25. Galloway, George:The Philosophy of Religion,T.& T. Clark, Edinburgh, New York, p. 185.

26.पाण्डेय,प्रो. ऋषि कांत:धर्म-दर्शन, प्रथम संस्करण, प्रियर्सन इंडिया, नोएडा, उ.प्र., पृo 9.
27.उपाध्याय, बलदेव:भारतीय धर्म और दर्शन, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2000, पृo 13-14
28.पाण्डेय,ऋषि कांत :धर्म-दर्शन, प्रथम संस्करण, प्रियर्सन इंडिया,नोएडा, उ.प्र. पृ० 16.

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.भारतीय संदर्भ में 'धर्म' के स्वरूप की विस्तृत विवेचना कीजिए।
2.मनुष्य के जीवन में 'धर्म' या 'रिलीजन' की क्या भूमिका है? विवेचना कीजिए।
3. 'धर्म' और 'रिलीजन' के बीच भेद को स्पष्ट कीजिए।
4.क्या 'धर्म' या 'रिलीजन' के बिना मानव का जीवन संभव है? विवेचना कीजिये।
5.आधुनिक युग में 'धर्म' या 'रिलीजन' की प्रासंगिकता पर विचार कीजिए।
6.'धार्मिक सहिष्णुता' और 'सर्वधर्म समभाव' में 'धर्म' या 'रिलीजन' की क्या भूमिका हो सकती है? विवेचना कीजिए।
7.क्या 'धर्मनिरपेक्षता' और 'पंथनिरपेक्षता' एक ही है? विवेचना कीजिए।
8.भारतीय संदर्भ में 'धर्म' के ऐतिहासिक विकासक्रम की विवेचना कीजिए।
9.अब्राह्मिक धर्म से आप क्या समझते हैं? उनकी सामान्य विशेषताओं की विवेचना कीजिए।

इकाई-4 धर्मशास्त्र में कर्तव्य की अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

4.1. प्रस्तावना
4.2. उद्देश्य
4.3 धर्मशास्त्र में कर्तव्य की अवधारणा
4.3.1 स्मृतिग्रन्थों में कर्तव्य की अवधारणा
4.4 सारांश
4.5 पारिभाषिक शब्दावली
4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ-
4.7.1 लेख में उद्धृत किये गए कथनों के सन्दर्भ
4.8 निबंधात्मक प्रश्न

4.1. प्रस्तावना

धर्मशास्त्र वे ग्रंथ है, जो मनुष्य के व्यक्तिगत, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक जीवन को अनुशासित तथा मार्गदर्शित करते हैं। इसके लिए धर्मशास्त्र विभिन्न प्रकार के कर्तव्यों का निर्धारण तथा निर्देशन करते हैं, जिससे मानव जीवन को धर्म और सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप व्यवस्थित किया जा सके। धर्मशास्त्र मानव के भौतिक तथा आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति या प्राप्ति हेतु कर्तव्यों के पालन पर जोर देते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'कर्तव्यनिर्धारण तथा कर्तव्यपालन' है। लेकिन यह इनका एकमात्र प्रतिपाद्य विषय नहीं है। इसमें सामाजिक व्यवस्था, नैतिकता, दण्डनीति, धार्मिक, कर्मकाण्डआध्यात्मिक उत्थान जैसे विषय भी शामिल है। वस्तुतः धर्मशास्त्र एक व्यापक जीवनशास्त्र या जीवन दर्शन है, जो व्यक्ति और समाज के कल्याण के लिए नियम तथा मार्गदर्शन प्रदान करते हैं।

जहां तक 'कर्तव्य' की बात है तो भारतीय दर्शन, संस्कृति और धर्मशास्त्रों में कर्तव्य को धर्म का पर्याय या व्यावहारिक रूप माना गया है। यह व्यक्ति की उन्नति, समुन्नत सामाजिक व्यवस्था के साथ-साथ मोक्ष का साधन भी माना गया है। कर्तव्य का अर्थ है- "जो किया जाना चाहिए"। परन्तु मनुष्य में भावनाएं, इच्छाएं, संवेग आदि भी है, जो व्यक्ति के कर्तव्य पालन में बाधक बनती रहती हैं। इसीलिए कर्तव्य में 'अनिवार्यता' या 'बाध्यता' का तत्व शामिल होता है। ताकि भावनाएं और इच्छाएं कर्तव्यपालन में बाधक न बन सके। इसी कारण कर्तव्य को नैतिक और सामाजिक दायित्व माना गया है। जिसका प्रत्येक परिस्थिति में पालन किया जाना आवश्यक है, कर्तव्यों के स्वरूप का निर्धारणनैतिकता, परम्परा, धर्म, संस्कृति और समाज के नियमों के अनुसार होता है।

यहां एक तथ्य का उल्लेख करना आवश्यक है कि 'कर्म' और 'कर्तव्य' में बहुत सूक्ष्म तथा महत्वपूर्ण अन्तर है। प्राय: 'कर्म' और 'कर्तव्य' को एक-दूसरे का पर्याय मान लेने की भूल की जाती है। वस्तुतः प्रत्येक 'कर्म' 'कर्तव्य' नहीं है, परन्तु प्रत्येक 'कर्तव्य' कर्म' है। उदाहरण के लिए खाना-पीना, घूमना-फिरना, व्यायाम करना, बात करना, चिंतन करना आदि हमारे कर्म हैं, परन्तु कोई जरूरी नहीं है कि यह हमारे कर्तव्य भी हो। माता-पिता की सेवा करना, सत्य और अहिंसा का पालन करना, जरूरतमंद की मदद करना, राष्ट्र-राज्य और समाज के कानून का पालन करना, राष्ट्र की रक्षा करना, अपने पेशे से सम्बन्धित कार्यों को करना आदि कर्म होते हुए भी हमारे लिए कर्तव्य हैं।

वस्तुतः इन सूक्ष्म भेदों के बावजूद दोनों मानव जीवन से अभिन्न रूप से जुड़े हैं। जहां 'कर्म' व्यक्ति के व्यक्तिगत-सामाजिक जीवन के संचालन का माध्यम है, वहीं 'कर्तव्य' एक नैतिक-सामाजिक बोध या दायित्व है, जिसमें अनिवार्यता का तत्व विद्यमान रहता है। वस्तुतः इन भेदों के बावजूद 'कर्म' और 'कर्तव्य' हमारे जीवन के लिए एक-दूसरे के पूरक है।

4.2 उद्देश्य

इस लेख के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि धर्मशास्त्र क्या है ? और इसकी महत्ता क्या है ? साथ ही इन धर्मशास्त्रों में वर्णित कर्तव्य की अवधारणा का विस्तृत विवरण भी प्रस्तुत किया गया है। इस लेख के द्वारा सुधी पाठकों को अपने धर्मशास्त्र से परिचय कराने के साथ-साथ उनमें कर्तव्यबोध की भावना को जागृत करना भी है। 'कर्तव्यबोध और कर्तव्यपालन किसी भी व्यक्ति,

समाज और राष्ट्र के उन्नयन का आधार है'- इस विचार और भाव को रेखांकित करना भी इस लेख का उद्देश्य है।

स्पष्टीकरण—

वेद, उपनिषद, गीता भारतीय धर्म-दर्शन और साहित्य के प्राचीनतम तथा महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं, परन्तु इन्हें सीधे तौर पर या प्रत्यक्ष रूप से धर्मशास्त्र के अन्तर्गत शामिल नहीं किया जाता है। वेद, उपनिषद, गीता आदि धर्मशास्त्र के आधार तथा प्रेरणा स्रोत हैं, परन्तु ये धर्मशास्त्र की श्रेणी में नहीं आते। कारण यह है कि धर्मशास्त्र मुख्यतः सामाजिक, नैतिक, व्यावहारिक नियमों का संकलन है जबकि वेद, उपनिषद, गीता- ज्ञान, अध्यात्म, धर्म के व्यापक सिद्धांतों पर केन्द्रित हैं।

इसके बावजूद 'धर्मशास्त्र में कर्तव्य की अवधारणा' विषयक इस लेख में वेद, उपनिषद और गीता में कर्तव्य आदि की जो विवेचना हुई है, उसका वर्णन करना भी समीचीन और प्रासंगिक होगा, क्योंकि कर्तव्य की अवधारणा हमारे ग्रन्थों में बहुत व्यापक रूप से विस्तारित है। भारतीय दर्शन, वेद, उपनिषद, गीता, पुराण, महाकाव्य आदि में कर्तव्य का वर्णन और संदर्भ है।

इसलिए 'धर्मशास्त्र में कर्तव्य की अवधारणा' विषयक इस लेख को केवल स्मृतिग्रन्थों और धर्मसूत्रों (जो प्रत्यक्षतः धर्मशास्त्र के अन्तर्गत आते हैं) तक सीमित नहीं करके इसमें वेद, उपनिषद, गीता, पुराण आदि में वर्णित कर्तव्यों का भी उल्लेख किया गया है। वस्तुतः ये सभी ग्रन्थ मिलकर कर्तव्य के भौतिक, सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक पक्ष को पूरी समग्रता के साथ प्रस्तुत करते हैं। इन सभी ग्रन्थों में उल्लिखित कर्तव्यों के वर्णन से कर्तव्य के प्रति हमारी दृष्टि और समझ व्यापक और समग्र होगी।

भारतीय ज्ञान परम्परा में 'धर्म' शब्द का प्रयोग कर्तव्य, पंथ, गुण, नियम, न्याय, शील, कर्म आदि के सन्दर्भ में हुआ है, परन्तु इस लेख में हम 'धर्म' और 'कर्तव्य' को एक-दूसरे का पर्याय मान कर चल रहे हैं, क्योंकि कर्तव्य धर्म का व्यावहारिक रूप है। कर्तव्य के माध्यम से ही धर्म का अनुसरण, अनुपालन और व्यवस्था सुनिश्चित होती है।

वेदों में कर्तव्य की अवधारणा—

धर्म और कर्तव्य की मूल जड़े वेदों में है। जिसमें यज्ञ, ऋत और समाज के प्रति कर्तव्य का वर्णन मिलता है। वैदिक धर्म का मुख्य लक्ष्य जीवन को समुन्नत तथा सुव्यवस्थित बनाना था, जिसके लिए यज्ञ, कर्म (कर्तव्य का ही रूप) और ऋत का पालन महत्वपूर्ण बताया गया है। 'ऋत' को 'जगत की व्यवस्था' कहा गया है। इसके अन्तर अन्तर्गत 'नैतिक व्यवस्था' भी समाहित है और कोई भी नैतिक व्यवस्था कर्तव्यपालन से जुड़ी होती है।

उपनिषद में कर्तव्य की अवधारणा—

उपनिषद का मूल प्रतिपाद्य ब्रह्म और आत्मा है, परन्तु यहां कर्तव्य का आध्यात्मिक पक्ष भी स्पष्ट किया गया है। मुख्यतः छन्दोग्य उपनिषद में 'धर्म' शब्द का प्रयोग विहित 'कर्मों' के सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से किया गया है। यहां पर धर्म के तीन आधार स्तम्भबताए गए हैं- यज्ञ, अध्ययन और दान। अग्निहोत्रादि यज्ञ, नियमपूर्वक ऋग्वेद आदि का पाठ या अध्ययन और वेदी के बाहर भिक्षा मांगने वालों को यथाशक्ति धन देना दान है। इसी प्रकार यहां पर ब्रह्मचारी, गृहस्थ और संन्यासी के धर्म का वर्णन किया गया है। यहां 'धर्म' वर्णाश्रम धर्म के रूप में प्रयुक्त हुआ है। बाद के उपनिषदों में 'धर्म' का प्रयोग विभिन्न 'कर्तव्यों' के रूप में किया गया है। ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद जब व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता ह था तो उसे विभिन्न कर्तव्यों के पालन की

शिक्षा दी जाती थी। वस्तुतः विभिन्न कर्तव्यों का पालन ही 'धर्म' का अनुसरण करना कहा गया है। जैसे- **'सत्यंवद', 'धर्मचर', 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः'**आदि (अर्थात् सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय में आलस्य मत करो।)
इसी प्रकार रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों में भी कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन मिलता है। रामायण के प्रमुख पात्र भगवान श्रीराम का चरित्र और जीवन कर्तव्यपालन का प्रतीक है। कहा गया है-- 'रामो विग्रहवान् धर्मः'। अर्थात् भगवान श्रीराम धर्म या कर्तव्य के साक्षात विग्रह है। गीता महाभारत का ही अंग है, जो कर्तव्य का श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसके अलावा भी महाभारत में कई स्थलों पर धर्म और कर्तव्य की विस्तृत विवेचना मिलती है। विभिन्न पुराणों में भी जिनमें विष्णुपुराण, नारदपुराण प्रमुख है- कर्तव्य और धर्म के नैतिक पहलुओं पर जोर दिया गया है।
गीता में कर्म की अवधारणा— भगवतगीता में वर्णाश्रम से सम्बन्धित कर्तव्यों का पालन करना ही 'धर्म' माना गया है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुण: परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:।।

अर्थात् स्वधर्म का पालन चाहे वह कितना भी दोषपूर्ण क्यों न हो, श्रेष्ठ है। दूसरे के धर्म का पालन, चाहे वह कितना भी सुचारू रूप से किया जाए, भयावह है। अपने धर्म में मरना भी कल्याणकारी है, परन्तु दूसरे धर्म का पालन करना भय उत्पन्न करने वाला है।

गीता के अनुसार अपने गुण और स्वभाव के अनुसार कर्तव्य का पालन 'स्वधर्म' है। गीता स्पष्ट शब्दों में रहती है कि 'मनुष्य स्वकर्मणा या स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः' (अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ) द्वारा नैतिक और आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। 'स्वभाव' से नियत किए गए कर्म को करने वाला मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता।[3] यह एक अत्यन्त व्यापक अवधारणा है। जिसमें मनुष्य के सामाजिक दायित्व, उसकी शारीरिक और मानसिक क्षमताओं के अनुसार उसके कार्य करने की क्षमता, उसका स्वभाव, रुचियां, सामर्थ्य सबका समावेश हो जाता है।

परधर्म का अर्थ है- 'किसी दूसरे का धर्म या कर्तव्य'। यह किसी और के स्वभाव और गुण के अनुसार निश्चित होता है। इसका पालन मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से दोषयुक्त माना जाता है, क्योंकि यह उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति और कर्तव्य के विरुद्ध होता है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि "गुण और कर्म के विभागानुसार चार वर्ण मेरे द्वारा रचे गए हैं-

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागश:। ये चार वर्ण है-- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।इन वर्णों के निम्न कर्तव्य है—

ब्राह्मण के कर्तव्य- शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता।
क्षत्रिय के कर्तव्य- शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में पीठ ना दिखाना, दान, ईश्वरभाव।
वैश्य के कर्तव्य- कृषि, पशुपालन और व्यापार।
शूद्र के कर्तव्य- सभी वर्णों की सेवा।

ज्ञातव्य है कि इनमें से किसी वर्ण का व्यक्ति अन्य वर्ण के व्यक्ति की अपेक्षा ऊंच और नीच नहीं है। यहां एक तथ्य का उल्लेख करना समीचीन होगा कि वेद, उपनिषद और गीता द्वारा मान्य वर्ण व्यवस्था में उच्च-निम्न का भाव नहीं है, जो वर्तमान में दृष्टिगोचर हो रही है।वस्तुतः 'स्वधर्म' पालन पर जोर देने का उद्देश्य सामाजिक कल्याण या लोक संग्रह है।

4.3 धर्मशास्त्र में कर्तव्य की अवधारणा

4.3.1 स्मृतिग्रन्थों में कर्तव्य की अवधारणा-

स्मृतिग्रन्थ धर्मशास्त्रों के प्रमुख अंग है। इनमें विद्वान ऋषियों द्वारा वैदिक ज्ञान को सरलतम रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन ग्रन्थों में कर्तव्य की विस्तृत विवेचना की गई है। कर्तव्य को जीवन का मूल आधार और धर्म का पर्याय बताया गया है। यह कर्तव्य वस्तुतः धर्म का व्यावहारिक स्वरूप है।स्मृतिग्रन्थ सामाजिक जीवन के आचरण और व्यवहार का निर्देशन, विनियमन तथा मार्गदर्शन करने के साथ ही साथ वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन के प्रति कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं। इसके अलावा स्मृतिग्रन्थ नैतिक, धार्मिक, आर्थिक, कानूनी नियमों को भी प्रस्तावित करते हैं तथा इनके पालनका निर्देश देते हैं। प्रमुख स्मृतियां निम्न है-

(I) मनुस्मृति- यह सबसे प्रसिद्ध और व्यापक धर्मशास्त्र है। इसमें वर्णाश्रम से सम्बन्धित कर्तव्य और सामाजिक व्यवस्था आदि का वर्णन मिलता है।

(II) याज्ञवल्क्यस्मृति-राज्य, राजा, प्रशासन, न्याय और सामाजिक व्यवस्था आदि का वर्णन मिलता है।

(III) पराशरस्मृति-कलयुग के लिए धर्म का वर्णन है।

(IV) नारदस्मृति- न्याय और कानून के सिद्धांतों का वर्णन है। विशेष रूप से इसमें विभिन्न प्रकार के विवाद और उनके समाधान का सूत्र मिलता है।

(V) विष्णुस्मृति-यह सामाजिक और न्यायिक व्यवस्था पर आधारित है।

(VI) कात्यायनस्मृति- यह कानून और न्याय व्यवस्था पर केन्द्रित है। इसके अलावाशंखस्मृति, हारीतस्मृति, अत्रिस्मृति आदि का भी उल्लेख धर्मशास्त्रों के अन्तर्गत मिलता है।

कहा गया है कि—

सर्वधर्म सूत्राणां वर्णाश्रम धर्मोपदेशित्वात्

अर्थात् 'सभी धर्मसूत्रों का उद्देश्य वर्ण और आश्रम धर्म की शिक्षा देना है।' वस्तुत: यह कथन सभी धर्मशास्त्रों की मूल अवधारणा का सार है, जो धर्मसूत्रों तथा स्मृतिग्रन्थों में विस्तृत रूप से मिलते हैं।याज्ञवल्क्य स्मृति में वर्णाश्रम अनुकूल कर्तव्यों के पालन के अर्थ में ही 'धर्म' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार मनुस्मृति भी धर्म के अनुसार आचरण करने के लिए वर्ण और आश्रम व्यवस्था को अनिवार्य मानती है। मनु ने मुख्यतः 'धर्म' शब्द का प्रयोग 'कर्तव्य' के अर्थ में ही किया है। धर्म उन कर्मों की समष्टि है, जिनके द्वारा वैयक्तिक, सामाजिक, नैतिक आदि उपलब्धियां पायी जा सकती है। उनके अनुसार धर्म दो प्रकार के है-

(अ) साधारण धर्म

(ब) वर्णाश्रम धर्म

(अ) साधारण धर्म- यह सामान्य रूप से सभी के लिए आवश्यक धर्म (कर्तव्य) हैं। इनमें वर्ण, आश्रम, देश, काल आदि की अपेक्षा या भेद नहीं किया जाता है। मनु ने ऐसे दस धर्मों की चर्चा की है- धृति(धैर्य), क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी (बुद्धि), विद्या, सत्य, अक्रोध।

सामाजिक व्यवस्था के उच्चतम बिन्दु ब्राह्मण से लेकर निम्नतम बिन्दु पर स्थित शूद्र के लिए यह समान रूप से अनिवार्य और अनुपालनीय है। शंखस्मृति में लिखा है कि क्षमा, सत्य और शौच सब वर्णों के द्वारा पालन करने योग्य है और यही कारण है कि उन्हें साधारण धर्म की संज्ञा दी गई है।

(ब) वर्णाश्रम धर्म- चार वर्ण हैं--ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रत्येक वर्ण के अलग-अलग कर्तव्य निर्धारित हैं। चार आश्रम हैं-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। प्रत्येक आश्रम के अलग-अलग कर्तव्य निर्धारित हैं। इन्हीं वर्ण और आश्रम के कर्तव्यों को वर्णाश्रम धर्म कहा जाता है।

(A) वर्णधर्म- प्रत्येक वर्णका वर्णधर्म चातुर्वर्ण्य सिद्धांत पर आधारित है। प्रत्येक वर्ण के लिए अलग-अलग कर्तव्य निर्धारित किए गए हैं। 'वर्णों के इन विशिष्ट कर्तव्यों को वर्णधर्म कहा जाता है।' मनु के अनुसार चार वर्ण है- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। मनु के अनुसार प्रत्येक वर्ण के निम्न कर्तव्य हैं-

1. ब्राह्मण के कर्तव्य- मनु केअनुसार वेदादि पढ़ाना, अध्ययन करना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना तथा दान लेना ये छह ब्राह्मण के कर्तव्य हैं।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।

दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानाम कल्पयत्।। (मनुस्मृति 1/88)

अत्रिस्मृति के अनुसार शौच, शुभ कार्य, शारीरिक परिश्रम नहीं करना, असूया (डाह) न करना, दया और दान ब्राह्मण के कर्तव्य हैं।शंखस्मृति के अनुसार यजन, याजन, दान, अध्ययन, अध्यापन, प्रतिग्रह ब्राह्मण के प्रमुख कर्तव्य हैं।[8]विष्णुपुराण के अनुसार भी दान देना, यज्ञ द्वारा देवताओं का यजन करना, स्वाध्यायशील होना, नित्य स्नान, तर्पण करना, किसी का अहित न करना, सर्वदा समस्त प्राणियों से मैत्री रखना तथा समबुद्धि रखना ब्राह्मण के कर्तव्य है।कामन्दकीय नीतिसार के अनुसार-विशुद्ध रीति से यज्ञ कराना, विद्या पढ़ाना और विशुद्ध आचरण-संपन्न व्यक्ति से दान लेना--ये तीनों कर्तव्य ब्राह्मण के हैं।

2. क्षत्रिय के कर्तव्य- मनु केअनुसार सब प्रकार से समस्त प्रजाओं की रक्षा करना, ब्राह्मणों को दान देना, यज्ञ करना, वेदादि का अध्ययन करना और भोगासक्त न होना ये सब क्षत्रिय के कर्तव्य हैं।

प्रजाना रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।

विषयेष्व प्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः।। (मनुस्मृति 1/89)

शंखस्मृति के अनुसार क्षत्रिय का सबसे प्रमुख कर्तव्य है-प्रजा की रक्षा या पालन करना।अत्रिस्मृति में भी यजन, दान, अध्ययन, तप, शास्त्र से जीवन, भूतों का रक्षण आदि क्षत्रिय के कर्तव्य है। कामन्दकीय नीतिसार में सभी जीवों की रक्षा करना तथा शस्त्र के द्वारा अपने जीवनकाल-पर्यन्त वृत्ति का निर्वाह करना-- क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्तव्य बतलाए गए हैं।

3. वैश्य के कर्तव्य-मनुस्मृति में पशुपालन, दानदेना, यज्ञ करना, वेदादि पढ़ना, ब्याज खाना तथा खेती करना वैश्य के कर्तव्य बतलाए गए हैं।

पशूनां रक्षणंदानमिज्याध्ययनमेव च।

वणिक् पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।।(मनुस्मृति 1/90)

विष्णुपुराण तथा कामन्दकीय नीतिसार के अनुसार पशुपालन, व्यापार और कृषि वैश्य के प्रमुख कर्तव्य हैं। अत्रिस्मृति के अनुसार दान, अध्ययन, वार्ता, कृषि, यज्ञ आदि वैश्य के प्रधान कर्तव्य हैं।

4. शूद्रके कर्तव्य- मनुस्मृतिके अनुसार शूद्रों के लिए एक ही धर्म है कि वह अपने से श्रेष्ठ तीनों वर्णों की सेवा प्रसन्नचित्त से करें।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभु: कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया।।(मनुस्मृति 1/91)

अत्रिस्मृति के अनुसार वार्ता (कृषि), द्विजातियों की सेवा तथा बढ़ई का कार्य आदि शूद्र के कर्तव्य हैं। पराशरस्मृति के अनुसार भी द्विजाति की सेवा करना शूद्र का धर्म बतलाया गया है।

(B) आश्रमधर्म-आश्रमव्यवस्था सम्पूर्ण सम्पूर्ण मानव जीवन काल तक विस्तारित थी। प्राचीन भारतीय समाज आश्रम व्यवस्था पर आधारित था। प्रत्येक वर्ण के व्यक्तियों के सर्वांगीण कल्याण एवं विकास हेतु विभिन्न आश्रमों तथा उनसे सम्बन्धित कर्तव्यों के पालन पर जोर दिया जाता था। इन कर्तव्यों को ही आश्रम धर्म की संज्ञा दी गई है।

मनुस्मृति के अनुसार आश्रम चार प्रकार के हैं- ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम।

1. ब्रह्मचर्य आश्रम और उसके कर्तव्य- जीवन केशुरुआत से लेकर 25 वर्ष तक की अवस्था को ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत रखा गया है। मनुस्मृति के अनुसार परमार्थ चिंतन, अपने तथा गुरु के लिए भिक्षाटन, गुरु की सेवा तथा अपने शरीर को नियमित रूप से स्वस्थ रखने के लिए व्यायाम करना, विभिन्न प्रकार की विद्या का अभ्यास करना तथा ऐश-आराम की सामग्रियों से परहेज करना आदि ब्रह्मचर्य आश्रम के सभी वर्णों के लिए कर्तव्य हैं। धर्मसूत्रों के अनुसार ब्राह्मण की मेखला मूँज की,क्षत्रिय की मेखला तांत की और वैश्य की मेखला ऊन की होनी चाहिए। ब्राह्मण का दण्ड पलाश वृक्ष की शाखा का, क्षत्रिय का दण्ड वटवृक्ष की शाखा का और वैश्य का दण्ड बेर या गूलर की शाखा का होना चाहिए।[12]उपनयन संस्कार के उपरान्त गुरु में नित्य समाहित चित्त होकर रहे तथा दण्ड, कौपीन, उपवीत, मृगचर्म और मेखला धारण करें (व्यास स्मृति 1/23)।

शंखस्मृति के अनुसार मधु, मांस, अजन, श्राद्ध,गीत, नृत्य,हिंसा, दूसरे की निंदा, तथा विशेष रूप से स्त्री सामीप्य का परित्याग करें। ब्रह्मचारी न स्नान से, न मौन से, न अग्नि की सेवा से स्वर्ग जाता है। केवल गुरु सेवा से ही उसे स्वर्ग मिल सकता है।(शंख स्मृति 5/10)। मनुस्मृति के अनुसार जो ब्रह्मचारी शरीर की समाप्ति तक गुरु की सेवा करता है, वह ब्रह्म के शाश्वत स्थान को प्राप्त करता है। जो व्यक्ति विचलित न होकर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह उत्तम स्थान को पाता है और इस संसार में फिर नहीं आता।मनु की यह भी धारणा थी कि आपातकाल में अब्राह्मण से भी अध्ययन करें तथा अध्ययन काल तक उस अब्राह्मण गुरु का अनुगमन तथा शुश्रूषा करें(मनुस्मृति 2/249)।

2. गृहस्थ आश्रम और उसके कर्तव्य- 25 वर्ष से 50 वर्षतक की जीवन अवस्था गृहस्थ आश्रम के अन्तर्गत आती है। इस अवस्था में विवाहादि संस्कार होते हैं तथा पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्वों का निर्वहन किया जाता है। सभी आश्रमों में गृहस्थ आश्रम को सर्वाधिक महत्व प्राप्त है, क्योंकि अन्य सभी आश्रम किसी न किसी रूप में गृहस्थ आश्रम पर ही आधारित है। मनुस्मृति में कहा गया है कि जिस प्रकार सभी नद और नदियां समुद्र में आश्रय पाती हैं, उसी

प्रकार सभी आश्रम गृहस्थ आश्रम पर निर्भर करते हैं।[15]वशिष्ठस्मृति भी गृहस्थ आश्रम को सभी आश्रमों से श्रेष्ठ बताती है। इसकी महत्ता को प्रतिपादित करते हुए वशिष्ठस्मृति कहती है कि गृहस्थ ही यज्ञ करता है, गृहस्थ ही तप करता है, प्रतिदिन गृहस्थ आश्रम का आश्रय लेकर देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जीवित रहते हैं। मनुस्मृति के अनुसार जो गृहस्थ व्यक्ति देवताओं, अतिथियों, माता-पिता आदि वृद्धजनों, पितरों और स्वयं को अन्नादि से संतुष्ट नहीं करता, वह श्वास लेकर भी जीवित नहीं रहता अर्थात् मृतक समान है।

देवता अतिथिभृत्यनां पितामात्मनश्च य:।

न निर्वपति पंचानमुच्छवसन्न स जीविता।। (मनुस्मृति 3/72)

गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति समुचित ढंग से पारिवारिक जीवन बिताते हुए पंच यज्ञ का सम्पादन करें। साथ ही ऋण से मुक्ति हेतु प्रयास करें, ऐसा बताया गया है। पंचयज्ञ निम्न है-

I.देवयज्ञ- देवताओं की प्रसन्नता हेतु देवताओं की पूजा।

II.ऋषियज्ञ- इस यज्ञ के अन्तर्गत वेदों, उपनिषदों आदि ग्रन्थों का अध्ययन एवं गुरु, आचार्य आदि की सेवा करना होता है।

III.पितृयज्ञ- पितरों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए पितरों का तर्पण करना।

IV.अतिथियज्ञ- 'अतिथि देवो भव' के भाव से अतिथियों का स्वागत और सत्कार करना।

V.भूतयज्ञ- पशु-पक्षियों की सेवा करना।

गृहस्थों के लिए तीन प्रकार के ऋणों से मुक्ति का निर्देश है—

I.पितृऋण- प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है कि वह संतान की उत्पत्ति करें, जिससे मानव सृष्टि चलती रहे और पितरों को तर्पण मिलता रहे।

II. ऋषिऋण- इसका अर्थ है गुरुजनों के प्रति कर्तव्य का पालन करना। इस ऋण से तभी छुटकारा मिल सकता है, जब मनुष्य गुरुओं की शिक्षाओं को आगे की पीढ़ी को सिखाये और आगे की पीढ़ी तक ले जाए।

III.देवऋण- देव ऋण से मुक्ति देवताओं को यज्ञ में हविष देने से होती है, जिससे वह प्रसन्न हो आशीर्वाद देते हैं।

दक्षस्मृति के अनुसार गृहस्थों को अष्टादश विकर्मों- असत्य, परस्त्री गमन, अखाद्य भोजन, अगम्या-गमन, अपेय का पान, चोरी, हिंसा, श्रुति विरुद्ध कर्म का आचरण, चुगली, कपट, काम, क्रोध, अप्रियता, द्वेष, दम्भ,परद्रोह आदि का परित्याग करना चाहिए। गृहस्थों के लिए नौ गोप्य वस्तुएं हैं- अवस्था, धन, गृह का छिद्र, मंत्र, मैथुन, औषध,तप, दान और अपमान।[16]गृहस्थ के लिए नौ वस्तुएं प्रकाश्य हैं-कर्मों का निर्णय, कर्ज का चुकाना, दान, अध्ययन, विक्रय, कन्यादान, वृषोत्सर्ग (श्राद्ध के उपरान्त साँढ़ छोड़ना), एकांत में किया गया पाप तथाप्रशंसा।

मत्स्यपुराण के अनुसार गृहस्थ को चाहिए कि धर्म से उपार्जित किए हुए धन को प्राप्त करके उस धार्मिक धन से यज्ञ करें तथा हमेशा ही अतिथि को भोजन कराएं।मार्कण्डेयपुराण के मत में गृहस्थ बनकर मनुष्य सम्पूर्ण जगत का पोषण करता है, इसीलिए वह अभिलषित लोकों को प्राप्त करता है। पितर, मुनि, देवता, भूत, मनुष्य, कृषि, कीट, पतंग, पशु, पक्षी और असुर--सभी जीव गृहस्थ से ही जीवित रहते हैं तथा तृप्ति प्राप्त करते हैं।[18]ब्रह्मवैवर्त पुराण में ऐसा उल्लेख है कि यद्यपि चारों आश्रमों में गृहस्थ आश्रम पुण्यशाली है और यह स्त्री, पुत्र, पौत्र आदि मूर्तियों से युक्त घर जन्म-जन्मान्तरीण तपस्या का फल है (1/23/8)।

कामन्दकीय नीतिसार के अनुसार अग्निहोत्र करना, अपनी-अपनी विहित वृत्ति द्वारा जीविका चलाना और स्वस्थ पति के साथ पर्वों को छोड़कर रतिक्रिया करना, देव, पितर, अतिथि की पूजा और दीन दु:खियों के प्रति सहानुभूति, श्रुति, स्मृति के अर्थ को जानकर उनके अनुसार चलना ही गृहस्थों के धर्म हैं।

3. वानप्रस्थ आश्रम और उसके कर्तव्य- जीवन की 50 वर्ष से लेकर 75 वर्ष तक की अवस्था वानप्रस्थ आश्रम के नाम से जानी जाती है। इस अवस्था में सांसारिक जीवन का त्याग कर पारलौकिक जीवन के लिए चिन्तन करना, वन में एकांतवास करना और इसके अलावा पंचमहायज्ञों को भी करना पड़ता था। इस अवस्था के प्रमुख कर्तव्य हैं- अनवरत स्वाध्याय, तपस्या, समता, मुदिता, दानशीलता, अपरिग्रह, प्रेम और सभी प्राणियों के प्रति दया का भाव रखना। विष्णुपुराण में कहा गया है कि वानप्रस्थी केवल अन्न का परित्याग करने से स्वर्ग (सिद्धि) को प्राप्त करता है। शंखस्मृति में उल्लेख है कि परमोत्तम योग के द्वारा ही यति सिद्धि प्राप्त करता है(5/11)। हानि होने पर दुखी न हो तथा जो कुछ प्राप्त हो, उसी से जीवन निर्वाह करे, स्वादिष्ट अन्नों के रसास्वादन में ना लगे तथा किसी के घर में भोजन न करे, वस्त्र से छानकर जल पिये, सत्य से पवित्र वचन का प्रयोग करे तथा मन से पवित्र आचरण करे(2/122,7/3/6)। मत्स्यपुराण के अनुसार वानप्रस्थी अपने ही बल पर जीवन निर्वाह करने वाला हो, पाप से दूर रहता हो, दूसरे लोगों की भलाई करने वाला हो तथा जो अपने शत्रु को भी कष्ट प्रदान न करता हो, वन में रहकर नियमित सात्विक आहार करने वाला हो। इस प्रकार का ही वानप्रस्थी मुनि अपनी प्रधान सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।

कामन्दकीय नीतिसार के अनुसार जटा धारण करना, अग्निहोत्र करना, भूमि पर सोना, मृगछाल पहनना, निर्जन वन में रहना, दूध, फल, मूल और निवार (वन में उपजा अन्न) खाना, दान न लेना, तीन बार स्नान करना, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना, देवताओं और अतिथियों की पूजा और सेवा करना--ये वानप्रस्थियों के धर्म है।[21]महाभारत में वानप्रस्थी के धर्म-सज्जनता, क्षमा, दम, शौच, वैराग्य, अहिंसा और सत्य बोलना बतलाया गया है।

4. संन्यास आश्रम और उसके कर्तव्य- यह आश्रमजीवन के 75 वें वर्ष से लेकर मृत्युपर्यन्त तक चलती रहती है। यह आश्रम केवल ब्राह्मणों के लिए है, जबकि उपर्युक्त तीनों आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ क्षत्रिय और वैश्य के लिए भी पालनयोग्य है। यह आश्रम पूर्णत: त्याग या निवृत्ति का है। सांसारिक वस्तुओं की कामना का त्याग कर निरन्तर ईश्वर के चिन्तन में लगे रहना होता है। समस्त सुख तथा आनन्द का परित्याग कर पुत्र और ऐश्वर्य सुख का भी परित्याग करें। मनुस्मृति के अनुसार- "आत्मा में अग्नि का समारोपण करके तथा समस्त भूतों को अभय दक्षिणा देकर ब्राह्मण गृह से संन्यास लेता हुआ चतुर्थ आश्रम (संन्यास) में प्रवेश करे। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अगुल्कत (एकत्र न करना), सर्वभूतों पर दया आदि संन्यासी के नित्य प्रति के व्यवहार हैं। वह स्त्रियों के साथ सम्भाषण, उनका आलिंगन, प्रेक्षण, नृत्य, गान,सभा, सेवा आदि का परित्याग करें।

महाभारत के शांतिपर्व में संन्यासी के लिए कहा गया है- "सभी परिग्रहों को छोड़कर और आत्मा में ही अग्नि का आरोपण करके, आत्मयाजी (आत्मा में यज्ञ करने वाला), आत्मा से ही प्रेम करने वाला, आत्मा के साथ ही खेल करने वाला और आत्मा के ही सम्बन्ध में विचार करने वाला हो। जो द्विज, परिव्राजक सब प्राणियों को अभयदान देता है, वह प्रकाश वाले लोकों को जाता है और वहां पर अनन्तता का अनुभव करता है। कामन्दकीय नीतिसार के अनुसार

संन्यासी के निम्नलिखित धर्म (कर्तव्य) हैं- "सब आरम्भों (धर्म, अर्थऔर काम की प्राप्ति के लिए नए कामों के आरम्भों) का त्याग, भिक्षा द्वारा भोजन, वृक्षों के नीचे रहना, किसी से कोई वस्तु ना लेना, किसी से द्रोह न करना, सब प्राणियों को समान समझना, प्रिय और अप्रिय दोनों से असंग (अनासक्त), सुख-दु:ख में हर्ष, शोक आदि विकारों से रहित, अंदर-बाहर का शौच (पवित्रता), वाणी पर नियंत्रण, ब्रह्मचर्य, सब इंद्रियों के विषयों की ओर वृत्ति खींच कर धारणा और ध्यान का अभ्यास, भावों की शुद्धि-ये सब संन्यासियों के धर्म है।[24]संन्यासी और गृहस्थ की तुलना स्वामी विवेकानंद ने इस प्रकार की है-

मरुसर्षपभर्यद् वत्सूर्यखद्योतयोरिव।

सरित्सागरयोर्यद् वत् तथाभिक्षगृहस्थयो:।।

विशालतम पर्वत और राई में, सूर्य और जुगनू में, सागर और सरिता में जितना अन्तर है, उतना ही विशाल अन्तर संन्यासी और गृहस्थ में होता है।

4.3.2 धर्मसूत्रों में कर्तव्य की अवधारणा—

धर्मशास्त्र के अन्तर्गत धर्मसूत्रों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। धर्मसूत्रों में गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन, गृह्यसूत्र आदि महत्वपूर्ण धर्मसूत्र है। इनमें गौतम धर्मसूत्र सर्वाधिक प्राचीन है। वर्णाश्रम धर्म, राजधर्म, स्त्रीधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, प्रायश्चित धर्म,आपद्धर्म तथा दायभाग इसके वर्ण्य विषय है। इन सूत्रों में श्रेणीपुत्र तथा गुणधर्म का उल्लेख नहीं है तथापि दस्तकार, व्यापारी और अन्य वर्गों के कर्तव्यों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त इनमें सत्य, अहिंसा तथा श्रद्धा आदि नैतिक सद्गुणों के पालन का भी आदेश मिलता है। वस्तुतः इन धर्मसूत्रों में हम वर्णाश्रम धर्म का क्रमबद्ध विवेचन पाते हैं। इनमें धर्म की भावना व्यापक रूप से पाई जाती है। जिसका सम्बन्ध मानव के विस्तृत कर्तव्यों से है।

अब आगे विभिन्न धर्मसूत्रों में कर्तव्य की अवधारणा का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है, जो निम्नलिखित है-

1. **गृह्यसूत्र में कर्तव्य की अवधारणा-** यह सूत्र मुख्यरूप से व्यक्ति के व्यक्तिगत तथा पारिवारिक जीवन में पालनयोग्य कर्तव्यों का वर्णन करता है। इनमें वर्णित मुख्य कर्तव्य निम्न है-
2.

I.सोलह संस्कारों (गर्भाधान, पुंसवन, नामकरण, उपनयन, विवाह आदि) के द्वारा व्यक्ति के धार्मिक जीवन को पवित्र और अनुशासित करना।

II.अग्निहोत्र, हवन आदि करना तथा देवताओं और पितरों के लिए तर्पण एवं श्राद्ध करना।

III.पंचमहायज्ञ का पालन करना।

IV.अतिथि सत्कार और दान करना, घर-परिवार तथा समाज के बीच सामंजस्य बनाए रखना।

V.गुरु और शास्त्रों के प्रति सम्मान का भाव, सत्य, अहिंसा आदि का पालन।

3. **श्रौतसूत्र में कर्तव्य की अवधारणा-** श्रौतसूत्र कामुख्य वर्ण्य विषय यज्ञ और वैदिक अनुष्ठान या कर्मकाण्ड है। इन सूत्रों में व्यक्तिगत, सामाजिक और सार्वजनिक रूप से किए जाने वाले यज्ञों की विधियों का वर्णन है।

I.इन यज्ञों में प्रमुख रूप से अश्वमेध यज्ञ, राजसूययज्ञ, अग्निहोत्रयज्ञ, सोमयज्ञ प्रमुख है।

II. ऋत्विजों (यज्ञ और पुरोहित) के कर्तव्य और इनमें उनकी भूमिका का वर्णन।

III.यज्ञ में प्रयुक्त होने वाली सामग्रियों का वर्णन तथा उनका उपयोग।

IV.इस धर्मसूत्र में अग्नि, जल, वायु, सूर्य आदि को प्राकृतिक शक्तियों के रूप में स्वीकार किया गया है तथा इनकी पूजा तथा यज्ञ की विधियों का वर्णन है। संक्षेप में कहें तो श्रौतसूत्रों में यज्ञ और अनुष्ठानों के माध्यम से देवताओं को प्रसन्न किया जाता था। आत्मोन्नति तथा समाज के उन्नयन हेतु कर्तव्यों का विधान है।

4. **आपस्तम्बसूत्र में कर्तव्य की अवधारणा-** इसमेंवैयक्तिक सुधार हेतु कर्तव्य,सामाजिक प्रगति हेतु कर्तव्य तथा न्याय का वर्णन है।

I.इस सूत्र में विवाह, संतान उत्पत्ति, पत्नी और पुत्र के पालन-पोषण हेतु कर्तव्यों का वर्णन है।

II.सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, इन्द्रिय निग्रह पर बल दिया गया है।

III.व्रत और अनुष्ठान हेतु तप, दान, हवन और यज्ञ का निर्देश है।

IV.व्यक्तिगत जीवन में अनुशासन और समाज में न्याय सुरक्षित रहे, इसके लिए कर्तव्यों का वर्णन है।

4. गौतमसूत्र में कर्तव्य की अवधारणा-धर्मसूत्रों मेंगौतम सूत्र सबसे प्राचीन माना जाता है। इसमें धर्म, समाज तथा नैतिक नियमों के अनुकूल आचरण या कर्तव्य के पालन का उल्लेख है। जिससे सामाजिक समरसता तथा धार्मिक अनुशासन बनाये रखा जा सके।

I.इस सूत्र में चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्तव्य का उल्लेख है।

II.चार आश्रमों के अनुरूप कर्तव्यों का वर्णन गौतमसूत्र में मिलता है।

III.गौतमसूत्र में नैतिक आचरण पर बहुत बल दिया गया है--चोरी, हत्या, दुराचरण, मद्यपान सहित अन्य अनैतिक कार्यों से बचने की बात कही गई है।

V.सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह के पालन पर जोर दिया गया है।

VI.समाज को अपराध तथा अन्याय मुक्त बनाने के लिए दण्ड के विधान का उल्लेख है।

VII.आत्ममुक्ति या आत्मोन्नति के लिए व्रत, यज्ञ, अनुष्ठान, तप, स्नान आदि आवश्यक बताया गया है।

VIII. महिलाओं के कर्तव्य के सम्बन्ध में गौतमसूत्र में कहा गया है कि महिलाएं पतिव्रता हो, पति और संतान की सेवा और देखभाल करें। स्त्रियों को घर की व्यवस्था, भोजन का प्रबंधन, छोटे बच्चों के साथ-साथ बड़े-बुजुर्गों के देखभाल के दायित्व का निर्वहन करना था। परिवार के रिश्तों की देखभाल करना तथा समरसता बनाए रखना भी दायित्व था। सामाजिक तथा धार्मिक रीति रीवाजों, परम्पराओं, मर्यादाओं का पालन करना होता था। स्त्रियों को सामाजिक शील, आचरण तथा संयम का आधार कहा गया है।

IX. स्त्रियों को पिता, पति और पुत्र के संरक्षण में रहते हुए अपने मायके में पिता की, ससुराल में पति की और वृद्धावस्था में पुत्र की आज्ञा का पालन करना कर्तव्य माना गया है।

5. बौधायनसूत्र में कर्तव्य की अवधारणा- इस सूत्र मेंअन्य सूत्रों की तरह ही मुख्यत: सामाजिक आचरण और धार्मिक कानून के द्वारा व्यक्ति और समाज के संतुलन और उन्नयन पर बल दिया गया है। इस सूत्र में निम्न कर्तव्यों का वर्णन है-

I.इस सूत्र में सोलह संस्कारों के निर्वहन की बात कही गयी है।

II. समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारियों का निर्वहन।

III. पितृऋण, देवऋण, ऋषिऋण को चुकाना कर्तव्य निर्धारित है।

IV. व्यापार और सम्पति सम्बन्धी नियम के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य बताया गया है कि धर्म के अनुरूप व्यापार और संपत्ति का अर्जन करना चाहिए। अनुचित साधनों से धन कमाना वर्जित माना गया है तथा शराब,मांस आदि धर्म विरोधी वस्तुओं के व्यापार का निषेध किया गया है। व्यापार द्वारा अर्जित धन का व्यय सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में करने का निर्देश है।

संक्षेप में कहा जाय तो गृह्यसूत्र दैनिक जीवन के आचरण, कर्तव्य तथा गृहस्थ धर्म पर केन्द्रित है, जबकि श्रौतसूत्र यज्ञ, अनुष्ठान तथा कर्मकाण्ड पर बल देते हैं। आपस्तम्ब सूत्र, गौतम सूत्र और बौधायन सूत्र के वर्ण्य विषय सामाजिक संतुलन, नैतिक आचरण, धार्मिक अनुशासन आदि है।

आपद्धर्म- धर्मशास्त्रों मेंआपद्धर्म का उल्लेख है। आपद का अर्थ है--संकट या आपदा। धर्म का अर्थ है--आचरण या कर्तव्य। यह व्यक्ति को संकट या आपात स्थिति में धर्म और कर्तव्य के पालन में शिथिलता या छूट देने की अनुशंसा करता है। यह स्थिति तब आती है, जब सामान्य ढंग से निर्धारित कर्तव्यों का पालन असम्भव हो जाता है। आपद्धर्म का अर्थ-- उस कर्तव्यों तथा आचरण से है, जिनका आपातकालीन स्थिति में पालन किया जाता है। भले ही सामान्य स्थितियों में धर्मशास्त्र द्वारा अनुमोदित या स्वीकार्य न हो। आपद्धर्म का उद्देश्य यह है कि विषम परिस्थितियों में भी व्यक्ति धर्म का पालन करते हुए अपने अस्तित्व तथा समाज का संरक्षण कर सके। आपद्धर्म का विस्तृत वर्णन धर्मशास्त्रों में मिलता है।

मनुस्मृति के अनुसार अपनी या अपने परिवार की रक्षा हेतु अन्य वर्णों के कर्तव्यों को भी अपनाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में वर्णाश्रम धर्म का पालन आवश्यक नहीं है। पराशरस्मृति के अनुसार आपातकाल में धर्म का उल्लंघन किया जा सकता है। इसका उद्देश्य संकट का समाधान होना चाहिए। आपदा की समाप्ति के बाद पुनः अपने सामान्य धर्म पर लौट आना चाहिए। यदि किसी नियम का उल्लंघन हुआ है तो प्रायश्चित किया जाना चाहिए। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है कि ब्राह्मण के पास जीविका का कोई अन्य साधन नहीं है तो क्षत्रिय या वैश्य के कर्तव्य को अपनाकर जीवन चलाया जा सकता है। आपद्धर्म को कई उदाहरणों से समझा जा सकता है—

I.यदि कोई व्यक्ति भूख से बेहाल है और मृत्यु सन्निकट है, तो उसे निषिद्ध भोजन (जैसे मांस, मछलीया पराया अन्न) खाने की अनुमति है।

II.यदि जीविका का कोई साधन नहीं है, तो कोई भी कार्य जैसे युद्ध या व्यापार किया जा सकता है।

III.यदि सत्य बोलने से राष्ट्र की सुरक्षा को खतरा हो सकता है, तो हमें झूठ बोलने की अनुमति है। विशेषकर युद्ध या गोपनीय दस्तावेजों के सन्दर्भ में।

IV.आपातकाल में पवित्रता बनाए रखने वाले नियमों जैसे जाति, भोजन, विवाह सम्बन्धी नियमों में लचीलापन अपनाने की अनुमति है-जैसे विश्वामित्र ने आपातकाल में निषिद्ध मांस खाया था।

वस्तुतः आपद्धर्म की अवधारणा से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि धर्म या कर्तव्य पालन अटल और स्थिर नहीं है, बल्कि देश, काल और परिस्थितियों के अनुसारइसका समायोजन किया जा सकता है। वास्तव में इसका उद्देश्य संकट का समाधान करना, जीवन की रक्षा करना तथा धर्म की मूल भावना को बनाएं रखना है।

प्रायश्चित कर्म- मनुष्य मेंविवेकशीलता के साथ-साथ इच्छाएं, भावनाएं और संवेग आदि भी है। कभी-कभी वह इच्छाओं और भावनाओं के वशीभूत होकर व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक मानदण्ड के विरुद्ध भी कर्म कर देता है। इस कर्म से उत्पन्न दोषों को दूर करने के लिए धर्मशास्त्रों में प्रायश्चित कर्म का भी विधान किया गया है। जैसे विभिन्न पर्वों पर नदियों में स्नान, ध्यान, मंत्र, जप, पूजा, यज्ञ, दान, हवन, व्रत, उपवास, तीर्थयात्रा, श्राद्ध, तर्पण, क्षमा याचना आदि कर्मों द्वारा बुरे कर्मों के दोष से मुक्त हुआ जा सकता है।

राजधर्म- राजधर्म से तात्पर्यहै-'वह धर्म या कर्तव्य जिसका पालन राजा या शासक को करना चाहिए। इसमें राजा की व्यक्तिगत नैतिकता, प्रशासनिक कर्तव्य और प्रजा के प्रति उत्तरदायित्व का बोध शामिल होता है। राजा के निम्न कर्तव्य बताये गए हैं-

1.राज्य और राज्य की प्रजा की रक्षा राजा का सर्वोपरि कर्तव्य है।

2.धर्म और न्याय का पालन और प्रसार।

3.अपराधियों को दण्डित करना तथा निर्दोषों को संरक्षण देना राजा का कर्तव्य माना गया है।

4.राजा राज्य का प्रशासन राग-द्वेष, घृणा आदि से रहित होकर प्रजा हित में करें।

5.राज्य की सम्पति, कर व्यवस्था और संसाधनों का सही तरीके से प्रबंधन हो।

6.व्यापार, कृषि, उद्योग को प्रोत्साहन मिले।

7.राजा प्रजा के कल्याण हेतु सड़के, जलस्रोत, शिक्षा, स्वास्थ्य व्यवस्था का प्रबंध करें।महाभारत के अनुसारराजा अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं, राग-द्वेष आदि से ऊपर उठकर धर्म के अनुसार शासन करें।मनुस्मृति के अनुसार राजा को प्रजा के प्रति पिता जैसा व्यवहार करना चाहिए। वह धर्मपालक हो तथा प्रजा के लिए आदर्श हो।

4.4 सारांश

धर्मशास्त्रों मेंवर्णित कर्तव्यों का उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तिगत, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक जीवन का निर्देशन, नियंत्रण तथा मार्गदर्शन कर अन्तत: व्यक्ति और समाज का उन्नयन करना है, जिससे व्यक्ति सांसारिक प्रगति और उपलब्धियों के साथ-साथ आत्मोन्नति या मोक्ष को प्राप्त कर सके, जो कि मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है। इसके लिए ये धर्मशास्त्र कर्तव्य के माध्यम से एक विस्तृत रोडमैप प्रस्तुत करते हैं। इस मार्ग पर चलकर मनुष्य स्वार्थ और परार्थ, लौकिक और पारलौकिक, भोग और मोक्ष में सामंजस्य तथा संतुलन स्थापित कर बेहतर और उत्कृष्ट जीवन जी सकता है।

4.5 पारिभाषिक शब्दावली

कर्तव्य- वे कर्म जिसमेंअनिवार्यता या बाध्यतानिहित होती है, जिसकाकिया जाना अनिवार्य है।

स्वधर्म- अपने-अपने वर्ण केअनुसार निर्धारित कर्तव्य।

आपद्धर्म- आपात या संकटकाल में किए जाने वालेकर्तव्य।

प्रायश्चित कर्म- प्राय: औरचित दो शब्दों सेमिलकर बना है।प्राय: का अर्थ-पूरीतरह यासम्पूर्ण रूपसे और चित काअर्थ-शुद्ध करना यासुधारना है। अपने दोषोंया पापों को पूरी तरहसे शुद्ध करना।

यजन- यज्ञ करना।

याजन- दूसरो से लिए यज्ञ कराना या यज्ञ करवाना।

चातुर्वर्ण्य सिद्धांत- जोसमाज को चार वर्णोंब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रमें विभाजित करता

हैऔर प्रत्येक वर्ण के लिएविशेष कर्तव्यों का निर्धारणकरता है।

दायभाग-उत्तराधिकार यासम्पत्ति विभाजन।

तर्पण-'तृप' शब्द से बना है।जिसका अर्थ है-तृप्तकरना या संतोष प्रदानकरना। यह एक धार्मिकअनुष्ठान है, जिसमें पवित्रजल, तिल या अन्य सामग्रीलेकर अर्पित करकेदेवताओं, पितरों, ऋषियोंको श्रद्धांजलि दी जाती हैया आभार प्रकट कियाजाता है।

कुलधर्म- कुल या वंश केप्रति व्यक्ति केकर्तव्य।

जातिधर्म- जाति (समुदाय)के प्रति व्यक्ति केकर्तव्य।

अजन- अप्रिय व्यक्ति, अयोग्य व्यक्ति, तुच्छव्यक्ति।

श्रेणीपुत्र- विशिष्ट श्रेणी(जैसे व्यापारी, कारीगरया अन्य पेशों से जुड़ेलोगों की गिल्ड) केसदस्य।

1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. कर्तव्य एवं कर्म के सम्बन्ध में कौन सा कथन सत्य है?

(A)कर्तव्य में अनिवार्यता का तत्व विद्यमान रहता है।

(B)कर्तव्य और कर्म में अंतर है।

(C)कर्तव्य और कर्म एक दूसरे के पूरक है।

(D)उपर्युक्त सभी

उत्तर-D

2. चार वर्ण है-

(A)ब्राह्मण

(B)क्षत्रिय

(C)वैश्य

(D)शूद्र

(E)उपर्युक्त सभी

उत्तर-E

3. चार आश्रम है-

(A)ब्रह्मचर्य

(B)गृहस्थ

(C)वानप्रस्थ

(D)संन्यास

(E)उपर्युक्त सभी

उत्तर-E

4. वेदादि पढ़ना, अध्ययन, यज्ञ करना, दान लेना और दान देना कर्तव्य है-

(A)ब्राह्मण

(B)क्षत्रिय

(C)वैश्य

(D)शूद्र

उत्तर-A

5. प्रजा की रक्षा करना कर्तव्य है-

(A)ब्राह्मण का

(B)वैश्य का

(C)क्षत्रिय का

(D)शूद्र का

उत्तर-C

6. कृषि, पशुपालन, व्यापार कर्तव्य है--

(A)क्षत्रिय का

(B)ब्राह्मण का

(C)शूद्र का

(D)वैश्य का

उत्तर-D

7. शूद्र के कर्तव्य है-

(A)अध्ययन

(B)सेवा

(C)युद्ध

(D)व्यापार

उत्तर-B

8. ऋण है-

(A) केवल पितृऋण

(B) केवल ऋषिऋण

(C) केवल देवऋण

(D) उपर्युक्त सभी

उत्तर-D

9. 'स्वधर्म' की अवधारणा विशेष रूप से किस ग्रन्थ में वर्णित है-

(A)गीता

(B)उपनिषद

(C)वेद

(D)स्मृति

उत्तर-A

10.गीता के अनुसार वर्ण विभाजन का आधार है-

(A)गुण

(B)कर्म

(C)जाति

(D)उपर्युक्त सभी

(E) A और B

उत्तर-E

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

- **तैत्तरीय उपनिषद-**गीताप्रेस, गोरखपुर।
- **गीता- गीताप्रेस, गोरखपुर।**
- **महाभारत-**गीताप्रेस, गोरखपुर।
- **मनुस्मृति-** चौखम्बासुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
- **याज्ञवल्क्यस्मृति-** चौखम्बासंस्कृत सीरीज, वाराणसी।
- **पराशरस्मृति-** चौखम्बाविद्याभवन, वाराणसी।
- **शंखस्मृति-** चौखम्बासंस्कृत सीरीज, वाराणसी।
- **कात्यायनस्मृति-** चौखम्बासंस्कृत सीरीज, वाराणसी।
- **नारदस्मृति-** चौखम्बासंस्कृत सीरीज, वाराणसी।
- **अत्रिस्मृति-** चौखम्बासंस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी।
- **दक्षस्मृति-** चौखम्बा संस्कृतसीरीज, वाराणसी।
- **विष्णुस्मृति-** चौखम्बासंस्कृत सीरीज, वाराणसी।
- **हारीतस्मृति-** चौखम्बाविद्याभवन, वाराणसी।
- **श्रौतसूत्र-** चौखम्बा संस्कृतसीरीज ऑफिस, बनारस सिटी, 1933.
- **बौधायनसूत्र-** चौखम्बाप्रकाशन, वाराणसी।
- **आपस्तम्बसूत्र-** चौखम्बासंस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी।
- **गौतमसूत्र-** चौखम्बाविद्या भवन, चौक, वाराणसी।
- **गुह्यसूत्र-** काशी संस्कृतग्रंथमाला के अन्तर्गत तांत्रिक और वैदिक ग्रन्थों के सन्दर्भ में यह प्रकाशित, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
- **कामन्दकीय नीतिसार**-चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
- **महाभारत, विष्णुपुराण, मत्स्यपुराण, मार्कण्डेयपुराण**, **ब्रह्मवैवर्तपुराण**-गीताप्रेस, गोरखपुर।
- **स्वामी विवेकानंद**-विविध प्रसंग, रामकृष्णमठ, नागपुर, 2018.
- **आत्रेय, डॉ.भीखन लाल**-भारतीय नीतिशास्त्र काइतिहास, हिन्दी समिति,सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, पृ.120.

1.7.1 लेख में उद्धृत किये गए कथनों के सन्दर्भ-

1. तैत्तिरीय उपनिषद-शिक्षा वल्ली, 1/11/1
2. गीता- 3/35
3. गीता-18/47
4. गीता-4/13
5. गीता-18/42, 43, 44
6. धृति: क्षमा दमो अस्तेय शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकधर्म लक्षणम्।।(मनुस्मृति 6/92)
7. डॉ.भीखन लाल आत्रेय-- भारतीय नीति शास्त्र का इतिहास, पृ.120.

8. वही, पृ.119.
9. वही, पृ.338.
10. वही, पृ.329.
11. वही, पृ.339.
12. वही, पृ.84.
13. वही, पृ.120.
14. वही पृ.121
15. मनुस्मृति 6/17.
16. दक्षस्मृति 3/14.
17. दक्षस्मृति 3/15. तथाडॉ.भीखनलालआत्रेय, भारतीय नीतिशास्त्रका इतिहास, पृ. 123.
18. वही, पृ. 247
19. कामन्दकीय नीतिसार-4/26तथाडॉ.भीखनलाल आत्रेय, भारतीय नीतिशास्त्र काइतिहास, पृ.339.
20. वही, पृ.252.
21. वही, पृ.340.
22. वही, पृ.125.
23. महाभारत का शान्तिपर्व, 12/10/582.तथा डॉ.भीखनलालआत्रेय, पृ.181.
24. वही, पृ.340
25. स्वामी विवेकानंद—विविधप्रसंग, पृ.40.

1.8 निबंधात्मक प्रश्न

1.धर्मशास्त्र से आप क्या समझते हैं? इसमें वर्णित कर्तव्यों का विस्तार से वर्णन कीजिये।
2.मनुस्मृति के अनुसार वर्णाश्रम धर्म की विस्तृतकी विवेचना कीजिये।
3.प्रमुख स्मृतियों के नाम का उल्लेख करते हुए उनके वर्ण्य विषय का संक्षेप में वर्णन कीजिये।
4.आपद्धर्म से आप क्या समझते हैं? व्याख्या कीजिए।
5.वर्ण और आश्रम व्यवस्था की वर्तमान में क्या प्रासंगिकता है? विवेचना कीजिए।
6.वर्तमान समय में चातुर्वर्ण्य का सिद्धांत सामाजिक संतुलन तथा श्रम विभाजन की दृष्टि कितना उपयोगी है? स्पष्ट कीजिए।
7.वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था के बीच मूलभूत भेदों का वर्णन कीजिए।
8.धर्मसूत्रों के वर्ण्य विषय की विस्तृत विवेचना कीजिये।